ISSN: 3107-8869

श्रुतिप्रभा

Śrutiprabhā

A Peer-reviewed Biannual National Research Journal of Vedic Knowledge

Vol. 3, Issue 2 December 2025

सम्पादक
प्रो॰ रमेशकुमार पाण्डेय

श्रुतिप्रभा

Śrutiprabhā

Organizing Committee

Chief Patron

Shri Dinesh Chandra

Advisors

- Shri Kulbhushan Ahuja
- Shri Mahesh Bhagchandka
- Professor B.K. Kuthiyala

Chief Editor

Professor Ramesh Kumar Pandey

Executive Editor

Shri Venkat Koteshwar Rao

Research Fellows

- Shri Khokan Maity
- Dr Mantu Kumar Jana
- Dr Ritika
- Dr Shashikant Mishra
- Shri Shivam Sharma
- Shri Biswanath Mahata

Editorial Board

- Professor Devi Prasad Tripathi (Chairman), Dean, Faculty of Veda-Vedanga, Shri Lal Bahadur Shastri National Sanskrit University, New Delhi. *Email*: dpt@slbsrsv.ac.in
- Professor Ramanuj Upadhyaya (Member), Professor, Dept. of Veda, Shri Lal Bahadur Shastri National Sanskrit University, New Delhi. *Email*: ramanuj@slbsrsv.ac.in
- Professor Sadashiv Kumar Dwivedi (Member), Professor, Head of the Dept. of Sanskrit, Banaras Hindu University, Varanasi. *Email*: skdskt@bhu.ac.in
- Professor Madhukeshwar Bhatt (Member), Director of Schemes, Central Sanskrit University, New Delhi. *Email*: dr.madhumbhat@csu.co.in
- Professor Ranjit Behera (Member), Professor, Dept. of Sanskrit, University of Delhi, Delhi. *Email*: rbehera@sanskrit.du.ac.in

Board of Peer Reviewers

- Professor Ganesh Dutt Bhardwaj, Himachal Pradesh
- Professor Somdev Shatanshu, Jaipur
- Professor K.K. Geeta Kumari, Kaladi, Kerala
- Professor Shrikishor Mishra, Varanasi
- Professor Ram Murti Chaturvedi, Varanasi
- Professor Vijay Shankar Shukla, Varanasi
- Professor Gopal Sharma, Delhi
- Dr R.V.S.S. Avadhanulu, Hyderabad
- Professor Ravindra Muley, Pune
- Dr Arun Kumar Mishra, Delhi

ISSN: 3107-8869

श्रुतिप्रभा

Śrutiprabhā

A Peer-reviewed Biannual
National Research Journal of Vedic Knowledge

Vol. 3, Issue 2 December 2025

सम्पादक

प्रो० रमेशकुमार पाण्डेय

ASHOK SINGHAL VEDIC RESEARCH INSTITUTE
(Sponsored by Badri Bhagat Jhandewala Temple Society, New Delhi)
GURUGRAM-122011

Volume 3, Issue 2 (December 2025)
तृतीय वर्ष, द्वितीयांक (दिसम्बर 2025)

ISSN: 3107-8869

© Ashok Singhal Vedic Research Institute, Gurugram

प्रकाशितेषु शोधलेखेषु अभिव्यक्ताः अभिप्रायाः लेखकानामेव सन्ति।
प्रकाशित शोध लेखों में अभिव्यक्त अभिप्राय लेखकों के हैं।
The views expressed in the articles are of the authors.

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced or transmitted, except brief quotations, in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopying, recording, or any information storage or retrieval system, without prior written permission of the copyright holder.

सर्वाधिकार सुरक्षित। कॉपीराइट धारक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना, इस प्रकाशन के किसी भी भाग का पुनः प्रकाशन या प्रसारण (संक्षिप्त उद्धरणों को छोड़कर) किसी भी रूप में या किसी भी माध्यम से – जैसे कि इलेक्ट्रॉनिक, यान्त्रिक, फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग अथवा किसी भी तथ्यसंग्रहण या पुनरुत्पादन के रूप में नहीं किया जा सकता।

Published by:
Ashok Singhal Vedic Research Institute
Huda Market Road, Block-B, Sector 56
Gurugram - 122011, Haryana (Bharat)
Ph.: +91-9311847118
email:info@ashoksinghalvedicresearchinstitute.org.in
web: www.ashoksinghalvedicuniversity.org.in

Printed by:
Shailee Creations LLP, New Delhi
Phone: 98713 94811; e-mail: creations.shailee@gmail.com

अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान एवं 'श्रुतिप्रभा' शोध-पत्रिका

अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान, हरियाणा राज्य स्थित गुरुग्राम के सेक्टर 56 में अवस्थित बद्री भगत झण्डेवाला टेम्पल सोसाइटी द्वारा प्रायोजित अनुसन्धान केन्द्र है। यह संस्थान हिन्दू हृदय सम्राट्, राष्ट्रनिष्ठ सेवक स्वर्गीय श्री अशोक सिंहल जी के महान् स्वप्न की साकार अभिव्यक्ति है। उनका स्वप्न था कि भारत में एक ऐसा वैदिक विश्वविद्यालय स्थापित हो, जो वेदों के सार्वकालिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार कर सके। उनका विश्वास था कि वेद केवल देवताओं की स्तुतियों तक सीमित नहीं हैं, अपितु वे मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पक्षों के सर्वाङ्गीण विकास में समर्थ हैं। वेदों में विश्व-कल्याण की जो दिव्य ध्वनि सुनाई देती है, वह आज भी सर्वथा प्रासङ्गिक है। अतः उन्होंने वेद विश्वविद्यालय की स्थापना को राष्ट्र के कल्याण हेतु अनिवार्य मानते हुए इसके लिए प्रयास किया। उनके देहावसान के उपरान्त विश्व हिन्दू परिषद् के वर्तमान संरक्षक माननीय श्री दिनेश चन्द्र जी इस पावन सङ्कल्प को मूर्त रूप देने में सतत संलग्न हैं।

"अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान" इसी सङ्कल्प का प्रथम सोपान है। इसकी स्थापना युगाब्द 5124, विक्रम संवत् 2079 की ज्येष्ठ कृष्ण षष्ठी तिथि, दिनाङ्क 21 मई 2022, शनिवार के पावन दिवस पर की गई। इस शुभ अवसर पर संस्थान का उद्घाटन हरियाणा सरकार के माननीय शिक्षामन्त्री श्री कँवर पाल गुर्जर जी के पुण्य कर-कमलों द्वारा तथा विश्व हिन्दू परिषद् के वर्तमान संरक्षक माननीय दिनेश चन्द्र जी, श्री कुलभूषण आहूजा जी, श्री महेश भागचन्दका जी एवं श्री वेङ्कट कोटेश्वर जी की गौरवमयी उपस्थिति में सम्पन्न हुआ। अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान का मूल उद्देश्य समाजोपयोगी वैदिक ज्ञान की गवेषणा, विद्वत्संवाद-सङ्गोष्ठी एवं विचार-विमर्श के माध्यम से वेद की भावना को जन-जन तक पहुँचाना है। इसी योजना से प्रेरित होकर संस्थान की प्रबन्ध समिति ने वर्ष 2023 में *श्रुतिप्रभा* नामक षाण्मासिक शोध-पत्रिका के प्रकाशन का निर्णय किया।

इस पत्रिका में वेद-वेदाङ्ग विषयक लेख संस्कृत, हिन्दी, तथा अंग्रेज़ी भाषाओं में प्रकाशित होते हैं। इसका उद्देश्य समाज के विविध वर्गों तक प्रामाणिक वैदिक दृष्टिकोण को पहुँचाना है। यह शोध-पत्रिका वैदिक विचार के प्रचार-प्रसार का एक सशक्त माध्यम बनकर वैश्विक स्तर पर वैदिक जीवन-पद्धति को प्रतिष्ठित करने में सहायक होगी — यही अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान की दूरदृष्टि है।

यह शोध-पत्रिका वर्ष 2023 से निरन्तर प्रकाशित हो रही है। यह एक षाण्मासिक पत्रिका है, अर्थात् इसका प्रकाशन प्रति वर्ष दो बार किया जाता है। वर्तमान में इसका प्रकाशन मुद्रित संस्करण (प्रिण्ट संस्करण) के रूप में सम्पन्न हो रहा है। यह एक राष्ट्रीय शोध-पत्रिका है, जो वैदिक अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वानों एवं शोधकर्ताओं के लिए एक मानकीकृत मञ्च प्रदान करती है।

पुरोवाक्

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥[1]

अर्थात् धर्म का मूल प्रमाण सम्पूर्ण वेद है। वेदविद्या निपुण विद्वज्जनों द्वारा निर्मित स्मृतियाँ भी प्रमाण हैं और उनके शील अर्थात् व्यवहार भी प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त महात्माओं के आचरण भी प्रमाण हैं। जहाँ उपर्युक्त प्रमाण से कार्य नहीं होता, वहाँ शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति की आत्मतुष्टि को भी प्रमाण माना जाता है।

वेदों के अनुशीलन एवं वेदज्ञों द्वारा उपदिष्ट विधानों तथा महात्माओं के उत्तम आचरण के अतिरिक्त उत्तम संस्कार का विधान सम्भव नहीं है। श्रुति–स्मृति ही प्राचीन भारतीय सामाजिक संरचना के मूल आधार हैं, ऐसा कथन कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वैदिक ऋषियों की उदात्त भावना का संस्कार जब तक लोगों पर नहीं पड़ेगा तब तक विश्व का कल्याण नहीं होगा। वस्तुतः विश्वकल्याण का मार्ग वेदों में विद्यमान है। अतः वेद हमारी ज्ञान-परम्परा के मूल उत्स हैं। वैदिक ऋचाओं में सन्निहित वैदिक ज्ञान सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सर्वथा उपयोगी विषयों का वेद-वेदाङ्गों से चयन कर उन्हें सरल भाषा में जन-जन तक पहुँचाने का स्वप्न माननीय अशोक सिंहल जी ने देखा था, उसी स्वप्न को आधार बनाकर अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान की स्थापना की गई है।

वेदों की समस्त शिक्षाओं को जीवन में पूर्णरूप से धारण कर पाना आज के युग में सम्भव प्रतीत नहीं होता है, तथापि यदि कुछ अंश को भी मानव अपनी चिन्तन-प्रणाली में अपनाता है तो भी वह समाज को सही मार्ग पर ले जाने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार वेद-विहित जीवन-प्रणाली के माध्यम से समुन्नत समाज एवं उत्कृष्ट राष्ट्र का निर्माण करके सम्पूर्ण विश्व का कल्याण कर सकता है। जीवन के आध्यात्मिक पक्षों के निरूपण के साथ-साथ अनेक सामाजिक पक्षों का निरूपण वेदों में उपलब्ध है। आदर्श पारिवारिक व्यवस्था, मानव जीवन-चर्या, पितृ-धर्म, मातृ-धर्म, पति-धर्म, पत्नी-धर्म, पुत्र-धर्म, आचार्य-धर्म, शिष्य-धर्म, यति-धर्म आदि अनेक विषय हैं, जो आज की सभी सामाजिक समस्याओं का समाधान करके संस्कार-सम्पन्न समुन्नत राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। समुचित संस्कारों से सम्पन्न नागरिक अपने राष्ट्र की भूमि, भौतिक सम्पत्ति, जन समुदाय, संस्कृति, इतिहास, धार्मिक-सिद्धान्त, साहित्य, कला, जीवन-दर्शन इत्यादि के प्रति अपने मन में एक गौरवपूर्ण नैसर्गिक स्वाभिमान रखता है, जिसे राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भावना कहते हैं। यही वह मन्त्र है, जिसके वशीभूत होकर वह अपने राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना प्राण भी न्यौछावर कर देता है। देश के बहादुर सैनिक इसी भावना से ओतप्रोत होकर देश की सीमाओं की रक्षा में अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। देश की सेनाओं का मनोबल बढ़ाने के लिए लोग सेना के साहस और शौर्य की गाथाएँ सुनने और सुनाने में तत्पर हो जाते हैं। इस राष्ट्रीय भावना के कारण ही सम्पूर्ण राष्ट्र स्वाभिमान से भर जाता है। हमारी पृथ्वी, हमारी माता है और हम उसकी सन्तान हैं, यह वैदिक ऋचाओं का उद्घोष चरितार्थ होने लगता है।

---

[1] *मनुस्मृति* 2.6

अतः वेद में प्रतिपादित समाजोपयोगी विचारों को समाज के प्रत्येक सदस्य तक पहुँचाने और उन्हें वेद-विहित जीवन पद्धति द्वारा जीने की प्रेरणा प्रदान करने के पावन उद्देश्य से *श्रुतिप्रभा* नामक षाण्मासिक पत्रिका के नियमित प्रकाशन की योजना अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान द्वारा तैयार की गई है।

हमें प्रसन्नता है कि *श्रुतिप्रभा* के तृतीय खण्ड का द्वितीय अङ्क आपके समक्ष प्रस्तुत है। वर्तमान अङ्क में देश के प्रतिष्ठित लेखकों एवं विचारकों के अनेक विषयों पर शोध लेख एवं विचार संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित हैं, जो जिज्ञासुओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझे इस बात की हार्दिक प्रसन्नता है कि अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान से जुड़े सभी शोध-सहायक, अधिकारी, कर्मचारी एवं सहयोग प्रदान करने वाले विद्वज्जन अतीव सक्रियता एवं निष्ठा से कार्य सम्पन्न करते हुए *श्रुतिप्रभा* के प्रकाशन में अपना बहुमूल्य योगदान दे रहे हैं। इस पत्रिका के मुद्रक, शैली क्रिएशंस के अधिकारी श्री सुशील मित्तल-जी ने बड़े मनोयोग से गुणवत्तापूर्ण मुद्रण कार्य सम्पन्न कराया है। इस पत्रिका के विभिन्न दायित्वों को तत्परता से सम्पन्न करने वाले सभी महानुभावों को मैं हृदय से साधुवाद देता हूँ।

मा॰ दिनेश चन्द्र
संरक्षक एवं अध्यक्ष, प्रबन्ध समिति

विनम्र-निवेदन

॥ श्रीः ॥

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्॥

आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः।
प्राप्तये निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्॥[1]

हिन्दू हृदय सम्राट् श्रद्धेय अशोक-जी सिंहल के दिव्य सङ्कल्प को पूर्ण करने के उद्देश्य से माननीय दिनेश चन्द्र जी के अथक प्रयत्न, कुशल नेतृत्व एवं प्रेरणादायी उद्बोधन का सुपरिणाम है अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान की स्थापना। यह संस्थान वैदिक ज्ञानधारा को पुनः जागृत करने, उसके प्रचार-प्रसार और गहन अनुसन्धान के माध्यम से समाज में उसकी पुनःस्थापना के लिए निरन्तर संलग्न है। अपने उद्देश्यों को पूर्ण करने हेतु यह शोध संस्थान अनेक प्रकल्पों का आयोजन करता है, जिनमें वेद के विशेषज्ञों का व्याख्यान, सङ्गोष्ठी एवं सम्मेलन का आयोजन, वेद पाठशाला में जिज्ञासुओं को निःशुल्क वेद की सामान्य शिक्षा आदि प्रमुख हैं। शोध संस्थान में नियुक्त शोध-सहायक अनेक वैदिक विषयों को आधार बनाकर शोध लेखों के माध्यम से अपना योगदान करते हैं। इन प्रकल्पों द्वारा उपलब्ध शोध सामग्री का प्रकाशन करने हेतु *श्रुतिप्रभा* नामक षाण्मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी यह संस्था करती है। इस पत्रिका में संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषा में निबद्ध निबन्धों को प्रकाशित किया जाता है। इसी क्रम में तृतीय भाग वर्ष 2025 के द्वितीयाङ्क को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। देश के विभिन्न भागों से वेद-विद्या के अधीती विद्वज्जनों द्वारा प्रस्तुत संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेज़ी भाषा में निबद्ध एवं सम्पादक मण्डल द्वारा स्वीकृत अनेक विषयों से सम्बद्ध शोधलेख इस अङ्क में सङ्कलित हैं।

यह पत्रिका संस्थान की वेबसाइट पर डिजिटल रूप में भी उपलब्ध है, जिससे देश-विदेश के जिज्ञासु पाठकगण इसका लाभ उठा सकते हैं। पत्रिका के सभी सुधी पाठकों से विनम्र निवेदन है कि पत्रिका का अवलोकन कर अपने शुभाशीष एवं सत्परामर्श से हमें अनुगृहीत करने की कृपा करें।

मा॰ वेङ्कट कोटेश्वर राव
प्रबन्ध सम्पादक

---

[1] *रामायण* 3.9.30-31

सम्पादकीय

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्यपत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥[1]

मातृभूमि के विषय में वैदिक ऋषियों का एक विशिष्ट एवं उदात्त विचार है, जो श्रेष्ठ देशभक्ति भाव से ओतप्रोत है। उनकी दृष्टि में उनकी मातृभूमि ही सर्वस्व है। वही स्वर्ग है, वही अन्तरिक्ष है, वही माता-पिता है, वही देवता है और वही जनता जनार्दन है, बना हुआ और बनने वाला सब कुछ उनके लिए मातृभूमि है। वह उत्तम कर्म करने वालों का हित करने वाली, सत्य का पालन करने वाली, बहुत प्रकार से क्षात्र तेज दिखाने वाली, क्षीण न करने वाली, विशाल एवं उत्तम सुख देने वाली, सुख से योग-क्षेम करने वाली, अन्न देने वाली ऐसी मातृभूमि की रक्षा के लिए निरन्तर ऋषिगण सन्नद्ध दिखाई देते हैं। उन्हें विश्वास है कि जिस प्रकार सुदृढ़ एवं सुरक्षित नौका पर आरूढ़ लोग दुस्तर विशाल नदी को सहजता से पार कर लेते हैं, उसी प्रकार वे सर्वसुखदायिनी मातृभूमि में सकुशल रहते हुए अपनी जीवन-सरिता को सहजता से पार कर सकते हैं। ऋषिगण अपनी मातृभूमि से पर्याप्त मात्रा में भोजन सामग्री की अपेक्षा करते हैं, इसके लिए वे मातृभूमि के यशोगान गाते हैं। ऋषियों को यह विश्वास था कि उनकी मातृभूमि उनका सर्वविध कल्याण करने वाली है। वेदों में देशभक्ति एवं राष्ट्रबोध की भावना का भी प्रभावपूर्ण निरूपण दिखाई देता है। यज्ञानुष्ठान के अवसर पर राष्ट्र-प्राप्ति की कामना से विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने का प्रसंग प्राप्त होता है। इष्ट देवों को प्रसन्न करके ऋषिगण अपने नायक के संरक्षण में राष्ट्र की रक्षा हेतु प्रार्थना करते थे। उनके मस्तक पर राष्ट्रतिलक करते समय भी वे राष्ट्रलाभ की हार्दिक कामनाएँ किया करते थे। ऋषिगण अपने नायक को उपदेश भी देते थे कि वे अपने राष्ट्र की रक्षा करें और प्रजाजनों का हित करने की कामना से उनका लालन-पालन करें।

वैदिक ऋषि केवल धार्मिक यज्ञानुष्ठान तक सीमित नहीं थे, वे राष्ट्र-निर्माता एवं समाज-सुधारक भी थे। वे परमात्मा से प्रार्थना करते थे कि उनके राष्ट्र में वेदाध्यायी ब्राह्मण ज्ञान-सम्पन्न हों, राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय शूरवीर, शस्त्रास्त्र-विद्यानिपुण, शत्रुनाशक तथा महारथी हों, गौएँ पयस्विनी हों, बैल बली हों, अश्व द्रुतगामी हों, स्त्रियाँ सर्वगुण सम्पन्न हों, रथी योद्धाओं में विजय प्राप्त करने की प्रबल इच्छा हो, युवक निर्भीक एवं सुशील हों, मेघ आवश्यकतानुसार वृष्टि करें, औषधियाँ फूले-फले, अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति होती रहे और प्राप्त वस्तुएँ सदा सुरक्षित रहें। अर्थात् वे एक सर्वसम्पन्न विकसित राष्ट्र के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते थे। इतना ही नहीं वे नवदम्पति को आशीर्वाद देते समय भी राष्ट्र को भूलते नहीं थे और वर-वधू को अपने राष्ट्र को समृद्ध करते हुए ही अपनी समृद्धि करने का आशीर्वाद देते थे –

---

[1] *अथर्ववेद* 7.6.1-2

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।
रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥[2]

राष्ट्र की समृद्धि से ही व्यक्ति की सर्वविध समृद्धि सम्भव है। समाज द्वारा कर के रूप में दिया गया द्रव्य राष्ट्र के विकास में उपयोगी होता है। इसीलिए कर में चोरी करने वाला व्यक्ति न केवल अपराधी होता है अपितु राजदण्ड का भागी भी होता है।

इस प्रकार देशभक्ति का विषय हो या राष्ट्रीयता का विषय हो, वेदों में प्रभूत विषय-सामग्री विद्यमान है, आवश्यकता है इसके अनुशीलन एवं अनुसरण के अध्यवसाय की। यह वैदिक विचार क्रमशः उत्तरवर्ती साहित्य में पूर्णतः पल्लवित एवं पुष्पित होकर हमारे सामने उपस्थित है, जो सर्वथा लोककल्याणकारी है। जन्मभूमि को माता के समान आदर देने मात्र से अनेक प्रकार की समस्याओं का समाधान हो सकता है। *अथर्ववेद* में कहा गया है –

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥[3]

.... माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ॥[4]

वस्तुतः अपनी जन्मभूमि को माता समझने और मानने के संस्कार हमें वेदों से ही प्राप्त होते हैं। *ऋग्वेद* में कहा गया है –

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥[5]

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता z दुहितुर्गर्भमाधात् ॥[6]

वैदिक ज्ञानधारा का यह परिणाम है कि भारतवर्ष की धरती पर जन्म लेने वाले प्रायः सभी भारतवासी अपनी जन्मभूमि को माता और सभी भारतीयों को धरती माता की गोद से उत्पन्न बन्धु मानकर मातृभूमि की रक्षा-सुरक्षा एवं विकास के कार्यों में संलग्न होते हैं। उनकी एकजुटता से राष्ट्ररक्षा के लिए एक अदम्य उत्साह की तरंग समस्त जनमानस में पैदा होती है। इस वैदिक भावना का प्रभाव प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा 1875 ईस्वी में प्रणीत "वन्दे मातरम्" गीत, जिसे विश्वकवि रबीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा 1896 ईस्वी में सङ्गीतबद्ध रूप में प्रथम बार प्रस्तुत किया गया था, में स्पष्टतः दिखाई देता है।

अद्यतन समस्या के उन्मूलन हेतु सनातन भारतीय ज्ञान से समाधान करने के पवित्र उद्देश्य से *श्रुतिप्रभा* पत्रिका के प्रकाशन का पवित्र सङ्कल्प अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान की प्रबन्ध समिति ने किया है, उसी क्रम में यह अङ्क (तृतीय खण्ड, द्वितीय भाग) आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस अङ्क में विभिन्न विषयों पर विश्रुत विद्वानों एवं शोधकर्ताओं के शोधलेख हैं, जो आपको वेदविहित जीवन-पद्धति की विशेषताओं का बोध कराने के साथ-साथ वैदिक ज्ञान-विज्ञान को गहराई से समझने के लिए अवश्य प्रेरित करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

---

[2] *अथर्ववेद* 12.1.10

[3] *अथर्ववेद* 12.1.10

[4] *अथर्ववेद* 12.1.12

[5] *ऋग्वेद* 1.89.4

[6] *ऋग्वेद* 1.164.33

अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष माननीय दिनेश चन्द्र-जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। प्रत्येक कार्य में जिनका सतत संरक्षण एवं प्रभावपूर्ण मार्गदर्शन सहज रूप से प्राप्त होता रहता है। इस पत्रिका में प्रकाशित शोध लेखों के लेखकों, समीक्षकों, सम्पादकों एवं प्रकाशन से सम्पृक्त तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान करने वाले सभी सहयोगियों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। शैली क्रिएशंस के अधिष्ठाता श्रीमान् सुशील मित्तल को सुरुचिपूर्ण पत्रिका मुद्रण हेतु सादर साधुवाद देता हूँ।

प्रो० रमेशकुमार पाण्डेय

सम्पादक

विषय-सूची

सम्पादकीय vii

— डॉ॰ रमेशकुमार पाण्डेय

पुरोवाक् ix

— मा॰ *दिनेश चन्द्र*

विनम्र निवेदन xi

— मा॰ *वेङ्कट कोटेश्वर राव*

1. श्रौतानुष्ठानप्रयोगपर्यालोचनम् 1

— डॉ॰ रवीन्द्रनाथभट्टाचार्यः

2. शब्दब्रह्मविमर्शः 7

— प्रो॰ सुन्दरनारायणझाः

3. हिन्दूसंस्कृति में जन्ममूलक जातिव्यवस्था 14

— प्रो॰ रामानुज उपाध्याय

4. मेघ स्वरूप 19

— डॉ॰ शालिनी मल्होत्रा

5. पूर्णता का वैदिक सिद्धान्त 49

— खोकन माइति

6. वेद विहित जीवन प्रणाली में कृषि की महत्ता 61

— डॉ॰ ऋतिका

7. शब्दस्वरूप विमर्श 73

— डॉ॰ शशिकान्त मिश्र

8. आधुनिक सन्दर्भ में वैदिक यज्ञों की प्रासङ्गिकता 87

— विश्वनाथ माहात

9. वैदिक साहित्य में आयुध तथा निर्माण तकनीकि 102
— *डॉ० विजय कुमार शर्मा*

10. अनेक दृष्टि परक गायत्रीमन्त्रार्थ चिन्तन 114
— *शिवम शर्मा*

11. Eternal Feminine in Sanatan and Global Civilizations:
A Comparative and Dialogical Study 125
— *Arooshi Nigam, Prof Subhash Chandra, Dr. Avadhesh Pratap Singh*

संगोष्ठी प्रतिवेदन

11. कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं पारम्परिक भारतीय मानसिकता 146
— *डॉ० ऋतिका, डॉ० मन्टु कुमार जाना*

श्रौतानुष्ठानप्रयोगपर्यालोचनम्

*डॉ० रवीन्द्रनाथभट्टाचार्यः**

शोधपत्रसारः – "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म" इति भगवती श्रुतिः। इत्यत्र भगवान् कात्यायनः सूत्रयति – "**द्रव्यं देवता त्यागः**" व्रीहियवपश्वादिद्रव्यम्, देवताशब्दस्तु चोदनालक्षणः। या यत्र चोद्यते सा तत्र देवता। न हि जात्या देवतास्ति वैदिके व्यवहारे। तद्धितेन द्रव्यं प्रति देवतात्वं चतुर्थन्तेन वा। तस्य द्रव्यस्य देवतां प्रति या उत्सर्गक्रिया स यागः। यज्ञो याग इति अर्थान्तरम्। अस्मिन्नेवार्थे लोके यज्ञशब्दो विश्रुतः। वस्तुतः – अग्न्यादिदेवतोद्देशेन पुरोडाशादिद्रव्योत्सर्गो यागः। अस्मिन् सन्दर्भे श्रौताग्निसाध्यानां कतिपयानां कर्मणां स्वरूपं प्रत्यपादि मयका।

शब्दकुञ्जिका – श्रौतयागः, अग्निहोत्रम्, अग्निहोत्रानुष्ठानप्रकारः, पूर्वाङ्गकलापः, उत्तराङ्गकलापः।

भूमिका

विश्वनाथं प्रणिपत्य चन्द्रावतीञ्च मातरम्।
श्रीयतीन्द्राख्यपितरं श्रौतस्मार्त्तविशारदम्॥

निरञ्जनं महापुण्यं सर्वशास्त्रविशारदम्।
रवीन्द्रनाथशर्माहं नौमि भक्त्या पुनः पुनः॥

याज्ञिकानां सुबोधाय सारमुद्धृत्य ग्रन्थतः।
श्रौतानुष्ठानप्रयोगः संक्षिप्तो रच्यते मया॥

यज्ञाधारं जगत्सर्वं यज्ञो विश्वस्य जीवनम्।
यज्ञो हि परमो धर्मो यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठतम्॥

चिरन्तने काले प्राचां भारतीयानामियं संस्कृतिः यद्वेदाध्ययनम्, वेदोदितश्रेयस्साधनानां कर्मणां यथाविधि यथाधिकारञ्चानुष्ठानमिति। स्वे स्वे कर्मणि निरतास्ते मिथस्सौजन्येन समयं यापयन्तः सुखेनावर्तन्त। नासीत्तेषां कलहस्यावसरः। आच प्रातः आच सायं कर्तव्यत्वेन परिगणितानां कर्मणां समयविभागः पूर्वजैः कृतः। विद्यालयेषु प्राचार्येण छात्राणामध्ययनाय समयविभागः प्रकाश्यते। स च सर्वैरेवच्छात्रैरध्यापकैश्च पालनीयो भवति। अनुशासनपरिपालनं नाम लोकानां मुख्यः प्रणवः। तच्च बालादारभ्य शिष्यते। एतादृशशिक्षया विनयावाप्तिः। विनयश्चात्मबलसम्पादने मुख्यं साधनम्। भौतिकबलापेक्षयाऽऽत्मबलस्य प्राबल्यमित्यत्र सन्ति बहून्युदाहणानि।

तत्रोपनयनादारभ्य विहितं प्रथमं कर्म वेदाध्ययनम्। नियतकर्तव्येषु यदस्माकं वेदाध्यनस्य प्राथमिकतायां कारणमिदं प्रतिभाति जीवनेऽधीतवेदस्य महान् सम्बन्धः। यो नाम वेदं नाध्यैष्ट स दूरतो लोकैः पर्यह्रियत इत्यासीद्भारते कश्चन समयः।

---

* प्रो० संस्कृतविभागे, पूर्वविभागीयाध्यक्षः कलासङ्कायप्रमुखश्च कलिकाताविश्वविद्यालयस्य, कलिकाता 700073। <*e-mail:* kashiviswanathah@gmail.com>

वेदाध्ययनानधिकारिणोऽपि अनधीतवेदं विप्रं जुगुप्सया ददृशुः। एवं वेदे महत्त्वबुद्धिमादधाना भारतीयाः वैदिकमतावलम्बिन एवासन्। न केवलं वेदाध्ययनमात्रेण वैदिकाः किन्तु तद्विहितकर्मणामनुष्ठानेनापि। विना कर्मणामनुष्ठानेन कथं नाम वैदिकत्वं प्रसिध्येत्? अनुष्ठेयत्वेन विहितानि कर्माणि स्मार्तानि श्रौतानि चेति विभक्तानि। यानि वैवाहिकाग्निसाध्यानि, स्मृतिषु च विहितानि व्रतादीनि तानि स्मार्तानि व्यवह्रियन्ते। भारतस्यैवायं महिमा – यदत्र जनिमवाप्त एकैकोऽपि मानवस्साग्निको भवति। मातुर्जठराग्निना पालितः पोषितश्चोत्पन्नः प्राप्ते वयसि यथाधिकारमग्निमान् भवति, तेन चाग्निना विहितानि कर्माण्याचरति, तेनैव चौर्ध्वदेहिकं संस्कारमवाप्नोति । पृथिव्यां नान्यत्रैतादृशी पद्धतिः ऋते भारतात्। अत्रास्ति सुमहद्वैज्ञानिकं तत्त्वम् । तच्च पृथग् सलेखमर्हति।

तत्र श्रौताग्निसाध्यानां कतिपयानां कर्मणां स्वरूपं विवृणोमि, – श्रौतकर्मसु प्रथमं कर्म अग्न्याधानं कथ्यते। त्रैवर्णिकानामत्राधिकारः। कृतदारपरिग्रहो द्विजः **"जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत"**[1] इति विधौ प्रयुक्तजातपुत्रकृष्णकेशवदाभ्यां लक्षिते वयसि **"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत"**[2] **"ग्रीष्मे राजन्यः"**[3] **"शरदि वैश्यः"**[4] **"वर्षासु रथकारः"**[5] इति विहिते कालेऽग्न्याधानं कुर्यात्। आधानं नाम विहिते स्थलविशेषे मथितस्याग्नेर्निक्षेपः। तस्यायं प्रकारः अग्नीनाभ्यास्यमानो विप्रः पत्न्या सह पूर्वस्मिन्दिने सञ्चितपापापनुत्तये महाप्रायश्चित्तं कृच्छ्राचरणञ्चानुष्ठाय निष्पाप आभ्युदयिकश्राद्धं सम्पाद्य गृहीतनियमस्तिष्ठेत्। श्वस्तने दिने प्रत्यूषे स्नानसन्ध्योपासनादिकं निर्वर्त्य पत्न्या सहाधानार्थं सङ्कल्पं कुर्यादग्नीनाभास्य इति। ततो ऋत्विग्वरणम्। अध्वर्युः ब्रह्मा होता आग्नीध्रश्चेति चत्वार ऋत्विजः। तत्राध्वर्युः शमीवृक्षोपरि प्ररूढादश्वत्थवृक्षादानीतां शाखां द्वेधा छित्वा सम्पादिते द्वे अरणी अनातपशुष्के आधानदेशं समानयेत्। द्वयोररण्योरेका उत्तरारणिरपराचाधरारणिरिति कथ्यते। अरण्योः परिमाणे सूत्रकाराणां बौधायनापस्तम्बकात्यायनानामस्ति मतभेदः । तथा सप्त पार्थिवान् सप्त वानस्पत्यांश्च सम्भारानेकत्राहृत्य निक्षिपेत् । सिकताः ऊषरभूगता मृत्, मूषिकोत्कीर्णा मृत्, वल्मीकस्योपरिस्थिता मृत्, अशोष्यजलाशया मृत्, वराहोत्कीर्णा मृत्, क्षुद्रपाषाणा इति सप्त पार्थिवास्सम्भाराः। अश्वत्थोदुम्बरपलाशशमीविकङ्कताशनिहतपद्मपत्राणीति वानस्पत्यसम्भाराः। अग्न्यायतननिर्माणम्-वेदेः पश्चिमायां दिशि गार्हपत्यायतनं गोलाकारं वेदेः पूर्वस्यां दिशि चतुरस्राकारमाहवनीयगृहम्, तयोर्मध्ये दक्षिणस्यां दिशि अर्धचन्द्राकारं दक्षिणाग्नेरायतनम्। एवं सभ्यावसभ्ययोरपि आयतने भवतः । एतेषामग्नीनां पृथक् पृथक् गृहं निर्माय ग्रामेषु जनपदेषु च श्रोत्रियाः स्वस्वनिवासायापि स्थानानि परिकल्प्य कर्माण्यनुतिष्ठन्त आसन् ।

अनन्तरं यजमानः क्षौरकर्म नखनिकृन्तनानि च कारयित्वा, मृत्तिकामनुलिप्य स्नात्वा "क्षौमे वसानावग्नीनादधीयाताम्" इति विध्यनुसारेण क्षौमे वस्त्रे परिधाय पत्नीञ्च स्नानानन्तरं दुकूलं परिधापयेत्। अपराह्णेऽध्वर्युः यजमानस्यौपासनाग्नेरर्धं पृथक्कृत्य गार्हपत्यकुण्डस्य पश्चान्निधाय समिद्भिः प्रज्वाल्य ब्रह्मौदनपाकार्थं तण्डुलान्निर्वपेत् । ब्राह्मणानां भोजनाय पक्व ओदनो ब्रह्मौदनशब्दवाच्यः। तदर्थं प्रभूततण्डुलेभ्यः पृथक्कृत्य पात्रे स्थापनं निर्वापः। चतुश्शरावपरिमितान् तण्डुलान् जलपूर्णे पात्रे प्रक्षिप्य पचेत्। पाकश्च तथा भवेद्यथा हि कियतांशेन तण्डुलभावस्स्यात् । पक्वमन्नमग्नेरुद्वास्य (उद्वासनं नाम बहिर्निस्सार्य स्थापनम्) ततो दर्व्या गृहीत्वा तस्मिन्नेवाग्नौ जुहुयात्। अवशिष्टमोदनं चतुर्धाविभज्य अध्वर्युहोतृ-ब्रह्माग्नीध्रेभ्यो ऋत्विग्भ्यः दद्यात्। पात्रे किञ्चिदन्नमवशेषयेत् । अध्वर्युस्स्वीयं भागं सव्यहस्ते परिगृह्य दक्षिणहस्तेन पात्रस्थेऽन्ने आज्यमभिधार्य तदन्नं समिद्भिः सिसृभिरालोड्य तास्समिधस्तस्मिन्नेवाग्नौ निदध्यात्। तत ऋत्विजस्स्वान्नं भुञ्जीरन् । इदं समिदाधानं वत्सरादेकस्मात् द्वादशाहात् त्र्यहात् त्र्यहात् पूर्वं वा पूर्वस्मिन् दिने वा क्रियते। आपस्तम्बबौधायनादिभिर्विकल्पेनेमे पक्षा विहिताः। यजमानः

---

[1] संस्काररत्नमाला (भागः 1), समावर्तनसंस्कारः, पृष्ठ सं॰ 368

[2] बौधायन श्रौतसूत्रम्/प्रश्नः 24/16

[3] तत्रैव

[4] तत्रैव

[5] तत्रैव *आप॰श्रौ॰* 5.3.18

पूर्वेद्युरात्रावुपवसेज्जागरणञ्च-कुर्यात् । ब्रह्मौदनपाकार्थं योऽग्निरुतं काष्ठादिप्रक्षेपेण प्रज्ज्वाल्य रक्षेत्। प्रातः काल एव तस्मिन्नग्नावरणीं प्रतप्याग्निं शमयित्वा यजमानाय तेऽरणीं प्रयच्छेत् । यजमानस्तेऽभिमन्त्र्य मन्थनारम्भपर्यन्तं स्वहस्त एव धारयन्नासीत्। अध्वर्युर्गार्हपत्यायतनसंस्कारानुद्धननावेक्षणादीन् कृत्वा पार्थिववानस्पत्यसम्भारान् यथाक्रमं गार्हपत्यायने प्रक्षिपेत्। तत्रायं क्रमः – पूर्वस्थापितास्सिकताः द्वेधा समशो विभज्यैकमर्धं पुनर्द्वेधा विभज्य तत एकं भागं गार्हपत्यायतने प्रक्षिप्यावशिष्टमर्धं त्रिधा विभज्याहवनीय सभ्यावसभ्यायतनेषु प्रक्षिपेत् । सभ्यावसभ्याधानाभावपक्षेऽर्धस्याहवनीयायतन एव प्रक्षेपः । एवमेवान्यानपि पार्थिवसम्भारान् विभज्य तत्तदायतनेषु कुर्यात्। एवं वानस्पत्यसम्भारानपि तत्तदायतनेषु प्रक्षिप्य तदुपरि हिरण्यशकलान् निर्वपेत्। हिरण्योपरि पूर्वं शमितस्याग्नेर्भस्मापोह्य तदुपरि यजमानः हस्तादरणीं गृहीत्वा निक्षिप्य तत्समीपे श्वेतमश्वमेकं बध्नीयात् । अनन्तरमरणीं मन्थेत्। मन्थनेन यदाग्निर्जायते तदाध्वर्यवे वरं दद्यात् । वरो नाम गौः। यत्र यत्र वरः प्रदेयत्वेन विहितस्तत्र सर्वत्र गौरेव ग्राह्या। मथनजातमग्निमध्वर्युः करीषकाष्ठशकल-नारिकेलजटादिना वर्द्धयित्वा गार्हपत्यकुण्डे स्थापयेत्। इदमेव गार्हपत्याधानं कथ्यते । इतो या याः क्रिया वर्णितास्ताः पूर्वाङ्गत्वेन ग्राह्याः ।

सूर्यस्यार्धोदयसमये गार्हपत्यं प्रज्ज्वाल्य तत्राश्वत्थकाण्डानि प्रदीप्तानि कृत्वा ततः कानिचनांशतः काष्ठानि गृहीत्वा हस्तेन धारयन्नध्वर्यौ तिष्ठति सति यतः कुतश्चिल्लौककमग्निमाग्नीध्र आनीय दक्षिणाग्न्यायतने निदध्यात्। मथित्वा वाग्निं निदध्यात् इदमेव दक्षिणाग्न्याधानं कथ्यते ।

गार्हपत्याधानावसरेऽश्वो बद्ध आसीत्। तत्सान्निध्ये गार्हपत्याधानमभवत्। "आहवनीयाधानात्पूर्वं ऋत्विजोऽश्वं चान्नयन्त आहवनीयातनदेशं गच्छेयुः"। ऋत्विजां दक्षिणभागे ब्रह्मा रथचक्रं त्रिवारं परिवर्तयेत्। आहवनीयसम्भारान् अश्वमाक्रामयेत्। ततो ब्रह्मणि साम गायति सति अध्वर्युराहवनीयमादध्यात्। इदमाहवनीयाधानं कथ्यते। त्रिष्वप्यायत-नेष्वाधानमग्नेस्सम्पन्नम्। इदमाधानमग्नि-सिद्धिफलकम्। एतावता नाग्निसिद्धिः, किन्तूत्तराङ्गेषु कृतेष्वग्नयः सिद्धा भवेयुः। पूर्वाङ्गैस्सहितमेवाधानं सम्पन्नम्। उत्तराङ्गेषु कृतेष्वेव तस्य सम्पत्तिः । तत्रोत्तराङ्गेषु एकैकायतने आश्वत्थानां शमीवृक्षीयाणाञ्च त्रिसृणां समिधामाधानं तूष्णीमग्निहोत्रहोमश्च भवेताम्। ततः **"पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति"**।[6] इति विहितः पूर्णाहुतिहोमः। अनन्तरमुपस्थानमग्नीनां कुर्याद्यजमानः। उपस्थानं नाम मन्त्राभिधानपुरस्सरं समीपगमनम्। ततोऽध्वर्यवे वरदानं कृत्वा प्रायश्चित्तहोमानुष्ठानम्। आहिताग्निनियमधारणम्। एतावताऽ-ऽधानाख्यं प्रधानं कर्म निष्पन्नम्। एतदुत्तरमपि कानिचनाङ्गानि कर्तव्यानि । तेषु प्रथममाग्नेयेष्टेरनुष्ठानम्। अत्राग्निर्देवता अष्टसु कपालेषु संस्कृतपुरोडाशो द्रव्यम्। तदनन्तरं तिस्रः पवमानेष्टयः – "अग्नये पवमानय" "अग्नये पावकाय" "अग्नये शुचये" इति वाक्यविहिता इष्टयः पवमानेष्टयोऽभिधीयन्ते। सर्वत्राग्निरेव देवता तत्तद्गुणविशिष्टः। अष्टाकपालः पुरोडाशश्च सर्वत्र द्रव्यम्। एता इष्टय आधानदिन एवानुष्ठेयास्समानतन्त्रेण। अत्र सन्ति विकल्पेन विहिताः पक्षाः।

एताः पवमानेष्टयः "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्यायेनाधानाङ्गमिति भट्टपादा ब्रुवते। भाष्यकाराः श्रीशवरस्वामिनस्तु "यदाहवनीये जुहोति" इति स्वातन्त्र्येण विहितत्वादेता आधानवदग्निसिध्यर्था एवेति वदन्ति। अर्थादग्निसिद्धिः न केवलमाधानेन भवति, किन्तु पवमानेष्ठिषु तिसृष्वनुष्ठितास्वेवाग्नीनां सिद्धिरिति पक्षद्वयेऽप्यासामनुष्ठानं पूर्वोक्ताधानान्तरमिति तावत्समानम्। गार्हपत्याधानावसरेऽश्वबन्धनम् आहवनीयाग्न्याधानावसरेऽश्वस्य सम्भारेषु सञ्चारणं क्रियते। तत्किं निबन्धनमिति विचारयामः, चतुष्पात्सु प्राणिषु **"अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः, पशवो गो अश्वाः"**[7] इति वाक्येनावगच्छामः यत्पशुषु गवामश्वानाञ्च प्राशस्त्यमिति। गवाश्वातिरिक्तचतुष्पात्सु पशुत्वाभावं साधयितुमिदं वाक्यं न प्रवृत्तम्, किन्तु गोषु अश्वेषु च विद्यमानं प्राशस्त्यं

---

[6] ऋक्संहिताभाष्ये उपोद्घातप्रकरणम्/प्रथमोष्टकः, पृष्ठ 13, राजारामशास्त्री एवं शिवरामशास्त्री, 1867

[7] श्रीसिद्धान्तसुधानिधिः, अध्यायः 2, पादः 4, आह्निकम् 1.12

साधयितुमिति तावदवगम्यते। तत्र गोषु विद्यमानं प्राशस्त्यं प्रसिद्धमेव। अश्वस्य प्राशस्त्ये किं निमित्तमिति विचार्यमाणे प्रतिभाति यदश्वस्याग्नेश्च भ्रातृभावस्य **"अप्सु योनिरश्वः" "अप्सुयोनिरग्निः"** इति वर्णनात् यत्राग्निः तत्राश्वः, यत्राश्वस्तत्राग्निरिति प्राशस्त्यमश्वस्य। किञ्चाग्निसाक्षिको विवाहः प्रचलति। तत्र साक्षिभूतस्याग्नेः विवाहसम्बन्धं दृढीकरोति । सम्बन्धविच्छेदस्य नास्त्येवावसरः। अयमेव चिरन्तनः पन्थाः। तथैवात्रापि गार्हपत्याधानमश्वरूपाग्निसाक्षिकम्। तदिदमाधानं यजमानस्याहिताग्नेः अविच्छेदेन निरन्तरमग्निहोत्रादिकर्माण्यनुष्ठापयति। एवमेवाश्वस्य सञ्चरणमपि महाफलम् ।

एवं पूर्वोत्तराङ्गसहितमाधानमनुष्ठाय सपत्नीको यजमानः साग्निको भवति। होमपूर्वाधानम् इष्टिपूर्वाधानं सोमपूर्वाधानमिति त्रिविधम् । अर्थात् आधानं कृत्वाग्निहोत्रमेवानुतिष्ठन् यजमानो भाविभवेच्चेद्धोमपूर्वाधानं भवति। अग्नीनाधाय पर्वणि पर्वणि दर्शपूर्णमासयोरनुष्ठानं चेद् भवेदिष्टिपूर्वाधानं कथ्यते। अग्न्याधानानन्तरमेव **"सोमेन यक्ष्ये"**[8] इति सङ्कल्पाग्निष्टोमसंस्थं सोमं कुर्याच्च्येत्तत्सोमपूर्वाधानमिति व्यवह्रियते। अग्निहोत्रानुष्ठानन्तु सर्वदा भवेत् ।

अग्निहोत्रम्

सायमारभ्य प्रातरपवर्गोऽग्निहोत्रस्य। अपवर्गो नाम समाप्तिः। कालद्वयानुष्ठितमिदमेकं कर्म। तदिदं **"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"** इत्यादिवाक्यैः नित्यं काम्यञ्च विहितम्। अग्निहोत्रशब्दः कर्मणो नामधेयम्। आधानानन्तरं तस्मिन्नेव दिने सायमग्निहोत्रस्यारम्भः कर्त्तव्यः। तत्र सायं होमेऽग्निः प्रजापतिश्च देवते पयोदधियवागूष्वन्यतमं द्रव्यम्। आहुतिद्वयमिदं भवति। प्रातर्होमे च सूर्यः प्रजापतिश्च देवते द्रव्यञ्च तदेवते। अत्र समुच्चितयोर्न देवतात्वं किन्तु देवतयोस्सतोः समुच्चयः। सायङ्कालिकहोमः सूर्यरश्मयो भूभागं परित्यज्य वृक्षाग्र एव प्रकाशमाना भवेयुः तदा कर्तव्यः। प्रातःकालिकहोमः प्राच्यां दिशि यदा सूर्यरश्मयः प्रादुर्भवन्ति तदानुष्ठेयः। अत्रैव केचन उदितहोमिनः केचिच्चानुदितहोमिन इति भेदः।

अग्निहोत्रानुष्ठानप्रकारः

सायं होमार्थं सङ्कल्प्य गार्हपत्याज्ज्वलन्तमग्निमुपवेषेणोद्धृत्य तं दक्षिणाग्नेरायतने तूष्णीं स्थापयित्वा गार्हपत्यात्पुनरग्निमुद्धृत्य समन्त्रकमाहवनीये स्थापयेत्। इदमेवाग्निप्रणयनं कथ्यते। यजमान इध्मकाष्ठानि स्वयमाहृतानि त्रिष्वप्यग्निषु क्रमेण निदध्यात्। अग्नीन् गन्धपुष्पाक्षतैरभ्यर्च्यालङ्कृत्य उदगग्रैः प्रागग्रैश्च कुशैः परिस्तृणुयात्। परिस्तरणं नाम आयतनानां परितः स्तरणम्। कुशानामग्रभागाः उदग्दिशि प्राच्याञ्च दिशि यथा भवेयुस्तथास्तरणं भवेत्। आग्निहोत्रीं (यस्या) गोः पयो दुग्ध्वा अग्निहोत्रं क्रिया सा गौः आग्निहोत्री कथ्यते। तां विहारे (यज्ञानुष्ठानस्थाने) दक्षिणत आनीय सूर्यास्तादनन्तरं तां दुग्ध्वा दुग्धं पयः कुम्भ्यां (श्रपणार्थमार्तिकं पात्रं कुम्भी कथ्यते) निनीय त्रीनप्यग्नीन् परिषिञ्च्, गार्हपत्यादारभ्याहवनीयपर्यन्तमविच्छिन्नामुकधारां प्रस्राव्य गार्हपत्याग्नेः अङ्गारान् पृथक्कृत्य तत्र पयः पूर्णां कुम्भीं निक्षिप्य श्रपयेत्। दोहनपात्रं प्रक्षाल्य दुग्धमिश्रं किञ्चित् तज्जलं स्रुव आनीय कुम्भ्यां प्रतिषिच्य त्रिःपर्यग्निकृत्वा (पर्यग्निकरणं नाम ज्वलदङ्गारैर्भ्रामणम्) वर्त्मकरणं कुर्यात् कुम्भीं भूमौ निक्षिप्य प्राग्देशं प्रतिकर्षणम्। कुम्भ्या आकर्षणेन कृष्णवर्णो मार्गः कृतो भवति। अयमेव व्यापारो वर्त्मकरणमुच्यते। गार्हपत्यादुद्धृतानङ्गारान् गार्हपत्य एव प्रक्षिप्य स्रुवमाग्निहोत्रहवनीञ्चाहवणीये प्रतपेत्। तत्र कुम्भीतः पयो अग्निहोत्राहवण्यामानीय (आनयनमिदं हविरुन्नयनमिति व्यवह्रियते) तद् गार्हपत्यस्य पश्चिमभागे स्थापयित्वा स्वहस्तमग्नौ प्रताप्य हविस्संमृश्य नवाङ्गुलपरिमाणामेकां पलाशसमिधमग्निहोत्रहवण्या उपरि धारयन् आहवनीय समीपमागत्य तत्पश्चिमभागे स्थापयित्वा अप उपस्पृश्य समिधमाहवनीय आधायाग्निहोत्रहवणीस्थहविर्जुहुयादाहवनीये। इयमग्निहोत्रस्य प्रथमा आहुतिः। इयमग्निदैवत्या। अग्निहोत्रहवणीस्थं पयो लेपं

[8] *बौ०श्रौ०* 2.1

हस्तेन गृहीत्वा भूमौ नृमृज्य गार्हपत्यं समीक्ष्याग्निहोत्रहवण्यां हविर्गृहीत्वा द्वितीयामाहुतिं जुहुयात्। इयं प्रजापतिदेवताकाहुतिः। एवं प्रातरप्याहुतिद्वयं होतव्यम्। तत्र प्रथमा सूर्यदेवताका द्वितीया च पूर्ववत्प्रजापतिदेवताका। इमाश्चतस्र आहुतयः प्रधानभूताः पूर्वाङ्गसहितं प्रधानं निष्पन्नम्। अग्निदैवतत्वादस्य कर्मणः अग्निहोत्रमिति नाम। ऋग्वेदिनामाहुतयो विंशतिसङ्ख्याका भवन्ति गार्हपत्ये चतस्रः दक्षिणाग्नौ चतस्र इत्यष्टौ। प्रातरेवमष्टौ, मिलित्वा षोडश, पूर्वोक्ताश्च तिस्र इति एकोनोविंशतिः।

उत्तराङ्गानि – अग्नीनां परिषेचनमुपस्थानम्

इदमुपस्थानमाहवनीयस्य दक्षिणभागे स्थित्वा यजमानः कुर्यात्। उपस्थानं नाम मन्त्राभिधानपूर्वकमुत्थानम्। वेदिमध्येऽग्निहोत्रहवणीं निधाय होमावशिष्टं लेपं भक्षयेत्। लेपो नामाग्निहोत्रहवण्यां स्थितो हविर्भागः। आचमनम्, स्रुव निर्लेहनं कुर्यात्। निर्लेहनं नाम पात्रस्थितं हविश्शेषं जिह्वाग्रेण चूषणम्। हस्तं प्रक्षाल्याचम्य जलेनाग्निहोत्रहवणीं पूरयित्वा चतसृषु दिक्षु हस्तेन व्युत्सिचेत् (विभज्योर्ध्दवं सेचनं व्युत्सेचनम्) अत्र देवताः सर्पाः पिपीलिकाः सर्वेतरजनाः, सर्पदेवजनाश्च। पुनरग्निहोत्रहवणीं जलेन प्रपूर्याहवणीयस्य पश्चाद्देशे किञ्चिज्जलं निनयति (निनयनं नाम क्षारम्) जलरोषं पत्त्या अञ्जलौ निनयेत्। पुनर्जलेनाग्निहोत्रहवणीं पूरयित्वा उदग्देशे सप्तर्षिभ्यस्तज्जलं निनयेत् ।

प्रत्यावृत्याग्नीन् प्रज्वाल्य पूर्ववदग्नीन् परिषिच्य अनाज्ञानादि मन्त्रं जपित्वा अग्निहोत्रहवण्यां तृणमङ्गीकृत्य आहवनीये तत्प्रहृत्य तां प्रक्षाल्य हविरुन्नयनदेशे तज्जलं क्षारयेत्। वेद्यां यजमानो हस्तं प्रसार्य तस्मिन्नय आसिच्य स्वशिरस्याजयेत्। इदमासेचनमवभृतस्नानतुल्यं भवति । एतावान् कार्यकलापोऽग्निहोत्रं कर्म।

स्थूलशः पूर्वाङ्गकलापः		स्थूलशः उत्तराङ्गकलापः
सङ्कल्पः	पर्यग्निकरणम्	परिषेचनम्
उद्धरणम्	वर्त्मकरणम्	उपस्थानम्
स्थापनम्	प्रतपनम्	लेपभक्षणम्
परिस्तरणम्	हवि उन्नयनम्	निर्लेहनम्
दोहनम्	प्रतपनम्	व्युत्सेचनम्
निनयनम्	हविः सम्मर्शनम्	निनयनम्
परिषेचनम्	उपरिधारणम्	आसेचनम्
प्रस्रावणम्	अप उपस्पर्शनम्	अञ्जनम्
श्रपणम्	निधृनम्	प्रहरणम्
प्रतिषिञ्चनम्	प्रधानाहुतिः	आसेचनम्

श्रौतकर्मस्वग्निहोत्रं प्रथमं कर्मेत्युक्तम्

आधानसिद्धाग्नित्रयसाध्यमिदमित्यप्यभिहितम्। अत्र योऽधिकारी स एव सप्तहविर्यज्ञेषु सप्तसोमसंस्थासु चाधिकरोति। दीनो वाढ्यो वा सर्वोऽपि त्रैवर्णिको यावज्जीवति तदिदमग्निहोत्रमनुतिष्ठेत्। वेदेषु तदनुसृतेषु स्मृतिपुराणादिष्वग्निहोत्रस्य यादृशी प्रशंसा तावती बहुव्ययेन महता क्लेशेन बहुभिर्दिनैश्च साध्यानां कर्मणां न दृश्यते। तत्रेदं कारणं प्रतिभाति – यदतिचञ्चलस्य मनसो निरोधायेदं प्रथमं कर्म। लघुकालेनाल्पव्ययेन च साध्यमिदं उपरि यजमानेन करिष्यमाणेषु कर्मसु

मनोनिग्रहपथप्रदर्शकम्। मनोनिग्रहाभ्यासायैव हि सकलानि श्रौतानि कर्माणि विहितानि। विभिन्नैः ऋत्विग्भिः अनुष्ठीयमानेषु पदार्थेषु साध्यसाधुत्वयोर्निर्णयाय सावधानेन यजमानेन भवितव्यम्। अल्पीयसोऽप्यङ्गस्य विकृतिः प्रधानस्य फलजनकत्वं निरुणद्धि। सकलाङ्गैः साहित्यं प्रधानस्यानिवार्यम्। अङ्गानां साक्षात्फलजनकत्वशक्तेरभावेऽपि प्रधानसहितानि तानि तादृशशक्तिमन्ति भवन्ति। प्रधानानां तादृशशक्तिमत्वेऽपि विना अङ्गानां साहित्येन कुण्डितशक्तिमन्ति प्रधानानि भवन्ति । दृष्टमदृष्टं वोपकारं जनयन्त्यङ्गानि स्वस्वापूर्वद्वारा प्रधानेन साहित्यं भजन्ते। आशुतरविनाशित्वं यथा प्रधानानां तथैवाङ्गानामपि। तथापि वेदवचसां प्रामाण्यव्यवस्थापनाय किमप्येष्टव्यमेव भवति । तत्र मीमांसका तत्र तत्र किञ्चिदपूर्वं परिकल्पयन्तोऽङ्गानां प्रधानस्य च साहित्यं व्यवस्थापयन्ति। अग्निहोत्रस्य पूर्वाङ्गेषु सकलेषु यथावदनुष्ठितेषु स्वस्वापूर्वद्वारा प्रधानपर्यन्तं तानि गच्छन्ति। तदनन्तरं प्रधानानुष्ठानेन फलजनकीभूतमपूर्वं जायते, किन्तु तावता न पर्याप्तमित्युत्तराङ्गानि तत्स्थितये स्वस्वापूर्वद्वारा उपयुज्यन्ते, अन्यथा प्रधानजन्यमपूर्वं फलजनने शक्तिहीनमेव भवेत्। घटोत्पत्त्यर्थं कुलालः मृत्तिकासञ्चयनादीन्यङ्गानि कृत्वा आमघटमुत्पादयन्नपि न स सफलः परिगण्यते यावदामघटस्य पाकाद्युत्तराङ्गं न निवर्तयेत्। अयमुपकार्योपकारकन्यायः प्रजातन्त्रस्य महानुपकारकः विषयान्तरमिदम्। मीमांसकैर्यदपूर्वमिति स्वीकृतं तच्छक्तिरूपम्। कर्मजन्यफलभोक्तुरात्मनि समवेतमिदं पूर्वोत्तराङ्गोपकृतमग्निहोत्र-होमजन्यमपूर्वं फलं भोक्तुं शक्तिमन्तं विद्यते यजमानम् ।

काम्यं निषिद्धञ्च कर्मसन्त्यज्य नित्यं नैमित्तिकञ्चायमत्र दुरितक्षयद्वारा मुक्तिञ्च प्रापयति। अत एव शक्तेरतिरिक्तपदार्थत्वमस्थिषत मीमांसकाः।

यदि यजमानस्त्रैवर्णिक इष्टिपूर्वाधानं कर्तुं वाञ्छति तर्हि विधिवत्कृताधानः सः पौर्णमासेष्टिं कुर्यात्। पूर्णिमाया अनन्तरं या प्रतिपत् तस्यां क्रियमाणेष्टिः पौर्णमासेष्टिः। अमावस्याया अनन्तरं तदुत्तरा या प्रतिपत् तस्यां क्रियमाणेष्टिः दर्शेष्टिः। दर्शशब्दोऽमावस्यापर्यायः। पर्वद्वये क्रियमाणमिदमेकं कर्म। यथा सायमारभ्य प्रातरपवर्गोऽग्निहोत्रस्य तथैव पौर्णमासीमारभ्य दर्शावपर्गो दर्शपूर्णमासयोः । पर्वद्वयेऽपि द्व्यहसाध्यमिदं कर्म। अर्थात् पूर्णिमां दर्शञ्चारभ्य तत्तदुत्तरप्रतिपदादि समाप्तिरिष्टेः। इयमिष्टिः सर्वासामिष्टीनां प्रकृतिः इष्टिशब्देन स यागः कथ्यते। यश्चौषधिप्रभवैर्व्रीहिष्वादिभिः दध्ना पयसाऽऽभिक्षया च निर्वर्त्त्यते। यत्र स्वापेक्षितानां समग्राणामङ्गानामाम्नानं तत्र प्रकृतिरिति व्यवहारः। यत्र च समग्राङ्गोपदेशो नास्ति स क्रतुर्विकृतिरिति व्यवह्रियते। यथा – सौर्येष्टिः, चित्रेष्टिः, वैश्वानरेष्टिः, चातुर्मास्येष्टिः एवमादयो विकृतयः। विकृतयश्च सद्यस्कालाः, अर्थाद् दर्शपूर्णमासयोरिव द्व्यहसाध्यत्वं विकृतीनां नास्ति। इमा इष्टयः श्रौताधानेन सम्पादितेषु एव अग्निषु अनुष्ठेया इति प्रागभिहितम्। यथाग्निहोत्रमेकैकेन द्विजेनावश्यमनुष्ठेयम्, तथा सर्वेण द्विजेन श्रौताधानमवश्यानुष्ठेयम् अन्यथाऽनाहिताग्नितारूपदोषः स्यात्। तत्र स्वपितुरनाहिताग्नित्वे स्वस्याधिकारो नास्ति। पितुराधनं कारयित्वा ततः स्वयमाधानं कुर्यात्। एव ज्येष्ठभ्रातुरनाहिताग्नेराधानकरणेऽनिच्छायां वा ततोऽनुमतिमवाप्य कनीयान् आधानेऽधिकुर्यादिति।

शब्दब्रह्मविमर्शः

प्रो॰ सुन्दरनारायणझाः[*]

शोधसारांशः– विदितवेद्यमेवैतत्समेषामपि विद्याजुषां यन्निखिललोकनायकपरब्रह्मणः स्वरूपबोधनाय वेदादिशास्त्राणां प्रवृत्तिर्जातेति। परमात्मनो निःश्वासभूतेषु वेदेषु यज्ञमुखेन तस्योपवर्णनं कृतमस्ति। तेनेदं सिद्धं भवति यद्ब्रह्मणो द्विविधं स्वरूपं शब्दब्रह्मात्मकमेकं परब्रह्मात्मकञ्चापरम्। यतस्तु वेदेषु मन्त्राः, मन्त्रेषु शब्दाः, शब्देष्वक्षराणि, अक्षरेषु च वर्णाः भवन्ति। वर्णाक्षरसमाम्नाय एव शब्दः, शब्दानां समवायो मन्त्रो भवति, स च मन्त्रो वेदपदेन व्यपदिष्टो भवति। **ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु**[1] रिति श्रुत्येदं सिद्धमेव यद्ब्रह्मणो विवर्त एवेदं विश्वमिति। विश्वस्मिन्विश्वे वाग्रूपेणाक्षररूपेण च शब्दब्रह्मणो वर्णनं वर्तत इत्यवस्थायां यथा लोके कश्चिद्वारिधिः पारावारदर्शनाभावादनन्त इत्युक्तस्तथैवायं शब्दवारिधिरप्यनन्त एवोक्तः। यथैव तस्य लौकिकवारिधेरन्तं गन्तुं कश्चिन्मानवो नौकादिसाहाय्यं विना समर्थो न भवति, तथैवास्य शब्दवारिधेरपि पारं गन्तुमिन्द्रादयो देवा अपि कठिनतपश्चर्यां विना समर्था न भवन्तीत्यत्र लघुनिबन्धे विविधशास्त्रवचनात् साधयितुं प्रयासो मया विहितः। **नामूलं लिख्यते किञ्चिदि**ति धिया तत्र मन्त्र-ब्राह्मण-उपनिषद्-व्याकरण-प्रातिशाख्यादिवेदाङ्गसाहित्य-मनुस्मृति-महाभारत-वाक्पदीयादि-विविधग्रन्थानामालोडनेन यद्यद्विषयं यथावदनुभूतं तदेवात्र सप्रमाणं सतर्कं सन्निबद्धमिति।

शब्दसंग्रहः – पादोदरः, निषेदुः, अर्पितानि, खात्, त्रैकाल्यम्, विभूतिः, तुरीयः।

भूमिका

शब्दतत्त्वस्य परब्रह्मणा सहैक्यमुपस्थापितं श्रौतस्मार्तादिग्रन्थेषु। विदितमेवैतद्यद्ब्रह्मणेदं जगत्स्वमायया विनिर्मितमिति। यदाऽस्य जगतो निर्माणसङ्कल्पस्तेन कृतस्तदानीं सर्वप्रथमं शब्दात्मकस्य स्वस्वरूपस्योपस्थापनं कृत्वा वेदराशिमेवोद्भूतमिति। स चायं वेदराशिस्तस्य निःश्वासतया प्राणभावेन समस्तशरीरसञ्चारित्वमुपपद्यैवोपागमत्। तस्य कीदृशं व्याख्यानमिह प्रस्तोतव्यमिति चिन्तयन्नहं यतिचक्रचूडामणेः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य कैलाशवासिकरपात्रस्वामी-त्यपरनाम्ना विश्रुतस्य श्रीहरिहरानन्दसरस्वतीमहोदयस्य ग्रन्थानधीत्य **इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः**[2] इति वचनमाश्रित्य किञ्चिल्लिखितुमग्रेसरोऽभवम्। फलतोऽद्य शब्दब्रह्मविमर्शाभिधं निबन्धन्निबन्धनायेदानीमहं प्रवृत्तोऽस्मि। तैत्तिरीयब्राह्मणस्य **वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता**[3] इति वचनेन सुस्फीतमेव यत्समस्तान्यपि भुवनानि वाच्यर्थाच्छब्दब्रह्मणि निहितानि सन्ति। तस्य शब्दब्रह्मणः किं स्वरूपम्? कथं तस्योत्पत्तिः? इत्यादिकं सर्वमपि विषयजातं प्रतिपादयितुमेष निबन्धः प्रस्तुतोऽस्ति।

शोधलेखः

सकलस्याप्यस्य चराचरस्योत्पत्तिश्शब्देनैव जातेति सर्वेऽपि मनीषिणः प्राहुः। विदन्त्येव सर्वे यत्सर्वादौ द्वावेव शब्दौ

---

* आचार्यो वेदविभागे, श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-16। <*e-mail:* drsnjha.delhi@gmail.com>

1 *ऋग्वेदे* १.१६४.३९

2 *वेदस्वरूपविमर्शे*, ३ पृष्ठे ।

3 *तैत्तिरीयब्राह्मणे* २.८.८.४

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च समुत्पन्नाविति।[4] तेनेदं सुस्फीतं भवति यद्ब्रह्मणा यदा शब्दोत्पत्त्यर्थं प्रयः विहिः तदानीं ब्रह्मणः कण्ठं भित्वा ओङ्कारश्चाथशब्दश्च एतौ द्वौ शब्दौ बहिरागतौ। तस्मादिमौ सर्वादौ प्रकटीभूतावेतस्मादेव कारणादिमौ द्वावपि शब्दौ माङ्गलिकावुक्तौ। अनयोरेव माङ्गलिकशब्दयोरधुनापि वेदभाष्ययोरध्ययनारम्भकाले प्रयोगौ विहितौ स्तः। वेदाध्ययनारम्भात्पूर्वमोङ्कारस्योच्चारणं, तदनन्तरं भूर्भुवःस्वरितिव्याहृतीना-मुच्चारणं कृत्वा तत्सवितुरीति सावित्रीं ऋचमनूच्य वेदाध्ययनं प्रारभेदित्येष नियमः।[5] अत्र प्रथमं तावद्विचार्यते यच्छब्दब्रह्मणः कुतः प्रवृत्तिर्जाता? किञ्च तस्य लक्षणम्? विषयेऽस्मिन् तैत्तिरीयोपनिषदि सृष्ट्युत्पत्तिविधायकं वचनं **तस्माद्वेति**[6] सुप्रसिद्धमेवास्ति। अनेन श्रौतवचनेन परमात्मनः सकाशादाकाशस्योत्पत्तिराकाशाद्वायोश्चोत्पत्तिरुक्ता। एतदेव रहस्यं मनसि निधाय वाजसनेयिप्रातिशाख्ये सूत्रद्वयमुपस्थापितं भगवता कात्यायनेन – (1) **वायुः खात्**, (2) **शब्दस्तत्**[7] आभ्यां सूत्राभ्यामिदं स्पष्टं भवति यद्वायुः शब्दोत्पत्तौ कारणम्, स च वायुराकाशादुत्पद्यते। आकाशस्य गुणं शब्द उक्तस्तस्माच्छब्दगुणकमाकाशं प्रोक्तम्।[8] आकाशाद्वायुः प्रवहति, वायुप्रवहणकाले प्रतीयते काचिद् ध्वनिस्तस्माद्वायुश्शब्दात्मकः प्रोक्तः। स चायं वायुर्द्विविधो भवत्येकस्तु तद्यद्वयं वायुमण्डलाद्गृहीत्वा मुखेन नासिकया वा हृदयान्तर्गतं कुर्मः, द्वितीयस्तु हृदयात्पुनो मुखेन नासिकया वोत्सृजामः। अस्माभिर्यद्वायुरुत्सृज्यते तेनैव वायुना वर्णानामुत्पत्तिर्जायते। तदर्थमिदं सूत्रं कात्यायनेन महर्षिणा सूत्रितम् – **सङ्करोपहितः**[9] इति। अर्थात् समुचितकरणैः (उच्चारणसाधनैः) प्रेरितः सन् हृदयस्थो वायुर्वेणुशङ्खादिभिश्शब्दरूपो भवति। अत्र पुनश्चिन्त्यते यद्यदि वाय्वात्मकः शब्दस्तर्हि वायोः सर्वगतत्वात् सर्वकालं सर्वशब्दोपलब्धिः स्यादित्याशङ्क्याह – करणानि कराः, समीचीनाः कराः सङ्कराः। सम्यक्करणैरुपहितो वायुर्वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति। तदुच्यते – **स सङ्घातादीन् वाक्**[10] इति। अर्थाद्यो वायुः वेणुशङ्खादिभिरुपहितः शब्दो भवति, स एव सङ्घातादीन् प्राप्य वागिति व्यवह्रियते। सङ्घातो नाम प्रयत्नः। स च द्विविधो बाह्याभ्यन्तरभेदात्। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशविधः – विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषः अल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति महाभाष्ये विशेषेणोक्तः। तल्लक्षणमपि तत्रैवोक्तम् –

खयां यमाः खयःकपौविसर्गः शर एव च।
एतेश्वासानुप्रदानाअघोषाश्च विवृण्वते॥

कण्ठमध्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः।
अयुग्मा वर्णयमगाः यणश्चाल्पासवः स्मृताः॥

आभ्यन्तरप्रयत्नश्चतुर्विधः-स्पृष्टेषत्पृष्टविवृतसंवृतभेदात्। एतादृशस्य ध्वनिजनकस्य च वायोः त्रीणि स्थानानि उरःकण्ठमूर्धात्मकानि भवन्ति। वायोः संवृतविवृताख्ये द्वे करणे भवतः। ये द्वे करणे, यानि च त्रीणि स्थानानि तानि शरीरान्निर्गच्छतो वायोर्भवन्ति। यानि पुनरग्रे सूत्रकृतोक्तानि स्थानकरणानि तानि मुखस्थानानि। अत एवमाह शरीराद्वायोर्निर्गच्छतो द्वे करणे त्रीणि च स्थानानि भवन्ति। एवं शरीराद्वायुर्निर्गच्छन्नकारादिविशेषव्यक्ति(शरीर)मापद्यते।

---

[4] ओङ्कारश्चाथकारौ च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ।। – *वाजसनेयिप्रातिशाख्ये* १.१७ सूत्रव्याख्यायाम्

[5] प्रणवं प्राक् प्रयुञ्जीत व्याहृतिस्तदनन्तरम्। सावित्रीञ्चानुपूर्व्येण ततो वेदान् समारभेत्।। – *याज्ञवल्क्यशिक्षायां*, पूर्वार्द्धे, श्लोक २२

[6] तस्माद्वा एतस्मादात्मनः सकाशादाकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।। – *तैत्तिरीयोपनिषदि* २.१

[7] *वाजसनेयिप्रातिशाख्ये* १.६-७

[8] शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभुं नित्यञ्च। – *तर्कसङ्ग्रहे* द्रव्यलक्षणप्रकरणे

[9] *वाजसनेयिप्रातिशाख्ये* १.८

[10] *वाजसनेयिप्रातिशाख्ये* १.९

अत्र पुनः प्रश्नः समुदेति यत् किं यस्मात् कस्माच्छरीराद्वायुर्निर्गच्छन् वर्णविशेषव्यक्तिरूपं शरीरमापद्यते? तदुच्यते नेति। शरीरैकदेशमुखे प्राप्तो वायुस्ताल्वादिभ्यः उच्चारण-स्थानेभ्यः संयुक्तः सन् करणविशेषनिरूपितवर्णत्वमापद्यत इत्यर्थः। तेषां स्थानकरणप्रयत्नानां समूहादुदगच्छन् स वायुः त्रैकाल्यं (त्रयः कालाः समाहृताः त्रिकालम्, त्रिकालमेव त्रैकाल्यम्) त्रिकालसम्बद्धमर्थजातं भूतभविष्यद्वर्तमानरूपमभिधत्ते। त्रिकालसम्बद्धार्थजातस्य शब्दरूपेण प्रकाशको वायुर्भवतीत्यु-व्वटाचार्यस्य मतम्।[11] तेन वायोरियं विभूतिर्या त्रयी विद्येति शक्यते वक्तुमित्युक्तं छान्दोग्ये।[12] विदितमेवास्ति यदग्निवायुरविभ्यस्त्रयाणां वेदानामुत तिसृणां विद्यानामृग्यजुस्साम्नामुद्भवो जात इति मनुना प्रोक्तमपि।[13]

तदत्रोक्तछान्दोग्योपनिषद्वचनादग्निसूर्यचन्द्रादीनां वायौ स्थितत्वात् वायुरेव सर्वविद्यानामाधार इति सुनिश्चितमेव भवति। ताः विद्याः शब्दब्रह्मरूपाः स्वयमेवोत्पन्नाः कालाकाशादिवदविच्छिन्नाः सन्ति। तेषां वेदानामध्ययनात्प्राक् ओङ्कारस्योच्चारणम्, तथा च भाष्यादीनामध्ययनात्प्राक् अथकारस्योच्चारणमस्माभिः क्रियते। तदुक्तमपि – **ओङ्कारं वेदेषु। अथकारं भाष्येषु।**[14] अर्थाद्वेदाध्ययनकाले ओङ्कारशब्दस्य प्रयोगस्तथा लौकिकशास्त्रवदन्यान्य-भाष्यादिग्रन्थानामध्ययनकाले त्वथकारः प्रयोक्तव्यः। यथा श्रीभाष्यारम्भे **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा** इत्याद्यशङ्कराचार्येणोल्लिखितं तदेव पठ्यते च। स चायं शब्द एव सर्वप्रपञ्चस्योत्पत्तौ हेतुत्वेन प्रसिद्धः। तदुक्तम्मनुना – **वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।**[15] भगवता महीदासेनैतरेयेण वाचो महत्त्वं प्रोक्तम्।[16] वाचो महिमैवेदं सर्वमिति सिद्धान्तः। वागीन्द्रियसकाशाद्यदुत्पद्यते तध्द्वनिः, ध्वनिरेव शब्दत्वेन सुस्फुटम्भवतीत्यत्र न कश्चिद्विसंवादः। वाग्रूपस्य शब्दतत्त्वस्य माहात्म्यं वर्णयता कृष्णद्वैपायनेन भगवता वेदव्यासेनापि महाभारते मुक्तकण्ठेनोक्तं यत् –

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।[17]

वस्तुतोऽस्य वाक्तत्त्वस्य पूर्वरूपमस्ति ध्वनिरिति। ध्वनिरेव कालान्तरे शब्दरूपत्वमवाप्य परब्रह्मपरमात्मनः श्वासप्रक्रियायां वेदमन्त्रत्वेन प्रतिष्ठितो भूत्वा सर्वदा गुञ्जायमानस्सन् प्रभवति।[18] श्रौतवचनमिममेव मनसि निधाय पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणेन श्रीमता सायणाचार्येण स्वकीयभाष्यस्य मङ्गलाचरण एवं प्रत्यपादि यत्–

यस्य निःश्वसितं वेदाः यो वेदेभ्योऽखिलञ्जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम्॥

---

[11] *वाजसनेयिप्रातिशाख्ये* – तेषाँ समूहात् स उदयँवस्त्रैकाल्यम् इति १.१५ सूत्रभाष्ये ।

[12] वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वादयति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। – *छान्दोग्योपनिषदि* ४.३.१

[13] अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्।। – *मनुस्मृतौ* १.२३

[14] *वाजसनेयिप्रातिशाख्ये* १.१८-१९

[15] *मनुस्मृतौ* १.२१

[16] वाचा वै वेदाः सन्धीयन्ते, वाचा च्छन्दांसि, वाचा मित्राणि सन्दधति, वाचा सर्वाणि भूतान्यथो वागेवेदं सर्वम् इति। – *ऐ०आ०* ३.१.६

[17] *महाभारते* शान्तिपर्वणि 232.24 नीलकण्ठविरचिता टीकाऽपि द्रष्टव्या। शारीरकमीमांसासूत्रभाष्यम् - 1.3.28।

[18] एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।। – *बृहदारण्यकोपनिषदि* २.४.१०

तच्च शब्दतत्त्वं वेदेषु ब्रह्मरूपेणैव स्तुतं मैत्रायण्यादिषु।[19] श्रुतावस्मिन् शब्दात्मकमेकं ब्रह्म, परमात्मकञ्चापरं ब्रह्म प्रोक्तमस्ति। यो हि मनुष्यः शब्दब्रह्मणि निष्णातो भवति स परंब्रह्माणमधिगन्तुं समर्थो भवतीति निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते। भगवता भर्तृहरिणाऽपि स्वकीये वाक्पदीये ब्रह्मकाण्डे शब्दतत्त्वस्य ब्रह्मरूपेण निरूपणं कृतम्।[20] अत्रेदं सुस्पष्टमेवास्ति यदनादिनिधनात्मकं यदक्षरतत्त्वभूतं शब्दब्रह्मास्ति तेनैव ब्रह्मणा सर्वं खल्विदं जगदर्थभावेनोद्भासितमिति। अर्थात्तस्य शब्दात्मकब्रह्मण एवेदं जगद्विवर्तरूपमस्तीति। तच्छब्दब्रह्म वेदपदेन स्तूयते। वेदानामध्ययनमिह ब्रह्मोपासनैव स्तुत्यम्। अत एव वेदानामध्ययनाध्यापनञ्च परमं तप इत्यनया संज्ञया भगवता मनुना प्रत्यपादि। यथा – **वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।**[21] अर्थाद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते। वेदाभ्यासरूपतपो महत्त्वं भगवता मनुना प्रतिपादितं तत्र।[22]

अत्रेदं विशेषेणावधेयं यद्ब्रह्मचर्यावस्थायां पुष्पमालाधारणस्य निषेधो वर्तते।[23] तादृशः स्रग्वी अर्थात् कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यदि यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते स द्विज आ नखाग्रेभ्य अर्थाच्छिरादारभ्य पादनखाग्रभागपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते। यो हि द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्र श्रमं विदधाति स इह शूद्रो मतः।[24] स चायं वेदो सृष्टेरस्याः प्रथमा वागिति सुस्पष्टमेव। विश्वमण्डलोत्पादकस्य प्रजापतेः परं स्वरूपं वागेवास्तीत्युक्तं श्रुतौ।[25] सेयं वाक् त्रेधा विहितेत्युक्तं वाजिश्रुतौ।[26] एवमुक्तप्रकारेण या वागनादिनिधना नित्या, समुद्रवदपारा चानन्ता चोक्ता सा स्फोटरूपेति। सैव दिव्या वेदमयी वागादौ स्वयम्भुवा समुत्सृष्टा। ऋग्वेदे वाचश्चत्वारि रूपाणि निर्दिष्टानि।[27] इत्यत्र नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति चतस्रो वाचः स्वरूपं यास्को ब्रूते। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूँषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः।[28] एवमेव वक्ष्यमाणो व्याख्यानप्रकारो दर्शितः सायणेन – अपरे मातृकाः प्रकारान्तरेण प्रतिपादयन्ति – **परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति।** चत्वार्येतानि। तत्रैकैव नादात्मिका वाग् मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते, योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्।[29] सैव वृद्धिंगता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते, मध्ये हृदयाख्ये उदीयमानत्वान्मध्यमा। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता कण्ठताल्वोष्ठाद्युच्चारणस्थानव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति, तदा वैखरीत्युच्यते। एवं वाचश्चत्वारि पदानि परिमितानि। मनीषिणो स्वाधीनमनस्का ब्राह्मणा शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारो योगिनः परादिचत्वारि पदानि जानन्ति। वाचः चतुर्ष्वपि स्वरूपेषु त्रीणि परादीनि गुहायां निहितानि हृदयान्तर्वर्तितत्वात्। तुरीयं तु पदं वैखरीसंज्ञकं सर्वे मनुष्या वदन्ति। नादस्य ध्वनिरूपत्वं तस्य च पुनः स्फोटरूपत्वं कथमापद्यत इत्युक्तं भर्तृहरिणा स्वकीये वाक्पदीये।[30]

---

[19] द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परञ्च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ – *मैत्रायण्याम्* ६.२, *अमृतबिन्दूपनिषदि* १७

[20] अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ – *वाक्पदीये*, ब्रह्मकाण्डे १.१

[21] *मनुस्मृतौ* २.१६६

[22] आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥ – *मनुस्मृतौ* २.१६७

[23] वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसांस्त्रियः। – *मनुस्मृतौ* २.१७७

[24] योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ – *मनुस्मृतौ* २.१६८

[25] यदि वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तत्। – *शतपथब्राह्मणे* ५.१.३.११

[26] त्रेधा विहिता हि वाक्। ऋचो यजूँषि सामानि। – *शतपथब्राह्मणे* ६.५.३.४

[27] चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ – *ऋग्वेदे* १.१६४.४५

[28] *निरुक्ते* १३.१.७

[29] युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥ – *शतपथब्राह्मणे सायणभाष्यस्योपोद्घाते*

[30] अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्। तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥
वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः। करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥
नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो न परश्च सः। अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥

→

एवमुक्ताभिः कारिकाभिः नादब्रह्मणो ध्वनिरूपत्वं ध्वनेश्च पुनरर्थादिविभागद्वारा स्फुटत्वमुपक्रमते। तेनेदं फलितं यद् ध्वनिरेव शब्दरूपो भवति। वस्तुतस्तु ध्वनिशब्दस्य सामान्योऽर्थोऽस्ति – **तद्गुणं यस्य ग्रहणं श्रोत्रेन्द्रियेण भवति।** अनया परिभाषया वाद्ययन्त्रेभ्यः, पदार्थानां परस्परं संघर्षेभ्यश्च यध्द्वनिरुत्पद्यते तध्द्वनिवाचको भवति। प्रातिशाख्यग्रन्थेषु ध्वनिशब्दस्य प्रयोगो न दृश्यते। तत्र ध्वन्यर्थे शब्द एव व्यवहृतः। वैज्ञानिकदृष्ट्या ध्वनेर्द्वौ विभागौ स्तः। तत्र प्रथमः तु नवजातकस्य कस्यचिच्छिशोर्वागिन्द्रियान्निस्सृता ध्वनिरर्थज्ञानासमर्था, वाद्ययन्त्रेभ्यश्चान्यसाधनेभ्यश्चोत्पन्नध्वनिर्येनार्थबोधो न सम्भवति। द्वितीयस्तु स्फुटशब्दोच्चारणसमर्थानां मनुष्याणामुच्चारणावयवेभ्यो निस्सृतो ध्वनिर्येनार्थबोधो भवति। तदुक्तमपि – **प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।**[31] भर्तृहरिमतानुसारेणार्थबोधकारी शक्तिः "स्फोट" इत्युच्यते। स च स्फोटोऽष्टविध उक्तः – वर्णस्फोटः, पदस्फोटो वाक्यस्फोटश्चेति त्रिधा। तत्रपि जातिव्यक्तिभेदेन पुनः षोढा। अखण्ड-पदस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्चेति सङ्कलनयाऽष्टौ स्फोटा भवन्ति। स्फोटस्यैव व्यञ्जकं तत्त्वं ध्वनिरित्युच्यते। स्फोटशब्दस्यार्थो भवति – **स्फुटति अर्थो यस्मात् स** इति। श्लोकवार्तिककारेणोक्तं – **स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते**[32] इति।

भाषाविज्ञाने जीवमुखान्निःसृतं वाक्यं ध्वनिरित्युक्तम्। यतो ध्वने सम्बन्धो भाषया सहास्ति, तथा भाषायाः कार्यमस्ति मानवमस्तिष्कस्थविचाराणामादानप्रदनमिति। अत एव ध्वनिशास्त्रन्तर्गतं केवलं तेषामेव ध्वनीनामध्ययनं क्रियते येषां सम्बन्धो जीवानां वागीन्द्रियात् श्रोत्रेन्द्रियाच्च भवति। भाषा ध्वन्याश्रितैव भवति तस्माद्भाषाविज्ञाने ध्वनिशास्त्रस्य स्थानमतीव महत्त्वपूर्णं वर्तते।

पूर्वं यदुक्तमृग्वेदीयोद्धरणे तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति विषयेऽस्मिन् शतपथब्राह्मणे बहु व्याख्यातम्।[33] एवमुपर्युक्तप्रकारेण वाचस्तुरीयस्यापि निरुक्तानिरुक्तस्वरूपभेदैरनेकविधभेदा भवन्ति। तेन वाक्तत्त्वभूतस्य शब्दस्यास्य माहात्म्यं परमात्मैव वर्णितमस्ति शास्त्रेषु। तस्मादेव कारणाशब्दस्य ब्रह्मात्मकत्वेन सर्वत्र स्तुतिर्विद्यते। तच्च ब्रह्मस्वरूपमित्थं **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**[34] इत्यादिभिर्विविधाभिः परिभाषाभिः परिभाषितमिति। तस्य चानन्तस्य शब्दरूपस्य ब्रह्मणोऽन्तं इन्द्रादयः स्वर्गस्था देवा अपि न प्राप्तवन्तस्तर्हि मादृशानां सामान्यमनुष्याणां का कथा? अत एव करपात्रस्वामीत्यपरनामधेयेन हरिहरानन्दसरस्वतिना स्वकीये वेदस्वरूपविमर्शाभिधे ग्रन्थे तृतीयपृष्ठे **इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः** इति कस्यचिच्छास्त्रस्य वचनमुद्धृतम्।

उपसंहारः

यद्यप्यनन्तप्रपञ्चसृष्टेः ईश्वरज्ञानपूर्वकत्वेन तदनन्तज्ञानेष्वनुविद्धानां शब्दानामप्यानन्त्यम्[35] इति अभियुक्तोक्तेः सिद्ध्यत्येव। अत एव यथा ब्रह्मणो नित्यत्वमनादित्वमनन्तत्वञ्च वर्णितमेव परमात्मैव शब्दरूपस्य वेदस्यापि नित्यत्वमनादित्वमनन्तत्वञ्च सिद्ध्यत्येव। वेदस्यानन्त्यप्रतिपादनपुरस्सरमिन्द्रभरद्वाजसंवादद्वारा तैत्तिरीयब्राह्मणे 'अनन्ता वै वेदा' इति सूक्तिरुपन्यस्ता।[36]

← प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात् । तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ।।
आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते । अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ।। – *वाक्पदीये*, ब्रह्मकाण्डे ४६-५०

[31] *व्याकरणमहाभाष्ये* पस्पशाह्निके

[32] *वाक्पदीये*, ब्रह्मकाण्डे १.२२ कारिकाया व्याख्यायाम्

[33] तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयाँसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदति। – *शतपथब्राह्मणे* ४.१.३.१६

[34] *तै०उप०* २.१.१

[35] न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। – *वाक्पदीये*, ब्रह्मकाण्डे १२३

[36] भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच – भरद्वाज यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेतेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपान् विज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार। तेषां हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य –

अनेन श्रौतवचनेन सुस्फुटमेव यदीश्वरीयनित्यानन्तज्ञानेषु अनुविद्धाः शब्दरूपा वेदा अपि नित्या अनन्ताश्चेति सर्वमनवद्यम्। अत एव च वेदैरेव ब्रह्मा सृष्टिं करोति इति श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रसिद्धिराञ्जस्येनोपपद्यते। नात्र वेदशब्दव्यपदेश्यं किमपि तत्त्वान्तरं निर्दिष्टम्, शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् इति 'शब्द'पदनिर्देशात्। अत एव **भूरिति व्याहरत्, तस्माद्भुवमसृजत्** इत्यादिभिः शब्दव्याहरणपूर्विका सृष्टिः श्रूयते। यथा लोके कुलालो घटशब्देन घटं स्मृत्वा दण्डचक्रादिव्यापारेण तं सृजति तथैव परमेश्वरोऽपि तैस्तैः शब्दैस्तांस्तानर्थान् स्मृत्वा सृजति। तैत्तिरीयब्राह्मणे सवनप्राधान्यात् कर्मणां प्रातरादिभेदेन ऋगादिमत्त्वम्, तत्त्वान्तरैरपि कथमशून्यत्वव्यवस्था सूर्यस्य सेत्स्यति। अत एव च सूर्यस्य त्रयीमयत्वमुपपादितं श्रुतौ।[37] सायणोक्तो मन्त्रार्थस्तु– **दिवि वर्तमान आदित्यो देवः पूर्वाह्णे काल ऋग्देवताभिः सह गच्छति। अह्नो मध्यमे भागे यजुर्देवतायाः समीपेऽवतिष्ठते। अस्तमयकाले सामवेददेवतया पूज्यते। तदेवं त्रिभिर्देवैभियुक्तः सूर्यः सर्वदा गच्छति।** प्रश्नोपनिषदि पञ्चमप्रश्ने शिबिपुत्रः सत्यकामः पैप्पलादमोङ्कारोपासनाविषयकं प्रश्नं पप्रच्छ। तस्योत्तरं पैप्पलादेन प्रस्तुतं यत् –

> **स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोक-मुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥3 ॥**

श्रुतावस्मिन् ओङ्कारस्य प्रथमा मात्रा ऋग्वेदस्वरूपा, सा भूर्लोकेन सम्बद्धेत्युक्ता। अतस्तस्या मात्रयाश्चिन्तनेन साधकम् ऋग्वेदस्य ऋचः पुनः मनुष्यशरीरे प्रवेशयन्ति। तत्र स्थित्वा च स नवीनमनुष्यजन्मनि तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च सम्पन्नो भूत्वा श्रेष्ठाचरणशीलः श्रेष्ठो मनुष्यो भूत्वाऽतिशयस्यैश्वर्यस्योपभोगं करोति न स पुनरधमयोनिषु गच्छति। मृत्योरनन्तरं स पुनो मनुष्यशरीरमेवाप्नोति।

> **अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥4 ॥**

यदि साधको द्विमात्रस्योङ्कारस्योपासनां करोत्यर्थात् विराट्-स्वरूपपरमेश्वरस्याङ्गभूतयोः भूर्भुवः इत्यनयोः (मनुष्यलोक-स्वर्गलोकयोरैश्वर्यप्राप्त्यभिलाषेण) मात्रउरुपासनां करोति तयोपासनया स मनोमयं चन्द्रलोकं प्राप्नोति। तं साधकं यजुर्वेदीयो मन्त्रोऽन्तरिक्षादुपरि चन्द्रलोके प्रापयति। स तत्रत्यं स्वर्गलोकस्थं विविधमैश्वर्यं सम्भुज्य पुण्यक्षये पुनर्मृत्यलोकमागच्छति।

> **यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा। विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥5 ॥**

यः साधकः त्रिमात्रेणोङ्कारस्वरूपाक्षरद्वारा परब्रह्मपरमेश्वरस्योपासनां करोति स यथा पादोदरः (सर्पः) त्वचा विनिर्मुच्यते तथैव सर्वविधैः कर्मबन्धनैः विनिर्मुक्तः सर्वथा निर्विकारो भवति। तं साधकं सामवेदीयो मन्त्रस्तेजोमयात् सूर्यमण्डलादादाय सर्वोपरि ब्रह्मलोके प्रापयति। तत्र गत्वा स जीवसमुदायरूपाच्चेतनतत्त्वादपि श्रेष्ठं परब्रह्मपुरुषोत्तमं प्राप्नोति। यत्सम्पूर्णञ्जगत् स्वशक्तेरेकस्मिन्नंशे धृत्वा तिष्ठति, निखिलेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे सर्वत्र व्याप्तः, अन्तर्यामितया सर्वेषां हृदि विराजते तं परात्परं दिव्यं पुरुषमुपैति।

इत्यादिभिर्विज्ञायते यदृगादिमन्त्रणामधिष्ठातारो देवाः सन्ति, पूर्वाह्णादिदिवसभागेषु सवितुस्तैर्युक्तत्वमुपपद्यते। त एवादित्यात्मभूताः सन्तः पूर्वाह्णादिषु तपन्ति। प्रातरादिसवनेषु क्रमेण ऋग्यजुस्साम्नां प्रयोगा अपि भवन्ति। एवमुक्तप्रकारेणायं शब्दवारिधिर्नित्योऽनन्तोऽसीमश्च। अस्य शब्दवारिधेः पारं गन्तुमिन्द्रादयोऽपि न समर्था बभूवुः

वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुभिरन्ववोचथाः। *तै०ब्रा०* ३.१०.११.३.४

[37] ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येऽह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः ।। – *तै०ब्रा०* ३.१२.९.१

ग्रन्थसूचीविवरणम्

अष्टाविंशत्युपनिषत्संग्रहः, चौखंभा-ओरियण्टालिया दिल्ली, संस्करणम्, २००६ ई०।

ईशादि नौ उपनिषद्, गीताप्रेसः, गोरक्षपुरम्, १९ तमं संस्करणम्, २०५६ वि०सं०।

ऋग्वेदसंहिता, नागप्रकाशकः दिल्ली, मूलमाम्, तृतीयसंस्करणम्, २००० ई०।

ब्राह्मणोद्धार-कोषः, विश्वेश्वरानन्दसंस्थानम्, होशियारपुरम्, प्र०सं०, १९६६ ई०।

मनुस्मृतिः, चौखंभासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, तृतीयसंस्करणम्, २०३९ वि०सं०।

यजुर्वेदसंहिता, नागप्रकाशकः दिल्ली, मूलमाम्, द्वितीयसंस्करणम्, १९९७ ई०।

वाक्पदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, भर्तृहरिः, चौखंभा-ओरियण्टालिया दिल्ली, २०२१ ई०।

वाजसनेयिप्रातिशाख्यम्, डॉ० वीरेन्द्रकुमारवर्मा, चौखंभासंस्कृतप्रतिष्ठानम्, दिल्ली, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, १९८७ ई०।

वेदस्वरूपविमर्शः, करपात्रिस्वामिविरचितः, भक्तिसुधासाहित्यपरिषद्, कलकत्ता, प्रथमसंस्करणम्, २००० ई०।

हिन्दू संस्कृति में जन्ममूलक जातिव्यवस्था

*प्रो० रामानुज उपाध्याय**

शोधपत्र सार (Abstract): प्रस्तुत शोधपत्र में "हिन्दू" पद के लक्षण, हिन्दू संस्कृति की तात्त्विक संरचना तथा वर्ण-व्यवस्था के दार्शनिक एवं शास्त्रीय आधारों का विवेचन किया गया है। गो-भक्ति, प्रणव में दृढ़निष्ठा तथा पुनर्जन्म में विश्वास हिन्दुत्व की आधारभूत पहचान है। हिन्दू संस्कृति को वेद एवं वेदानुकूल आर्ष-धर्मग्रन्थों पर आधारित लौकिक तथा पारलौकिक संस्कृति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। हिन्दू संस्कृति ही समस्त संस्कृतियों की जननी है। शोधपत्र का मुख्य प्रतिपाद्य वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप है। जाति-निर्णय का वास्तविक आधार देश नहीं, अपितु धर्मग्रन्थ हैं। वेदानुगत परम्परा के अनुसार जन्मना वर्ण-व्यवस्था ही सामाजिक समता, क्रमोन्नति तथा सांस्कृतिक स्थायित्व की मूल भित्ति है। साथ ही इस शोधलेख में गुण एवं कर्म की प्रधानता से वर्ण-निर्णय की आधुनिक अवधारणा का *गीता*, उपनिषद्, *महाभारत*, स्मृतियों एवं व्याकरण-परम्परा के प्रमाणों द्वारा तात्त्विक समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसमें बताया गया है कि *गीता* में वर्णित "गुणकर्मविभागशः"[1] का तात्पर्य वर्तमान जीवन में अर्जित गुण-कर्म न होकर पूर्वजन्मजन्य संस्कारों से उत्पन्न स्वभाव एवं उनके अनुकूल कर्म-विभाजन से है। ब्राह्मणत्व आदि वर्ण जन्मप्रधान होते हुए भी कर्म द्वारा उत्कर्षशील हैं। देवताओं, पशुओं एवं वनस्पतियों तक में वर्ण-विभाग की उपस्थिति इस व्यवस्था की अनादिता को सिद्ध करती है। इस प्रकार यह शोधपत्र जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था को शास्त्रसम्मत, तर्कसंगत तथा समाजोन्नायक सिद्ध करता है।

शब्दकुञ्जिका (Keywords): हिन्दू लक्षण, हिन्दू संस्कृति, सनातन वैदिक परम्परा, वर्ण-व्यवस्था, जन्मना जाति, गुण-कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, संस्कार सिद्धान्त, वेद एवं स्मृति, सामाजिक समन्वय।

भूमिका

सर्वप्रथम यहाँ जिज्ञासा होती है कि हिन्दू पद का लक्षण क्या है, क्योंकि न्यायदर्शन के अनुसार किसी भी पदार्थ की सिद्धि लक्षण और प्रमाण से ही होती है, "**लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः",**[2] अतः हिन्दू पद का लक्षण किया जा रहा है, यद्यपि विविध शास्त्रों में इसके लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के दिए गए हैं, परन्तु यहाँ निर्दुष्ट लक्षण की चर्चा की जा रही है जो सर्वमान्य है –

गोषु भक्तिर्भवेद् यस्य प्रणवे च दृढा मतिः।
पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दूरिति स्मृतः॥[3]

अर्थात् गोमाता में जिनकी भक्ति हो, प्रणव में जिनकी दृढ़ मति हो तथा पुनर्जन्म में जिनका पूर्ण विश्वास हो वही हिन्दू हैं।

यह लक्षण सनातनी, आर्यसमाजी, सिख, जैन, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों में समान रीति से घटित होता है। इसी को प्रकारान्तर से इस रूप में भी कहा गया है –

* प्रोफेसर, वेद विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली। <ramanuj@slbsesv.ove.in>

1 *श्रीमद्भगवद्गीता* 4.13

2 *जैमिनीयन्यायमाला*, धर्मलक्षणाधिकरण के 35वें श्लोक की व्याख्या में।

3 *परम्परा से प्राप्त*

ओंकारमूलमन्त्राढ्यः पुनर्जन्मदृढाशयः ।
गोभक्तो भारतगुरुर्हिन्दुर्हिंसनदूषकः ॥[4]

इसमें विशेष रूप से यह बताया गया है कि अपनी राष्ट्रभूमि से प्रेम तथा गौरव का अनुभव करते हुए हिंसा को निन्द्य मानने वाला हिन्दू है। इसी प्रकार वेद एवं वेदानुकूल आर्ष-धर्मग्रन्थों के अनुरूप लौकिक–पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयसोपयोगी क्रिया को हिन्दू संस्कृति कहते हैं, जिसे आज वैदिक संस्कृति या भारतीय संस्कृति से कहा जाता है। इसे और स्पष्ट करते हुए यह भी कह सकते हैं कि सनातन परमात्मा ने अपने अंशभूत जीवात्माओं को सनातन अभ्युदय एवं निःश्रेयस परमपद प्राप्त कराने के लिए जिस सनातन मार्ग का निर्देश किया, तदनुकूल संस्कृति ही सनातन वैदिक हिन्दू संस्कृति है। यह हिन्दू संस्कृति ही समस्त संस्कृतियों की जननी है।

सामान्यतया जाति-निर्णय के दो आधार प्रतीत होते हैं – देश और धर्मग्रन्थ। कुछ जातियों के नाम देशों के नाम पर प्रचलित हैं, जैसे – जर्मन, फ्रेंच, बङ्गाली, पञ्जाबी आदि तथा कुछ जातियों के नाम धर्मग्रन्थों के आधार पर होते हैं, जैसे बाइबल को मानने वाले ईसाई और कुरान को मानने वाले यवन (मुस्लिम) जाति के होते हैं।

गम्भीरता से विचार करने पर देश के आधार पर जाति का निर्णय समुचित नहीं है। कारण यह है कि बङ्गाल के निवासी मुस्लिम तथा हिन्दू दोनों हैं किन्तु, दोनों बङ्गाली होते हुए भी एक जाति के नहीं माने जा सकते। इनकी जाति का निर्णय धर्मग्रन्थों के आधार पर ही हो सकता है। अतः कुरान को मानने वाले मुस्लिम तथा वेदादि शास्त्रों को मानने वाले हिन्दू जाति के माने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि जाति-निर्णय में धर्मग्रन्थ ही आधार है। इस प्रकार वेदानुगत-वर्णाश्रम-धर्मानुकूल आचार-विचार के द्वारा जीवन व्यतीत करने वाला ही हिन्दू होता है तथा मनुष्य के लौकिक–पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार–विचार ही भारतीय संस्कृति है। मनुष्य को मानव-विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचाकर जीवन्मुक्ति की अवस्था में प्रतिष्ठित कर देना ही हिन्दू संस्कृति की महान् विशेषता है। इसीलिए यह सर्वसामर्थ्ययुक्त एवं पूर्ण संस्कृति है। सामाजिक सर्वोन्नति के लिए इसमें प्राकृतिक गुणानुसारी कर्मों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों की व्यवस्था वेदानुमोदित है। इसके मूल में हिन्दू संस्कृति के जन्मान्तरवाद की मान्यता ही आधारभूत कारण है। बात यह है कि प्राग्जन्म के संस्कार ही अग्रिम जन्म के हेतु होते हैं, यह मीमांसा का सिद्धान्त है – "कर्मबीजं संस्कारः तथा तन्निमित्ता जातिः।" अर्थात् संस्कार ही कर्म का बीज है और वही जन्म का कारण भी है। तात्पर्य यह है कि जीव के पूर्व संस्कारों का निर्णय जन्म के आधार पर करके उसके अधिकारानुसार गर्भाधानादि संस्कारों के द्वारा जीव के प्राक्तन संस्कारों का शोधन करके उपनयन आदि के द्वारा अतिशयाधान करते हुए उसी जाति के कर्मों में नियोजित कर हिन्दू संस्कृति क्रमोन्नति के राजमार्ग पर मानव को अग्रसर करती है। इसके विपरीत समाज में मनुष्यों को उनके प्राक्तन संस्कारों से विपरीत कर्मों में लगाने के कारण ही व्यक्ति तथा समाज को आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का पतन हो जाता है। इसी कारण आज ग्रीस, रोमन आदि पाश्चात्य जातियों का ऐकान्तिक पतन देखा जा सकता है।

इस संस्कृति को सतत शक्तिशाली तथा उन्नतशील बनाए रखने के लिए ही हिन्दू-संस्कृति में जन्म से ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की स्थापना की गई है। यही हिन्दू जाति के चिरञ्जीवी रहने का एक प्रधान कारण है। यह लोक में प्रायः देखा जाता है कि क्षत्रिय के बालक की जन्म से ही वीर प्रकृति होती है। इसी प्रकार अन्य सभी वर्णों के बालक स्वभाव से ही अपने-अपने प्राकृतिक गुणों से युक्त होते हैं। इसी को *गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं –

---

4 *परम्परा से प्राप्त*

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।[5]

इस प्रकार जन्मना वर्ण-व्यवस्था में सामाजिक कार्यों का स्वाभाविक सन्तुलन बना रहता है और अपने वर्ण के स्वाभाविक कार्यों में प्रत्येक पीढ़ी उन्नति करती जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग की उन्नति का स्वाभाविक मार्ग जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था से प्रशस्त होता है।

वर्तमान में कुछ आधुनिक साक्षरों के विचार से वर्ण-व्यवस्था जन्ममूलक न होकर गुण एवं कर्म से होनी चाहिए, क्योंकि *श्रीमद्भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।[6]

अर्थात् मनुष्य के गुण एवं कर्म को देखकर ही उसका ब्राह्मण आदि वर्ण निश्चित करना चाहिए, जिससे इस आधुनिक समय में अच्छे गुणों एवं कर्मों की प्रधानता से समाज का कल्याण हो। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ऐसे भी निरक्षर तथा दुर्गुणों से युक्त एवं शुभ कर्मों से रहित ब्राह्मण जाति के लोग देखे जा रहे हैं, जिनके कारण समाज की क्षति निरन्तर हो रही है तथा जिससे आधुनिक समाज अत्यन्त त्रस्त है। अतः जन्म से वर्ण-व्यवस्था को हटाकर उसके गुण एवं कर्म के अनुसार जाति निश्चित करनी चाहिए, इसके समर्थन में और भी बहुत सारे आक्षेप होते रहते हैं परन्तु यहाँ उनका उल्लेख न करते हुए कर्ममूलक जाति-व्यवस्था समाधान में यही कहा जा सकता है कि वेदादि शास्त्रों के निर्णयानुसार जन्मना जाति ही उचित है। इस सन्दर्भ में यदि तर्कपूर्वक विचार करें, तो *महाभारत* के अनुसार द्रोणाचार्य युद्ध कला-कौशल के आचार्य एवं महाप्रतापी योद्धा थे। गुण एवं कर्म के अनुसार उन्हें तो क्षत्रिय कहना चाहिए, लेकिन जन्म के कारण आज भी उन्हें ब्राह्मण ही कहा जाता है। इसी प्रकार गुण एवं कर्म से परशुराम एवं कृपाचार्य परम प्रतापी योद्धा थे, परन्तु आज उन्हें कोई भी क्षत्रिय नहीं कहता, क्योंकि वे जन्म से ब्राह्मण थे। इसी क्रम में अश्वत्थामा ब्राह्मण कुल में होकर भी क्रूरकर्मा था। उसने रात में द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का वध कर दिया। उत्तरा के गर्भ पर भी ब्रह्मास्त्र का प्रहार किया फिर भी अश्वत्थामा का वध जन्मना ब्राह्मण होने के कारण ही नहीं किया गया।

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ॥[7]

ब्रह्मबन्धुर्न हन्तव्य आततायी वधार्हणः।
मयैवोभयमाम्नातं परिपाह्यनुशासनम् ॥[8]

यही कारण है कि अश्वत्थामा को अपमानपूर्वक शिविर से बाहर कर दिया गया यही अधम ब्राह्मण का वध है। ऐसे पुराणों में असङ्ख्य उदाहरण हैं। अतः जन्ममूलक ही वर्ण-व्यवस्था माननी चाहिए। गुण-कर्म के अनुसार किसी भी मनुष्य की जाति निश्चित करना अत्यन्त कष्टसाध्य ही नहीं, अपितु असम्भव है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि फिर गीतोक्त भगवान् श्रीकृष्ण के वचन – "गुणकर्मविभागशः" का तात्पर्य क्या है? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि – यहाँ कर्म का अभिप्राय विभिन्न वर्णों के स्वाभाविक कर्त्तव्यों से है तथा गुण का अभिप्राय सत्त्व, रज, तम आदि इन तीन गुणों से है, क्योंकि यह सृष्टि ही त्रिगुणात्मिका है, जिसमें सत्त्वगुणों की प्रधानता से ब्राह्मण, रज की प्रधानता से क्षत्रिय एवं तम की प्रधानता से अन्य वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि स्वभाव (पूर्वजन्मगत संस्कार से उत्पन्न गुणों के अनुसार ही कर्मों का विभाग

---

[5] *श्रीमद्भगवद्गीता* 18.41

[6] *श्रीमद्भगवद्गीता* 4.13

[7] *श्रीमद्भागवतम्* 1.7.43

[8] *श्रीमद्भागवतम्* 1.7.53

होता है) जिसका उल्लेख *गीता* के अठारहवें अध्याय में हुआ है –

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥[9]

यहाँ स्वभाव-प्रभव पद से ही ज्ञात होता है कि पूर्व जन्मजात गुणों के द्वारा ही वर्ण (जाति) निश्चित होती है। इस वचन में *छान्दोग्योपनिषद्* का यह वचन अनुसन्धेय है –

> रमणीयचरणा ... रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह। कपूयचरणाः ..... कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥[10]

इसका तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्मों के प्रभाव से तथा सत्त्व, रज, तम आदि गुणों की अधिकता से ही दूसरे जन्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कुल में जन्म होता है तथा जो पाप कर्मादि करते हैं वे अगले जन्म में चाण्डाल कुक्कुर सूकर आदि योनियों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार जन्मानुसारी ही वर्ण विभाग है गुणकर्मानुसारी नहीं। बात यह है कि ब्राह्मणादि वर्णों का कर्मणा भी उत्कर्ष अवश्य होता है क्योंकि बीज और क्षेत्र दोनों ही अङ्कुर के कारण होते हैं, उसी प्रकार जन्म और कर्म दोनों ही जाति के मूल हैं। प्राक्तन गुणकर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुणकर्मों से मनुष्य का उत्कर्ष होता है। जिस प्रकार शास्त्रों में माता, भगिनी आदि को उद्देश्य करके उनके कर्त्तव्यों का उपदेश किया गया है उसी प्रकार ब्राह्मण आदि वर्णों को उद्देश्य करके उनके कर्त्तव्यों का शास्त्रों में विधान किया गया है। इसी तरह समाज में व्यवस्था सुदृढ़ रह सकती है। अतः "**ब्राह्मणो यजेत**" इत्यादि विधि-वाक्यों का तात्पर्य यह है कि "**यः ब्राह्मणो भवितुमिच्छेत स यजेत**", "**यो यजेत स ब्राह्मणः**" ऐसा विधान नहीं है। "**पत्नी एवं कुर्यात्**" यही विधान है "**या एवं कुर्यात् सा पत्नी**" ऐसा विधान नहीं है अन्यथा पत्नी का कर्म करने से दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जाएगी। अतः उपनयन वेदाध्ययन अग्निहोत्रादि अनुष्ठान भोजन विवाहादि सांस्कृतिक कर्म जन्मना जाति में ही सम्भव है। इसी बात को महाभाष्यकार पतञ्जलि भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

तपः श्रुतञ्च योनिश्च एतत् ब्राह्मण्यकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥[11]

यहाँ भी तप, वेद तथा योनि यही ब्राह्मण होने में तीन कारण हैं। तप एवं वेद से हीन ब्राह्मण जातिब्राह्मण है। यहाँ भी जन्मप्रधान वर्ण-व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए जाति शब्द का प्रयोग किया गया है। *मनुस्मृति* 10.5 में आचार्य मनु भी इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥

---

[9] *श्रीमद्भगवद्गीता* 18.40-42

[10] *छान्दोग्योपनिषद्* 5.10.7

[11] *महाभाष्यम्* 5.1.115

ब्राह्मण पति–पत्नी से उत्पन्न सन्तान ही ब्राह्मण, क्षत्रिय पति–पत्नी से उत्पन्न सन्तान ही क्षत्रिय होता है; इसी प्रकार वैश्य आदि को भी समझना चाहिए।

हारीतस्मृति 1.15 में –

ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव उत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः।

अत्रिस्मृति 1.138 में भी कहा गया है कि –

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार यह वर्ण विभाग न केवल मनुष्यों में ही है, अपितु इन्द्रादि देवों में गौरश्वादि पशुओं तथा लता, गुल्म, वृक्षादि पदार्थों में भी है। जैसे –

> देवताओं में बृहस्पति ब्राह्मण है, इन्द्र, सोम, पर्जन्य आदि क्षत्रिय जाति के देवता हैं, अष्टवसु, एकादशरुद्र, वैश्वदेव, मरुत आदि गणदेवता ये वैश्य जाति के हैं। पूषा देवता शूद्र जाति के हैं। पशुओं में भी अज – ब्राह्मण, अश्व – क्षत्रिय, रासभ – वैश्य एवं शूद्र जाति का है। वृक्षों में पलाश ब्राह्मण है, दूर्वा क्षत्रिय है।[12]

इस प्रकार यह जन्मना वर्ण विभाग न केवल आज आधुनिक समाज में अपितु सभी जीवों में है, जिससे वर्ण विभाग की अनादिता सिद्ध होती है। यदि कर्ममूलक ही जाति विभाग होता तो अजादि पशुओं में पलाशादि वृक्षों में शमादि गुण तथा अध्ययनादि कर्मों का सर्वथा अभाव देखा जाता है। ऐसी स्थिति में शास्त्रों के अनुसार कैसे ब्राह्मणादि माना जा सकता है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि अनादि यह वर्ण-व्यवस्था जन्मना ही समुचित है, गुण कर्म से नहीं।

इति शम् !

12 *बृहदारण्यक उपनिषद्* 3.9.6

मेघ स्वरूप

*डॉ० शालिनी मल्होत्रा**

शोधपत्र सार ः विश्व में सभी कार्य किसी न किसी निमित्त के आधार पर ही होते हैं। यदि इस विषय पर गम्भीर रूप से विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि कोई भी घटना बिना किसी निमित्त के नहीं होती। यदि मनुष्य को घटना के कारण का पूर्व ज्ञान रहे तो मनुष्य कारण का प्रत्यक्ष होने पर घटना का सफलतापूर्वक लाभ उठा सकता है या उससे होने वाले दुष्परिणाम से बच सकता है। इसी भाव को मस्तिष्क में रखकर मेरे द्वारा मेघ स्वरूप विषय पर शोध कार्य आरम्भ किया गया। यदि हमें वर्षा से पूर्व ही मेघ की स्थिति, विद्युत की दिशा एवं वर्षा का ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब हम उसका पूर्ण रूप से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। विश्व मेघ से पूर्ण रूप से परिचित है। चर–अचर, दृश्य–अदृश्य, स्थूल–सूक्ष्म सभी मेघ के द्वारा प्रभावित होते हैं। वह सभी जीवों का भरण-पोषण करने में सहायक है। प्रकृत शोधपत्र में मेघ को शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयास किया गया है। कालिदास कृत *मेघदूतम्* न केवल भारतीय वाङ्‌ की अनुपम कृति है; अपितु विश्व साहित्य एवं विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें प्राप्त एक पंक्ति "**धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपात क्व मेघः**" ने मुझे इस विषय का चयन करने के लिए प्रेरित किया; जिसका विस्तृत वर्णन शोधपत्र में किया गया है। प्रकृत शोधपत्र में मेघ रचना एवं प्रकार यथा आवर्त्तक/स्तरी मेघ/स्ट्रेटस (stratus), संवर्त्तक/कपासीमेघ/क्युमुलस (cumulus), पुष्कर/पक्षाभ मेघ/सिरस (cirrus), द्रोण/वर्षा मेघ/निम्बस (Nimbus), हिम रचना एवं प्रकार, मेघ मार्ग तथा मानसून मार्ग में समानता, मेघ और विद्युत, मेघ गर्भधारण एवं वृष्टि आदि अनेक विषयों को न केवल शास्त्रीय दृष्टि से अपितु वैज्ञानिक, पर्यावरणीय, भौगोलिक, दृष्टि से भी देखने का प्रयास किया गया है। मेघ विज्ञान का ज्ञान व्यक्ति, समाज तथा विश्व के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका एक उद्देश्य पर्यावरण एवं प्रकृति की समस्याओं के प्रति मनुष्य तथा समाज को अवगत कराना है। संस्कृत ग्रन्थों में मेघ एवं वृष्टि के सम्बन्ध में जो वर्णन प्राप्त होता है, विज्ञान के अनुसार भी वह उसी रूप में स्वीकार्य होगा या नहीं इस विषय पर टिप्पणी करना मेरे शोध का उद्देश्य नहीं है। केवल प्राचीन सिद्धान्तों को प्रकाश में लाना तथा उससे किस प्रकार अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, यही मेरे शोधपत्र का उद्देश्य है। जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रकृत शोध में किया गया है।

बीज शब्द – मेघ, आवर्त्तक, संवर्त्तक, पुष्कर, गर्भधारण, वृष्टि, विद्युत, मेघ मार्ग, हिम, प्रालेय, तुषार, धूमिका, अवश्याय।

भूमिका

संस्कृत ग्रन्थों में ज्ञान एवं विज्ञान परम्परा का प्रवाह अनादि काल से अनवरत गति से चला आ रहा है। जिस प्रकार समुद्र के गर्भ में अनेक रहस्य समाहित हैं, जिनका अन्वेषण निरन्तर किया जाता रहा है। उसी प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में भी अनेक गूढ़तम विषय समाहित हैं, जिनमें से विज्ञान भी एक है। विज्ञान यह शब्द सुनते ही श्रोता के (है। प्रवाह ज्ञान का हो या विज्ञान का, समुद्र का हो या किसी नदी का, वह अपने गर्भ में बहुत कुछ समेटकर रखता है।) मस्तिष्क में अल्बर्ट आइंस्टीन, मैरी क्यूरी, आइजैक न्यूटन, चार्ल्स डार्विन, निकोला टेस्ला आदि के नाम आते हैं, क्योंकि आज हम सब यह पूर्ण रूप से स्वीकार कर चुके हैं कि इन्हीं वैज्ञानिकों ने विज्ञान का आरम्भ किया, परन्तु यह कहना पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि भारत में इनसे

* पूर्व शोध सहायिका, अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान। <*e-mail* : miglanishalini@gmail.com>

पूर्व भी अनेक वैज्ञानिक यथा कपिल, चरक, कणाद, भास्कराचार्य आदि थे। संस्कृत वाङ्मय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इस व्यापकता के कारण उसका सम्बन्ध प्रायः सभी प्रकार की विद्याओं से है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से संस्कृत वाङ्मय का सूक्ष्म परिशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि शास्त्रों में वैज्ञानिक तत्त्वों का अत्यधिक सन्निवेश हुआ है। सभी वैज्ञानिक तत्त्वों का यदि आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन किया जाए, तो अनेक प्रकार के शोध किए जा सकते हैं, यथा चिकित्सा विज्ञान, जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान, पर्यावरण विज्ञान आदि। इन सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित अनेक उदाहरण हमें यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। विश्व में सभी कार्य किसी न किसी निमित्त के आधार पर ही होते हैं। यदि इस विषय पर गम्भीर रूप से विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि कोई भी घटना बिना किसी निमित्त के नहीं होती। यदि मनुष्य को घटना के कारण का पूर्व ज्ञान रहे तो वह कारण का प्रत्यक्ष होने पर घटना का सफलतापूर्वक लाभ उठा सकता है। इसी भाव को मस्तिष्क में रखकर प्रकृत शोधपत्र पर कार्य आरम्भ किया गया। यदि हमें वर्षा से पूर्व ही मेघ की स्थिति, विद्युत की दिशा एवं वर्षा का ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब हम उसका पूर्ण रूप से लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

अन्नं जगतः प्राणाः प्रावृट्कालस्य चान्नमायत्तम्।
यस्मादतः परीक्ष्यः प्रावृट्कालः प्रयत्नेन॥[1]

संसार का प्राण अन्न है,अन्न वर्षा ऋतु के अधीन है, अतः यत्नपूर्वक वर्षा की परीक्षा करनी चाहिए। इस सम्पूर्ण विश्व में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी मेघ से पूर्णरूप से परिचित हैं। चर–अचर, दृश्य–अदृश्य, स्थूल–सूक्ष्म सभी मेघ के द्वारा प्रभावित होते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि मानो मेघ का संचय मानव त्याग के लिए होता है। वह सभी जीवों का भरण-पोषण करने में सहायक है। प्रकृत शोधपत्र में मेघ को शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयास किया गया है। कालिदास कृत *मेघदूतम्* न केवल भारतीय वाङ्मय की अनुपम कृति है, अपितु विश्व साहित्य एवं विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें प्राप्त एक पंक्ति ने इस विषय का चयन करने के लिए प्रेरित किया जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

मेघ शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे के अनुसार मेहतिवर्षति जलम्, मिह् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर मेघ शब्द निष्पन्न हुआ है। निरुक्तकार यास्क ने मेघ के तीस नाम वर्णित किए हैं। निरुक्त में कहा गया है "मेघः कस्मात्? मेहति इति सतः", अर्थात् मेघ शब्द क्यों कहते हैं? क्योंकि वह मेहति अर्थात् सींचता रहता है, बरसता रहता है। "मेहति" सेचन करता है, इस कर्तृवाच्य (मिह सेचने) धातु से है।[2] आद्रिः, ग्रावा, गोत्रः, वलः, अश्नः, पुरुभोजाः, वलिशानः, अश्मा, पर्वतः, गिरिः, वज्रः, चरुः, वराहः, शम्बरः, रौहिणः, रैवतः, फलिगः, उपरः, उपलः[3], चमसः, अहिः, अभ्रम्[4], वलाहकः, मेघः, हतिः, औदनः, वृषन्धिः, वृत्रः, असुरः, कोशः, ये भी इसके पर्यायवाची हैं। *निरुक्त* में मेघ वर्णन करते हुए *ऋग्वेद* की ऋचा को प्रतिपादित किया गया है[5] –

---

[1] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय, पृ० 326

[2] *निरुक्त* 2.6.4.10

[3] उपर और उपल मेघ के नाम का प्रयोग पर्वतों के लिए भी किया जाता है। इन दोनों की व्युत्पत्ति एक समान है। "उपरता आप: इति वा" या जिसमें जल रमण करता है।

[4] न भ्रश्यन्ति यतोऽभ्राणि मेहनान्मेघ उच्यते। अभ्र शब्द का अर्थ है जो नष्ट नहीं होता। मेहन शब्द से मेघ व्युत्पन्न कहा गया है। – *लिङ्ग महापुराण* 54.44

[5] *निरुक्त* 2.6.5.5

देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्।
त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्॥ [6]

देवों के निर्माण के समय सर्वप्रथम मेघ देखे गए, इन्द्र द्वारा इन मेघों के छेदन के पश्चात् जल ऊपर आया। पर्जन्य, वायु और सूर्य तीन पृथ्वी पर खड़े वृक्षों को पकाते हैं, सबको प्रभावित करने वाले वायु तथा सूर्य सबको प्रसन्न करने वाला जल बरसाते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रजापति ने सृष्टि-निर्माण के समय देवताओं का निर्माण प्रारम्भ किया, तब यह माध्यमिक देवगढ़ अर्थात् मेघ मुख्य थे, अर्थात् सर्वप्रथम इनकी सृष्टि की क्योंकि बिना वर्षा के जगत् की स्थिति सम्भव नहीं थी, अन्तरिक्ष से मेघों द्वारा वर्षा होने लगी। "उपर" शब्द मेघवाचक है, जलवाचक नहीं परन्तु उपर में रहने वाले जल के लिए भी उपर शब्द का ग्रहण किया गया है। "अनूपाः" अर्थात् अनुग्रह करने वाले यह तीन वायु, आदित्य और पर्जन्य पृथ्वी पर रहने वाली वनस्पति एवं औषधियों को पकाते हैं – वायु शीत द्वारा, आदित्य उष्णता द्वारा तथा पर्जन्य वर्षा द्वारा। वायु और आदित्य तृप्त कर देने वाले जल को पृथ्वीलोक से ऊपर ले जाते हैं। "कृन्तत्र" शब्द अन्तरिक्ष के लिए प्रयोग किया गया है क्योंकि अन्तरिक्ष में मेघों का कर्तन अर्थात् छेदन होता है अतः उन्हें कृन्तत्र कहते हैं। पर्जन्य, वायु तथा आदित्य यह तीन, वर्षा, शीत तथा उष्णता द्वारा अन्नों को पकाते हैं तथा पृथ्वी पर अनुग्रह करते हैं, जिसके कारण इन्हें अनूप कहते हैं। इस प्रकार यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मेघ द्वारा ही अन्न, वनस्पति आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार *अमरकोश* में मेघ के पन्द्रह नाम प्रतिपादित किए गए हैं – अभ्रम्, मेघः, वारिवाहः, स्तनयित्नुः, बलाहकः, धराधरः, जलधरः, तडितवान्, वारिदः, अम्बुभृत्, घनः, जीमूतः, मुदिरः, जलमुच्, धूमयोनिः यह बादल के पन्द्रह नाम हैं[7]। जल का वहन करने के कारण उसे 'मेघ' कहते हैं। *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार "मेघ" को "अभ्र" इसलिए कहा गया है क्योंकि इसमें जल का भस्म वाष्प रूप में संग्रहीत होता है। "**अभ्रं वा अपां भस्म। अभ्रे तां सादयति**"[8]**।** सूर्य के ताप से जल वाष्परूप धूम में परिवर्तित होता है, जिसे "अभ्र" कहा जाता है । क्योंकि जल को धारण करता हुआ यही वाष्प अन्तरिक्ष की ओर जाकर मेघ की उपाधि को धारण करता है तथा सिंचन का कार्य करता है। आकाश में हमें कृष्ण, श्वेत आदि वर्ण की वायवीय जलराशि की रेखा वाष्पाकार में चलती हुई दिखाई पड़ती है, जिसे "मेघ" कहते हैं। पर्वत के ऊपर कोहरे के समान गहरा अन्धकार दिखाई देता है, वह मेघ का ही एक भिन्न रूप मात्र है। वह आकाश में सञ्चित घनीभूत जलवाष्प से अत्यन्त तरल होता है। यही तरल कुहरे जैसी वाष्पराशि घनीभूत होकर स्थानीय शीतलता के कारण अपने गर्भस्थ जल को वर्षा के रूप में पृथ्वी पर बरसाती है। मेघ और कोहरे की उत्पत्ति एक ही है, अन्तर इतना है कि मेघ आकाश में चलता है और कोहरा पृथ्वी पर। मेघ अनेक वर्ण और अनेक आकार के होते हैं। मेघ के अनेक भेद हैं जिनमें से चार प्रधान हैं – आवर्त,[9] संवर्त्त,[10] पुष्कर[11] और द्रोण[12]।

---

[6] – ऋग्वेद 10.27.23

[7] *अमरकोषः*, प्रथमकाण्ड, दिग्वर्गः 6-7, पृ॰ 26

[8] *शतपथ ब्राह्मण* 7.5.2.48

[9] आवर्त्तकः – आवर्त+कन्, बादल का एक प्रकार – *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ॰ 162

[10] सम्वर्त्त– सम्+वृत्+घञ्, जल से भरा हुआ बादल, संसार में प्रलय होने पर उठने वाले सात बादलों में से एक बादल – *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ॰ 1047

[11] पुष्कर – पुष्कं पुष्टिं राति – रा+क – अनावृष्टि तथा दुर्भिक्ष उत्पन्न करने वाले बादलों का समूह – वही पृ॰ 626

[12] द्रोण – द्रु+न, बादल, एक विशेष प्रकार का जल से भरा हुआ बादल जिसमें से वर्षा इस प्रकार निकले जैसे डोल में से पानी – वही, पृ॰ 481

मेघ रचना एवं रूप

कालिदास कृत गीतिकाव्य *मेघदूतम्* में मेघ के विषय में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है यथा मेघ का स्वरूप, मेघ रचना, मेघ प्रकार, मेघ मार्ग, वर्षा से पूर्व मेघ का वर्ण आदि। पूर्वमेघ में मेघ का वर्णन करते हुए कहते हैं – "**धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपात क्व मेघः**"[13] अर्थात् मेघ धूम, ज्योति, जल और वायु के मिश्रण से निर्मित है। अभिप्राय यह है कि मेघ, धुआँ, अग्नि, जल और वायु का संघात रूप है। धूम के द्वारा ही मेघ का शरीर पुष्ट होता है। *मृच्छकटिकम्* में भी एक स्थान पर यह वर्णन प्राप्त होता है कि मेघ में वायु एवं विद्युत होती है[14]। *लिङ्ग महापुराण* में भी कहा गया है कि मेघ का गर्जन, वायु, विद्युत तथा अग्नि के द्वारा होता है।[15] *मेघदूतम्* में एक अन्य स्थान पर यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "जल वर्षण से दुबला हुआ तुम्हारा शरीर भी वहाँ स्त्रियों के केश प्रसाधन के धूपों से पुष्ट हो जाएगा"।[16] प्राचीन काल में राजप्रासादों में रहने वाली स्त्रियाँ अपने गीले केशों को धूप आदि सुगन्धित द्रव्यों के धूम से सुखाती थी। उसी धूम से कवि ने मेघ के शरीर की पुष्टि को वर्णित किया है। इसी प्रकार मेघ बनाने में जल की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिसका वर्णन कवि ने *मेघदूतम्* में अनेक स्थानों पर किया है। रेवा नदी,[17] वेत्रवती नदी,[18] निर्विन्ध्या नदी,[19] गम्भीरा नदी,[20] सरस्वती नदी[21] से मेघ के जल भरने का वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त होता है। *कुमारसम्भवम्* में भी कहा गया है कि "**अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनचाम्बुधराश्च योनयः**"[22] अर्थात् जिस प्रकार मेघ में जल एवं विद्युत दोनों विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार संयमी पुरुषों में क्रोध और प्रमाद दोनों एकत्र रहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मेघ में जल के साथ-साथ विद्युत भी विद्यमान है, जिसे विज्ञान भी स्वीकार करता है। जल की प्रकृति शीतल है परन्तु अग्नि तथा तेज के संयोग से वह गर्म होता है। *वायु पुराण* में कहा गया है कि –

परिवर्तक्रमाद्विप्रा भाभिरालोकयन्दिशः।
सूर्यः किरणजालेन वायुयुक्तेन सर्वशः॥[23]

परिवर्तन क्रम से सूर्य वायुयुक्त किरण द्वारा दिशाओं को आलोकमय कर सम्पूर्ण जगत् का जल शोषण करते हैं। सूर्य द्वारा खींचा हुआ वह जल अग्निमय सूर्य से वायुयुक्त नाड़ी द्वारा सोम[24] में संक्रान्त होता है, फिर लोकरक्षा के लिए वृष्टि में परिवर्तित होता है। सोम से जो जल स्रवित होता है, वह आकाश में या मेघ में ठहरता है। जल का कभी नाश नहीं होता परन्तु ऐसा

---

13 *मेघदूतम्*, पूर्वमेघ 5

14 महावाताष्मातैर्महिषकुलनीलैजलधरैचलैर्विद्युत्पक्षैर्जलधिभिरिवान्तः प्रचलितैः।
इयं गन्धोद्दामा नव हरित-शष्पाङ्कुरवतीधरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव।। – *मृच्छकटिक* 5.22
(प्रचण्ड वायु के कारण गर्जन करने वाले, इससे स्पष्ट होता है कि मेघ में वायु एवं विद्युत विद्यमान है।)

15 स्तनितं चेह वायव्यं वैद्युतं पावकोद्भवम्। – *लिङ्ग महापुराण* 54.45

16 जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः। – *मेघदूतम्*, पूर्वमेघ 35

17 वही 20

18 वही 25

19 वही 29

20 वही 43

21 वही 52

22 *कुमारसम्भवम्* 4.43

23 *वायु पुराण* 51.13

24 सोम शब्द सु+मन् से बना है, जिसका एक अर्थ प्रकाश की किरण तथा चन्द्रमा भी है – *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 1128

परिवर्तन हुआ करता है।[25] वर्षा के सन्दर्भ में सर्वमान्य तथ्य यह है कि सूर्य की किरणें वाष्परूप जल का संग्रह कर उसे मेघ में परिवर्तित कर वर्षा करती हैं, परन्तु *वायु पुराण* के अनुसार केवल सूर्य की किरणें ही वर्षा का कारण नहीं हैं अर्थात् सूर्य की किरणों से जल वाष्परूप में परिवर्तित होकर चन्द्र रश्मियों के सहयोग से आर्द्र होकर मेघों का आश्रयण करता है। तदनन्तर मेघ, वायु के कारण जल वर्षा करते हैं। अभिप्राय यह है कि सूर्य के ताप से जलवाष्प के रूप में परिवर्तित होकर जलवायु के माध्यम से वायुमण्डल में जाता है। ऊपर की ओर जाकर शीतल हुआ जल मेघ के रूप को धारण करता है। मेघ बनने के पश्चात् वायु के द्वारा वर्षा होती है। इसी प्रकार *लिङ्ग पुराण* में भी वृष्टि के लिए वायु के महत्त्व को स्वीकार किया गया है –

अपां निधानं जीमूताः षण्मासानिह सुव्रताः।
वर्षयन्त्येव जगतां हिताय पवनाज्ञया॥[26]

अतः जल का कभी नाश नहीं होता, वह केवल एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होता है। कालिदास *कुमारसम्भवम्* में कहते हैं कि जिस प्रकार ग्रीष्म काल में सूर्य की किरणों द्वारा जल के शोषित हो जाने पर सूखी नदी पुनः वर्षा ऋतु में जल प्राप्त होने पर प्रवाहित होने लगती है।[27] इस प्रकार कहा जा सकता है कि जल कभी समाप्त नहीं होता, उसका केवल रूप परिवर्तित होता है। *शतपथ ब्राह्मण* में कहा गया है कि "**अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रम्, अभ्राद्वृष्टिः**"[28] अग्नि से धूम होता है, धूम से अभ्र होता है और अभ्र से वृष्टि होती है। धूम में प्राप्त सौम्य तत्त्व, जलीय तत्त्वों को एकत्रित करके वृष्टि करते हैं। वर्षा के लिए पुरोवात, अभ्र, विद्युत, गर्जन की आवश्यकता होती है। *शतपथ ब्राह्मण* में कहा गया है कि प्राचीन काल में देवों ने देवों को सुनाओ इस व्याहृति से निश्चित रूप से वायु तत्त्व को उत्पन्न किया, देव हमारी स्तुति सुने इस व्याहृति से बादलों को आकाश में फैलाया, यजन करो इस व्याहृति से विद्युत को उत्पन्न किया, हम यज्ञ करते हैं, इस व्याहृति से मेघ के गर्जन को उत्पन्न किया, आहुति समर्पित किया इस व्याहृति के उच्चारण से जल को पृथ्वी पर बरसाया।[29] अभिप्राय यह है कि जब परमात्मा ने सृष्टि की उस समय प्रकृति के पोषण हेतु आकाशमण्डल के वर्षा जल से पृथ्वी को सिञ्चित करने की इच्छा से वर्षा के साधनभूत वायु को उत्पन्न किया। अस्तु श्रौषट् से मेघ को आकाश में व्याप्त करके सब दिशाओं में प्रवाहित किया। यज से बिजली को उत्पन्न करके नभोमण्डल को चमत्कृत किया, ये यजामहे से मेघ में गर्जना को उत्पन्न किया, वौषट् से अन्नौषधि के उत्पत्ति स्थान पृथ्वी का जल से सिञ्चन किया।

छान्दोग्योपनिषद् में भी वर्णित है कि "**पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्लादनयो विस्फुलिङ्गाः**" – पर्जन्य अर्थात् वर्षा के देवता ही अग्नि है, हे गौतम! उसका समित् वायु है, बादल धूम है, विद्युत उसकी ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अङ्गारे हैं और मेघ की गड़गड़ाहट ही उसकी चिंगारियाँ हैं।[30] उस अग्नि में देवता राजा सोम[31]

---

[25] *वायु पुराण* 51.14-17

[26] *लिङ्ग पुराण* 54.44

[27] रविपीतजला तपात्यये पुनरोधेन हि युज्यते नदी । – *कुमारसम्भवम्* 4.44

[28] *शतपथ ब्राह्मण* 5.3.5.17

[29] पुरोवातं ससृजिरेऽस्तु श्रौषडित्यभ्राणि समप्लावयन्यजेति विद्युतं ये यजामह ऽइति स्तनयित्तनुं व्वषट्कारेणैव प्रावर्षन्।। – *शतपथ ब्राह्मण* 1.5.2.18

[30] *छान्दोग्योपनिषद्* 5.5.1

[31] सोम शब्द का एक अर्थ एक पौधे का नाम, प्राचीन काल के यज्ञ में आहुति देने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण औषधि, "सोम" नामक पौधे का रस, *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 1128

के निमित्त हवन करते हैं। उस आहुति से ही वर्षा होती है[32]। इसी प्रकार *बृहदारण्यकोपनिषद्* में अन्तरिक्ष की अग्नि के विषय में कहते हैं, कि मेघ ही अग्नि है वायु इसकी समिधा है, अभ्र इसका धूम है, विद्युत (बिजली) उसकी ज्वाला है, अशनि अर्थात् इन्द्र का वज्र अङ्गारे हैं, मेघ गर्जन चिंगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण सोम सोमीय द्रव्यों की आहुति देते हैं, जिससे वर्षा होती है।[33] *ब्रह्मवैवर्त्त महापुराण* में वर्णित है कि सूर्य से जल, जल से शस्य एवं वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं जिसके द्वारा अन्न और फल उत्पन्न होते हैं तथा उन अन्न और फलों से जीव अपना जीवन निर्वाह करते हैं। सूर्य की किरणों से पृथ्वी का जल सोख लेते हैं। वर्षा में उसी जल का उनसे प्रादुर्भाव होता है। सूर्य और मेघ सबका विधाता द्वारा निरूपण होता है।[34] *लिङ्ग महापुराण* में भी कहा गया है कि – "**सहस्त्रगुणमुत्स्त्रष्टुमादत्ते किरणैर्जलम्।।**"[35] अर्थात् सूर्य हज़ार गुना देने के लिए अपनी किरणों से जल ग्रहण करता है। *कूर्म पुराण* में भी वर्णित होता है कि सूर्य की रश्मियों अर्थात् किरणों द्वारा गृहीत जल मेघ में स्थित रहता है। पुनः पृथ्वी पर गिरता है तथा उससे समुद्र आपूरित हो जाते हैं।[36] *ब्रह्माण्ड पुराण* में भी इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी के जल को ग्रहण करता है।[37] *रामायण* में कहा गया है कि –

नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥

सूर्य अपनी किरणों से सागर का पानी सोख लेता है, इसी सागर के पानी को आकाश में नौ महीने गर्भ में धारण करता है, तत्पश्चात् अमृत के समान जल वर्षारूपी अपत्य[38] को जन्म देता है।[39] शीतकाल में सूर्य समुद्ररूपी रस का पान करके उसे द्यौ-रूपी गर्भ में कार्त्तिक आदि नौ मास तक धारण करके, जल के रूप में, लोक में रहने वाले जीवों के लिए त्याग करता है। इस प्रकार मेघ की रचना वाष्पीकरण क्रिया द्वारा होती है। यह हमारे प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में बहुत पहले ही वर्णित है। *कूर्म पुराण* के अनुसार मेघ में जल की कमी होने पर मेघ तथा विद्युत सहयोग से ही वृष्टि उत्पन्न होती थी।[40] अभिप्राय यह है कि सतयुग में स्वयं मेघ जलमय होते थे, उनमें जल की इतनी अधिक प्रचुरता होती थी कि वह स्वयं ही बिना किसी सहयोग के वृष्टि करने में समर्थ होते थे, परन्तु त्रेता युग में मेघों की जलमयता प्रतिहत हो गई। परिणामस्वरूप विद्युत सहयोग से ही मेघ वृष्टि कर पाते थे। इस प्रकार के विषय पर वैज्ञानिक अध्ययन की सम्भावना दृष्टिगत होती है कि क्या अधिक जलयुक्त मेघ बिना किसी सहयोग के वृष्टि करने में समर्थ है? ऐसा कहा जा सकता है कि पहले जल की अधिकता होने के कारण मेघ स्वयं ही वर्षा करने में समर्थ थे परन्तु त्रेता युग आने तक मेघ की जलमयता प्रतिहत होने लगी तथा विद्युत सहयोग

---

[32] तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्ष सम्भवति। – *छान्दोग्योपनिषद्* 5.5.2

[33] पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्वादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नग्नौ देवाः सोम राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति।। – *बृहदारण्यकोपनिषद्* 6.2.10

[34] सूर्याद्धि जायते तोयं तोयात्सस्यानि शाखिनः। तेभ्योन्नानि फलान्येव तेभ्यो जीवंति जीविनः।।
सूर्यग्रस्तं च नीरं च काले तस्मात्समुद्भवः। सूर्यो मेघादयः सर्वे विधात्रा ते निरूपिताः।। – *ब्रह्मवैवर्त्त पुराण*, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 21.67.6-7

[35] *लिङ्गमहापुराण* 54.66

[36] आदित्यरश्मिभिः पीतं जलमभ्रेषु तिष्ठति। पुनः पतति तद् भूमौ पूर्यन्ते तेन चार्णवाः।। – *कूर्म पुराण* 43.44

[37] सप्तरश्मिरथो भूत्वा उदतिष्ठद्विभावसुः।। – *ब्रह्माड पुराण*, आभूतसंप्लव वर्णन 134
असह्यरश्मिर्भगवान्पिबत्यंभो गभस्तिभिः। हरिता रश्मयस्तस्य दीप्यमानास्तु सप्ततिः।। – वही 135

[38] अपत्यम्–सन्तान, बच्चे, प्रजा, सन्तति – *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 56

[39] *रामायण* 4.28.3

[40] अपां सौक्ष्म्ये प्रतिहते तदा मेघात्मना तु वै। मेघेभ्यः स्तनयित्नुभ्यः प्रवृत्तं वृष्टिसर्जनम्।। – *कूर्म पुराण* 27.26

के पश्चात् ही मेघ वर्षा करने में समर्थ हुए। *कूर्म पुराण* में मेघ में जल की अधिकता का वर्णन इस रूप में किया गया है कि जिस प्रकार समुद्र अत्यधिक जल के प्रवाह से अपने तट को आप्लावित करता है, उसी प्रकार मेघ इतने जल से युक्त है कि इसका क्षय दिव्य सैकड़ों वर्षों में कदाचित् सम्भव है।[41] विज्ञान के अनुसार मेघ का निर्माण बड़ी जल राशि यथा समुद्र, नदी आदि के ऊपर तेज धूप पड़ने से वाष्पीकरण क्रिया द्वारा होता है। जल वाष्प के रूप में परिवर्तित होकर हल्का हो जाता है तथा ऊपर की ओर जाकर ठण्डा होकर मेघ का रूप धारण करता है। जब वायु हल्की और गर्म एवं आर्द्र होती है तो ऊपर उठने पर वह जल्दी ही ठण्डी होकर संघनित होकर मेघ का रूप धारण कर लेती है। अधिकतर पर्वतीय क्षेत्रों में बादल फटने की घटना होती है। जब जल से भरे मेघ पर्वतों से टकराते हैं और उन्हें आगे का मार्ग नहीं मिलता, तब वह एक स्थान पर अपना सम्पूर्ण जल गिरा देते हैं। यही बादल का फटना कहा गया है। अत: मेघ केवल धूम, अग्नि, जल, वायु का मिश्रण है। *ज्योतिस्तत्त्वम्* में मेघ के छः प्रकार के लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं – बादल रहित अथवा अत्यधिक बादल, अत्यन्त उष्ण अथवा अत्यन्त शीतल, अत्यन्त वायु अथवा वायु रहित।[42] एक वैज्ञानिक यह जानकर अत्यन्त सन्तुष्ट है कि उसने इस सत्य को जान लिया कि वायु में धूम के रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजःकण प्राप्त होते हैं। मरुत के संघर्ष से यह कण विद्युत के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, तब वाष्प रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त जल को अपने ऊपर आकृष्ट कर लेते हैं, इस प्रकार मेघ बनकर जलवृष्टि के योग्य हो जाता है। मेघ से सम्बन्धित यह वर्णन हमारे प्राचीन ग्रन्थों में यथा *रामायण*, *छान्दोग्योपनिषद्*, *बृहदारण्यकोपनिषद्*, *वायु पुराण*, *ब्रह्माण्ड पुराण*, *कूर्म पुराण*, *मेघदूतम्*, *कुमारसम्भवम्*, *मृच्छकटिकम्* आदि ग्रन्थों में बहुत पहले से प्राप्त हैं। *मेघदूतम्* में मेघ को निर्बाध गति से सर्वत्र पहुँचने की क्षमता रखने वाला तथा इन्द्र को इच्छानुसार रूपधारी प्रधान सेवक कहा गया है।[43] *मृच्छकटिकम्* में भी मेघ को भिन्न प्रकार के रूपों को धारण करने वाला कहा गया है।[44] विज्ञान भी इसे पूर्ण रूप से स्वीकार करता है कि मेघ का कोई निश्चित आकार या रूप नहीं होता। मेघ की तुलना गुप्तचर[45] से की गई है, जिस प्रकार गुप्तचर वेश बदलकर बाहर निकल जाते हैं। उसी प्रकार मेघ धुएँ का रूप धारण करके अनेक भागों में विभक्त होकर बाहर निकल जाते हैं। मेघ को सन्देशवाहक[46] भी कहा गया है, ऐसा कहा जा सकता है कि कालिदास की यह कल्पना इस वैश्वीकरण के युग में भी इस सन्दर्भ में सार्थक सिद्ध होती है, कि आज इण्टरनेट, एस०एम०एस०, के माध्यम से किसी भी स्थान पर तत्काल सन्देश भेजा जा सकता है।

हिम रचना एवं प्रकार

जब मेघ पर्वत पर पहुँचता है तब थोड़ी वर्षा हुई, सर्दी अधिक हुई हो, तब आकाश में स्थित मेघजल हिम में परिवर्तित हो जाता है, जिससे वर्षा के जल के स्थान पर ओले पड़ने लगते हैं।[47] *बृहत्संहिता* में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि जिस प्रकार अधिक समय तक रखा गया गायों का दूध कठिन हो जाता है, उसी प्रकार अधिक समय व्यतीत होने पर जल भी ठण्डक के

---

[41] धाराभिः पूरयन्तीदं चोद्यमानाः स्वयम्भुवा। अत्यन्त सलिलौघैश्च वेला इव महोदधिः।। – *कूर्म पुराण* 43.43

[42] निर्वार्दलाख्यं किमतीव वार्दलमत्युष्णसञ्ज्ञं किमुतातिशीतलम्।
अतीव वातं किमु वातवर्ज्जितं स्यात्षड्विधं जीवनदस्य लक्षणम्।। – *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 44

[43] *मेघदूतम्* 1.6, 9

[44] प्रथमश्रीरिव पुरुषः करोति रूपाण्यनेकानि। – *मृच्छकटिकम्* 5.26

[45] *मेघदूतम्* 1.8

[46] *मेघदूतम्* 1.39

[47] ये संरम्भोत्पतनभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन् मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान् कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातवकीर्णान् के वा न स्युः परिभदपदं निष्फलारम्भयत्नाः।। – *मेघदूतम्* 1.57

कारण कठिन होकर उपल अर्थात् ओले के रूप में परिवर्तित हो जाता है।[48] *मेघदूतम्* में हिमालय पर्वत पर ओलों का वर्णन प्राप्त होता है, यह "प्रालेय" रूप हिम है। *कादम्बिनी* के अनुसार हिम चार प्रकार के होते हैं –

हिमं चतुर्विधं दृष्टं प्रालेयं च तुषारकः।
धूमिका चाप्यवश्यास्तेषां सूक्ष्मं परं परम्॥[49]

प्रालेय,[50] तुषार,[51] धूमिका[52] और अवश्याय[53]। जब बर्फ के समान कठोर हो तब **"प्रालेय"** कहते हैं, मेरु प्रान्त में हिमालय में और ओलों में इस प्रालेय का रूप दृष्टिगत होता है।[54] **"तुषार"** वह है जो अपने बरस जाने के बाद और ओलों के बरसने के पश्चात् 2-3 दिन तक अत्यधिक कंपाने और वृक्षों का नाश करने वाला होता है।[55] **"धूमिका"** वह है, जो प्रायः प्रातःकाल में पौष, माघ[56] के महीनों में सूर्य की किरणों को क्षीण करके धुँए के समान सबको ढ़क देती है।[57] आज भी दिसम्बर, जनवरी, फरवरी के महीनों में जो कोहरा दिखाई देता है, वह "धूमिका" है। जो जल के छोटे-छोटे कण प्रतिरात्रि बरसते हैं, वह **"अवश्याय"** (ओस) है।[58] धूमिका घनीभूत होकर "ओस" का कारण होती है।[59] *कादम्बनी* में कुहिढ, कुहेडि, कुहेलिका, नभोरेणु, कुज्झरिका, कुज्झटि, कुज्झटी, धूममहिषी और रतान्ध्री आदि धूमिका के नाम वर्णित हैं।[60] विज्ञान के अनुसार जब आसमान में तापमान शून्य से कम हो जाता है, जो अधिकतर पर्वतीय क्षेत्रों में होता है, तब वहाँ वायु में विद्यमान नमी ठण्डी बूंदों के रूप में जम जाती है, धीरे-धीरे यह बर्फ के गोलों का रूप धारण कर लेती है जिन्हें "ओले" कहते हैं। जब यह बड़े आकार में परिवर्तित हो जाते हैं, तो गुरुत्वाकर्षण इन्हें पृथ्वी की सतह पर ले आता है।

मेघ वर्ण एवं आकार

संस्कृत ग्रन्थों में मेघों के अनेक प्रकार के वर्ण एवं आकार का वर्णन भी प्राप्त होता है। कुछ मेघ नीलकमल के समान श्याम वर्ण के, कुछ कुमुद के पुष्प के समान श्वेत वर्ण के, कुछ धूम्र वर्ण के समान तथा कुछ पीत वर्ण के होते हैं।[61] कुछ रासभ

---

48 काठिन्यं याति यथा चिरकालधृतं पयः पयस्विन्याः। कालातीतं तद्वत् सलिलं काठिन्यमुपयाति।। – *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 36

49 *कादम्बिनी* 119, पृ० 160

50 प्रालेयम् – प्र + ली + ण्यत्, पलेय + अण्, हिम, कुहरा, ओस, तुषार – *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 692

51 तुषार – तुष + आरक, ठण्डा, शीतल, तुषाराच्छन्न (पाले के कारण शीतल) ओस से युक्त– *नि*० 9.7, अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा, नै 3.93, *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 434

52 धूमिका – धूम + ठन् + टा, वाष्प, कोहरा, धुन्ध – *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 499

53 अवश्यायः – अव + श्यै + ण, कुहरा, ओस, पाला, सफेद ओस– *संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 113

54 जले तु कठिने भूते प्रालेयं तुहिनं समम्। मेरुप्रांते हिमाद्रौ च करकादौ च दृश्यते।। – *कादम्बिनी* 120

55 स्ववर्षणांते करकावर्षणांते द्व्यहं त्र्यहम्। योत्यर्थकम्पनो वृक्षान्नाशयेत् स तुषारकः।। – *कादम्बिनी* 121

56 पौष और माघ का महीना अंग्रेज़ी महीनों के अनुसार दिसम्बर, जनवरी और फरवरी है।

57 प्रातः काले विशेषेण धूमिका पौषमाघयोः। क्षिणोत्यर्ककरं सर्वमावृणोति च धूमवत्।। – *कादम्बिनी* 122

58 प्रतिवासरमुत्थाय क्षुद्रक्षुद्रा अपां कणाः। प्रतिरात्रं प्रवर्षंति सोऽवश्याय इतीर्य्यते।। – *कादम्बिनी* 125

59 सा चात्यर्थघनीभूतावश्यायपतनोद्भवा।। – *कादम्बिनी* 124

60 कुहिढश्च कुहेडिश्च कुहेलिश्च कुहेलिका। नभोरेणुः कुज्झटिका कुज्झटि कुज्झटी च सा।। – *कादम्बिनी* 123
धूमिका धूममहिषी रतान्ध्रीति च कथ्यते।। – *कादम्बिनी* 124

61 केचिन्नीलोत्पलश्यामाः केचित् कुमुदसंनिभाः। धूम्रवर्णास्तथा केचित् केचित् पीताः पयोधराः।। – *कूर्म पुराण* 43.35

अर्थात् गधे के वर्ण के समान, कुछ लाक्षारस के रंग के समान, कुछ दूसरे शंख तथा कुन्द के समान रंग वाले, कुछ जाती पुष्प अर्थात् चमेली तथा अञ्जन अर्थात् काजल के समान होते हैं।[62] इसी प्रकार कुछ मेघ मनःशिला के समान वर्ण वाले और कुछ (मैनसिल) दूसरे कपोत के समान वर्ण वाले, कुछ इन्द्रगोप के समान वर्ण वाले, कुछ हरताल के समान तथा कुछ इन्द्रधनुष के समान वर्ण वाले आकाश में प्रकट होते हैं।[63] कुछ मेघ पर्वत के समान, कुछ हाथियों के समूह के समान, कुछ कूटागार[64] के समान तथा कुछ मछलियों के समूह के आकार के होते हैं। वे मेघ अनेक रूप धारण करने वाले, भयंकर आकार वाले तथा घोर गर्जना जैसी ध्वनि करने वाले होते हैं।[65] इसी प्रकार का वर्णन *ब्रह्माण्ड पुराण* के आभूत सम्प्लव वर्णन में 161-68 पद्य में भी प्राप्त होता है। अतः मेघों के वर्ण एवं आकार सदैव एक समान नहीं होते परिवर्तित होते रहते हैं।

मेघ के प्रकार

मेघदूतम् में मेघ के अनेक प्रकारों का वर्णन कालिदास की सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है। *मेघदूतम्* के आरम्भ में ही पुष्कर और आवर्तक नामक "**जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्**"[66] मेघ के प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार ही भीतर जल धारण किए हुए, कहीं अनेक परतों अथवा सीढ़ीनुमा मेघ का वर्णन प्राप्त होता है।[67] कहीं गरजने वाले परन्तु बरसने वाले नहीं।[68] कहीं गरजे बिना ही तेज वर्षा करने वाले।[69] पुष्पों के समान मोटी-मोटी बूँदें बरसाने वाले[70] भीतर स्थित बिजली की चमक वाले, इच्छानुसार आकार को छोटा या बड़ा करने वाले[71] *कृषिः-पाराशरः* में मेघ के चार प्रकार प्रतिपादित किए गए हैं – आवर्त्त, संवृत्त, पुष्कर एवं द्रोण यह चार मेघ, आवर्त्त आदि के क्रम से कहे गए हैं।[72] *कादम्बिनी* में भी पुष्कर, आवर्त्त, संवृत्त और द्रोण ये मेघ की जातियाँ बताई गई हैं – "**पुष्करावर्तसंवर्तद्रोणाः स्युर्मेघजातयः।।**"[73] दुःख से जल देने वाला मेघ "**पुष्कर जाति**" का, निर्जल मेघ "**आवर्त्त जाति**" का, अधिक जल वाला "**संवर्त्त जाति**" का और धान्य के योग्य जल बरसाने वाला मेघ "**द्रोण जाति**" का होता है।[74] वैज्ञानिकों के अनुसार मुख्य रूप से मेघ के चार भेद स्वीकार किए गए हैं। *मेघदूतम्* में भी यह चार प्रकार के भेद दृष्टिगत होते हैं। यद्यपि समान नाम के आधार पर नहीं अपितु कुछ

---

[62] केचिद् रासभवर्णास्तु लाक्षारसनिभास्तथा। शङ्खकुन्दनिभाश्चान्ये जात्यञ्जननिभाः परे।। – *कूर्म पुराण* 43.36

[63] मनःशिलाभास्त्वन्ये च कपोतसदृशाः परे। इन्द्रगोपनिभाः केचिद्धरितालनिभास्तथा। इन्द्रचापनिभाः केचिदुत्तिष्ठन्ति घना दिवि।। – *कूर्म पुराण* 43.37

[64] कूट शब्द का एक अर्थ पहाड़ का शिखर या चोटी भी है। –*संस्कृत-हिन्दी कोश*, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 291

[65] केचित् पर्वतसंकाशाः केचिद् गजकुलोपमाः। कूटांगारनिभाश्चान्ये केचिन्मीनकुलोद्वहाः। बहुरूपा घोररूपा घोरस्वरनिनादिनः।। – *कूर्म पुराण* 43.38

[66] *मेघदूतम्* 1.6

[67] स्तम्भितान्तर्जलौघः, भङ्गीभक्त्या, सोपानत्वम् कुरु। – *मेघदूतम्* 1.63

[68] क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः। – *मेघदूतम्* 1.64

[69] निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः। – *मेघदूतम्* 2.54

[70] *मेघदूतम्* 1.46

[71] *मेघदूतम्* 2.21

[72] आवर्तश्चैव संवर्तः पुष्करो द्रोण एव च। चत्वारो जलदाः प्रोक्ता आवर्तादि यथा क्रमम्।। – *कृषि-पाराशरः*, वृष्टिखण्ड 15

[73] *कादम्बिनी* 42

[74] पुष्करावर्तसंवर्तद्रोणाः स्युर्मेघजातयः।। – *कादम्बिनी* 42; पुष्करोदुष्करोदः स्यादावर्तो निर्जलोघनः। बहूदकस्तु संवर्तो द्रोणः सस्यप्रपूरकः।। – कादम्बिनी 43

विशेषताओं के आधार पर वैज्ञानिक नामों के साथ उनकी समानता दिखाई जा सकती है। इस प्रकार का वर्णन वासुदेवशरण अग्रवाल की पुस्तक *मेघदूत : एक अध्ययन* में भी प्राप्त होता है। उससे कुछ सहायता प्राप्त करके प्रकृत शोध में उसे विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। वैज्ञानिक नामों की तुलना संस्कृत नामों से इस प्रकार की जा सकती है –

- आवर्त्तक/स्तरी मेघ/स्ट्रेटस (Stratus)
- संवर्त्तक/कपासी मेघ/क्युमुलस (Cumulus)
- पुष्कर/पक्षाभ मेघ/सिरस (Cirrus)
- द्रोण/वर्षा मेघ/निम्बस (Nimbus)

आवर्त्तक/स्तरी मेघ/स्ट्रेटस (Stratus)

यह परतदार बादल होते हैं, जो आकाश के बहुत बड़े भाग पर विस्तृत रहते हैं। यह बादल सामान्यतः या तो ऊष्मा के ह्रास या अलग-अलग तापमानों पर हवा के आपस में मिश्रित होने से बनते हैं।[75] स्ट्रेटस मेघ की तुलना आवर्त्तक मेघों से की जा सकती है। आवर्त्तक मेघों में बहुत सी श्वेत रङ्ग की परते घुँघराले रूप में प्राप्त होती है, जिस कारण इन्हें आवर्त्तक मेघ कहते हैं। कालिदास ने पूर्वमेघ में ही पुष्कर और आवर्त्तक मेघों का नाम वर्णित किया है। कालिदास *मेघदूतम्* में कहते हैं कि "यह कैलाश के समीप ऐसा प्रतीत होता है, मानो ऐरावत के मुख पर श्वेतपट तान दिया गया है"।[76]

75 भूगोल पुस्तक, एन०सी०ई०आर०टी कक्षा 11, अध्याय 11 वायुमण्डल में जल, पृ० 105

76 कुर्वन् कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य। – *मेघदूतम्* 1.65

संवर्त्तक/कपासी मेघ/क्युमुलस (Cumulus)-

यह रुई के समान दिखते हैं। यह प्रायः 4,000 से 7,000 मीटर की ऊँचाई पर बनते हैं। यह पृथ्वी से अधिक ऊँचाई पर नहीं होते तथा अत्यधिक वर्षा का कारण होते हैं। यह छितरे तथा इधर-उधर बिखरे देखे जा सकते हैं। यह चपटे आधार वाले होते हैं।[77] क्युमुलस मेघ की तुलना संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध संवर्त्तक मेघ से की जा सकती है। यह त्रिकोण रूप में दिखाई देते हैं, इनमें हवा की भाप ठण्डी होकर पुनः जलीय रूप ग्रहण करने लगती है। *मेघदूतम्* में जहाँ नदियों से जल पीने का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ क्युमुलस मेघ का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। *ब्रह्माण्ड पुराण* में भी संवर्त्तक मेघ का वर्णन प्राप्त होता है। आकाशमण्डल में हाथियों के समूह के आकार वाले विद्युल्लता से समलङ्कृत परम घोर संवर्त्तक मेघ उमड़कर उठते हैं।[78] संस्कृत ग्रन्थों में संवर्त्तक मेघों को प्रलयकालीन मेघ कहा गया है, जो सम्पूर्ण पृथ्वी को जलमय करने की शक्ति रखते हैं।

पुष्कर/पक्षाभ मेघ/सिरस *(Cirrus)*

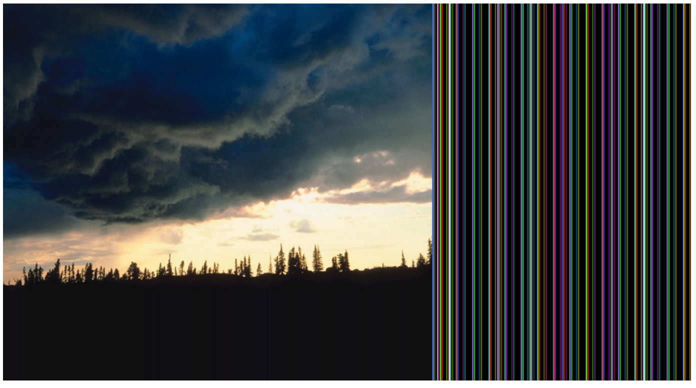

इनका निर्माण 8,000 से 12,000 मीटर की ऊँचाई पर होता है। यह पतले और बिखरे हुए बादल होते हैं, जो पंख के समान प्रतीत होते हैं। यह सदैव सफेद रंग के होते हैं।[79] यह लघु हिमकण से निर्मित होते हैं तथा रेशम के समान प्रतीत होते हैं। जब यह असंगठित होते हैं, तब मौसम स्वच्छ होता है परन्तु जब यह संगठित होकर विस्तृत क्षेत्र में फैल जाते हैं तब मौसम परिवर्तित होने की सम्भावना होती है। कालिदास ने इस मेघ का वर्णन हिमालय में किया है। *मेघदूतम्* में इसके लिए दो विशेषण प्राप्त होते हैं – सर्वप्रथम "मुक्ताध्वा" अर्थात् मार्ग को छोड़ चुकने वाले। वायुमण्डल में मेघों के संचरण का जो मार्ग है, यह उसके ऊपर रहता है। इसके पश्चात् इसे "**तुमुलकरकावृष्टिपात**" अर्थात् घनघोर ओलों की वर्षा को बरसाने वाला कहा जाता है।[80] वहाँ हिमालय पर्वत का वर्णन है जिसके द्वारा यह स्वतःसिद्ध हो जाता है कि इसकी ऊँचाई अधिक होगी तथा विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि यह मेघ पृथ्वी से अधिक ऊँचाई पर होते हैं।

---

77 भूगोल पुस्तक, एन॰सी॰ई॰आर॰टी॰ कक्षा 11, अध्याय 11, वायुमण्डल में जल, पृ॰ 104-05

78 ततो गजकुलाकारास्तडिद्भिः समलंकृताः। उत्तिष्ठन्ति तदा घोरा व्योम्नि संवर्तका घनाः।। – *ब्रह्माण्ड पुराण* 159

79 भूगोल पुस्तक, एन॰सी॰ई॰आर॰टी॰ कक्षा 11, अध्याय 11, वायुमण्डल में जल, पृ॰ 104

80 *मेघदूतम्* 1.57

***द्रोण/वर्षा मेघ/निम्बस* (*Nimbus*)**

वर्षा मेघ काले या गहरे सलेटी रङ्ग के होते हैं। यह मध्य स्तरों या पृथ्वी की सतह के अति निकट बनते हैं। यह सूर्य की किरणों के लिए बहुत ही अपारदर्शी होते हैं। कभी-कभी बादल इतनी कम ऊँचाई पर होते हैं कि यह सतह को छूते हुए प्रतीत होते हैं। वर्षा मेघ मोटे जलवाष्प की आकृतिविहीन संहति होते हैं।[81] कालिदास द्रोण मेघ के लिए **"प्रावृषा संभृतश्रीः"**[82] विशेषण का प्रयोग करते हैं अर्थात् वर्षा ऋतु से बढ़ी हुई शोभा वाला कहा गया है। यह मेघ बहुत घना और काला होता है तथा अत्यधिक वर्षा करने वाला है। कालिदास इसे **"अभ्रवृन्द"**[83] (मेघ समूह) कहते हैं। वर्षा के दिन में उसके महलों पर तुम छा जाओगे, तब तुम्हारे जल की झड़ी से वह ऐसी सुहावनी प्रतीत होगी जैसे मोतियों के जालों से गुँथे हुए घुँघराले केशों वाली कोई कामिनी हो।[84] यहाँ द्रोण मेघ की तुलना कालिदास ने घुँघराले काले केशों से की है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि द्रोण मेघ घना और काला होता है।

इस प्रकार *बृहज्ज्योतिःसार* में प्रतिपादित है – आवर्त्तक मेघों में बड़े-बड़े भँवर पड़ते हैं, संवर्त्तक में जल संचय होता है, पुष्कर में चित्र-विचित्र वृष्टि होती है तथा द्रोण संज्ञक मेघ अपरिमेय जल राशि के स्वामी होते हैं।[85] पराशर ऋषि के अनुसार आवर्त्त एकदेश में एवं संवर्त्त सर्वत्र जल की वर्षा करता है। पुष्कर में अत्यन्त अल्प जल एवं द्रोण मेघ में पृथ्वी पर बहुत जल होता है।[86] *लिङ्ग पुराण* में अनेक रूपों में मेघ के प्रकार का वर्णन किया गया है। घृत का काष्ठ से सहयोग होने पर अग्नि से जो धूम निकलता है, उसमें प्रथम प्रकार के मेघ उत्पन्न होते हैं, दूसरे प्रकार के मेघों की उत्पत्ति ब्रह्मा की श्वास वायु से स्वीकार की गई है।[87] तीसरे प्रकार के मेघ इन्द्र के द्वारा पर्वतों के काटे गए पक्षों से उत्पन्न होते हैं, अग्नि से उत्पन्न मेघ शुभ माने गए हैं वे आवह नामक वायु के स्थान में जाते हैं।[88] ब्रह्मा के श्वास से उत्पन्न सभी मेघ प्रवह नामक वायु के स्कन्ध पर रहते हैं। पुष्करादि मेघ पक्ष से उत्पन्न होते हैं। यह जब बरसते हैं, तब क्रम से शान्त, ध्वनि करने वाले तथा विनाशकारी होते हैं। इनके द्वारा यथाक्रम यह कृत्य होता है।[89] कुछ मेघ अल्पवृष्टि करने वाले होते हैं और कुछ मेघ दीर्घकाल तक शीतल वायु प्रदान

---

[81] भूगोल पुस्तक, एन०सी०ई०आर०टी० कक्षा 11, अध्याय 11, वायुमण्डल में जल, पृ० 105

[82] *मेघदूतम्* 2.55

[83] *मेघदूतम्* 1.66

[84] या वः काले वहति , सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना, मुक्ताजलग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्।। – *मेघदूतम्* 1.66

[85] आवर्त्तके महावर्त सवर्तो बहुतोयद। पुष्करे चित्रिता वृष्टिर्द्रोणोऽपि बहुवारिदः।। – *बृहज्ज्योतिःसार, मेघदूत एक अध्ययन*, पृ० 19

[86] एकदेशेन चावर्तः संवर्तः संवर्तो जलम्। पुष्करे दुष्करं वारि द्रोणे बहुजला मही।। – *कृषि पाराशरः*, वृष्टिखण्ड 16

[87] आज्यानां काष्ठसंयोगादग्नेर्धूमः प्रवर्तितः। द्वितीयानां च सम्भूतिर्विरिञ्चोच्छ्वास वायुना।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.47

[88] भूभृतां त्वथ पक्षैस्तु मघवच्छेदितैस्ततः। वाह्नेयास्त्वथ जीमूतास्त्वावहस्थानगाः शुभाः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.48

[89] विरिञ्चोच्छ्वासजाः सर्वे प्रवहस्कन्धजास्ततः। पक्षजाः पुष्कराद्याश्च वर्षन्ति च यदा जलम्।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.49
मूकाः सशब्ददुष्टाशास्त्वेतैः कृत्यं यथाक्रमम्।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.50

करने वाले होते हैं, कुछ मेघ जीवक होते हैं, कुछ मेघ क्षीण होते हैं और वह विद्युत तथा ध्वनि से रहित होते हैं। कुछ मेघ पृथ्वी तल से एक कोस के भीतर आकाश में इधर-उधर रहते हैं[90] तथा पर्वत पर रहने वाले सभी मेघ आधे कोस की दूरी में होते हैं[91] पृथ्वी तल से योजन मात्र की दूरी वाले, विद्युत से युक्त मेघ साध्य होने के कारण पृथ्वी पर अत्यधिक जलवृष्टि करने वाले होते हैं।[92] पर्वतों के पक्षों से उत्पन्न मेघ "कल्पज" होते हैं और वे अति महान् होते हैं। वह कल्प के अन्त में विनाश के लिए रात्रि में बरसते हैं। पुष्करादि पक्षजनित मेघ जब वर्षा करते हैं, तब सम्पूर्ण जगत् सागरमय हो जाता है और उसमें भगवान् रात में शयन करते हैं, इसलिए हे ब्राह्मणों! अग्नि से उत्पन्न, ब्रह्मा के श्वास से उत्पन्न तथा कटे हुए पर्वतों के पक्ष से उत्पन्न मेघों का धूम सदा आप्यायन[93] कहा गया है।[94] सम्पूर्ण पौण्ड्र अर्थात् पुण्ड्र देश[95] में होने वाली वृष्टि विद्युतमय, शीतल तथा अन्न प्रदान करने वाली होती है। पुण्ड्र प्रदेश के मेघ बर्फ के समान शीतल होते हैं तथा वह हाथी की सूण्ड से गिरते हुए जल के छिड़काव की भाँति प्रतीत होते हैं।[96] गांग नामक मेघ गंगा के जल से उत्पन्न होते हैं। यह परावह संज्ञक वायु द्वारा पर्वतों, नदियों और दिग्गजों को व्याकुल कर देते हैं।[97] मेघों से अलग हुआ जल एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर पहुँचता है, परावह नामक वायु मेघों को हिमालय पर्वत की ओर ले जाती है।[98] इस प्रकार उस समय अनेक प्रकार के अनेक रूप में मेघ दिखाई देते हैं तथा उनका स्वरूप और गर्जन बहुत भयंकर होता है।

मेघदूतम् में वर्णित मेघ मार्ग तथा मानसून मार्ग में समानता

कालिदास भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से भी प्रशंसा के पात्र हैं। *मेघदूतम्* में वर्णित मेघ मार्ग उनके सूक्ष्म भौगोलिक निरीक्षण का परिचायक है। ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने *मेघदूतम्* में जिस मेघ मार्ग का वर्णन किया है, वह मानसूनी हवाओं का भी मार्ग है। यदि मेघ मार्ग की तुलना मौसम विभाग द्वारा बताए गए मानसून मार्ग से की जाए तब अत्यधिक समानता दिखाई देती है। मेघ मार्ग का आषाढ़ मास (जून/जुलाई) में वर्णन किया गया है, मानसून भी इसी मास से आरम्भ होता है। अतः यह मेघ मार्ग और मानसूनी हवाओं का मार्ग समान होने की प्रथम सम्भावना है। मानसून की हवा से मेघ समुद्र तटों से उठते हैं। इस प्रकार का वर्णन *रघुवंशम् 13-14* में भी प्राप्त होता है –

> पयांसि पातुं प्रवृत्तमात्रेणावर्तवेगाद् भ्रमा घनेनानेन समुद्रेण पुनरपि गिरिणा प्रमथ्यमानेनेव भूयिष्ठम् आभायते।
> जलानि पातुं प्रवृत्तमात्रेणावर्तवेगाद् भ्रमता मेघेनायं समुद्रः पुनरपि मन्दरेण प्रमथ्यमान इवा त्यन्तमाभातीति सरलार्थः। –

---

[90] क्षामवृष्टिप्रदा दीर्घकालं शीतसमीरिणः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.50
जीवकाश्च तथा क्षीणा विद्युद्ध्वनिविवर्जिताः। तिष्ठन्त्याक्रोशमात्रं तु धरापृष्ठादितस्ततः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.51

[91] अर्धकोशे तु सर्वे वै जीमूता गिरिवासिनः। – *लिङ्ग महापुराण* 2.52

[92] मेघा योजनमात्रं तु साध्यत्वाद्बहुतोयदाः। – *लिङ्ग महापुराण* 2.52
धरापृष्ठाद् द्विजाः क्ष्मायां विद्युद्गुणसमन्विताः। – *लिङ्ग महापुराण* 2.53

[93] आप्यायन – एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त करना, तृप्ति, बुद्धि

[94] पक्षजाः कल्पजाः सर्वे पर्वतानां महत्तमाः। कल्पान्ते ते च वर्षन्ति रात्रौ नाशाय शारदाः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.54
पक्षजाः पुष्कराद्याश्च वर्षन्ति च यदा जलम्। तदार्णवमभूत्सर्वं तत्र शेते निशीश्वरः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.55
आग्नेयानां श्वासजानां पक्षजानां द्विजर्षभाः। जलदानां सदा धूमो ह्याप्यायन इति स्मृतः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.56

[95] पुण्ड्र देश वर्तमान में बांग्लादेश

[96] पौण्ड्रास्तु वृष्टयः सर्वा वैद्युताः शीतसस्यदाः। पुण्ड्रदेशेषु पतिता नागानां शीकरा हिमाः।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.57

[97] गाङ्गा गङ्गाम्बुसम्भूता पर्जन्येन परावहैः। नगानां च नदीनां च दिग्गजानां समाकुलम्।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.58

[98] मेघानां च पृथग्भूतं जलं प्रायादगादगम्। परावहो यः श्वसनश्चानयत्यम्बिकागुरुम्।। – *लिङ्ग महापुराण* 2.59

अर्थात् जल पीने को प्रवृत्त हुए ही आवर्त्त जल भ्रमण के वेग से घूमते हुए बादलों से यह समुद्र फिर भी पर्वत से मन्थन होता हुआ विदित होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कालिदास को यह ज्ञात था कि मेघ मानसून की हवा से समुद्र तटों से उठते हैं। रामगिरी से मेघ प्रस्थान करता है। रामगिरी वह पर्वत है, जहाँ यक्ष अपने विरह के दिन व्यतीत करता है तथा मेघ को देखकर उससे अपनी प्रिया यक्षिणी के पास सन्देश ले जाने की याचना करता है। (*मेघदूतम्* के प्रसिद्ध टीकाकार मल्लीनाथ ने रामगिरी पर्वत को चित्रकूट का पर्यायवाची शब्द स्वीकार कर लिखा है "**रामगिरेश्चित्रकूटस्याश्रमेषु**"[99] परन्तु इससे विद्वानों में मतभेद है।) इसके पश्चात् उत्तर की ओर होते हुए आगे बढ़ता हुआ मालप्रदेश आएगा, जो छत्तीसगढ़ के निकट एक भू-भाग है, वहाँ से होते हुए उत्तर की ओर आम्रकूट पर्वत मिलेगा जहाँ कुछ विश्राम कर सकते हो।[100] यह आम्रकूट पर्वत वर्तमान में अमरकण्टक पर्वत है। इसके पश्चात् उत्तर की ओर जाते हुए मेघ को विन्ध्यपाद अर्थात् विन्ध्याचल का दक्षिणी प्रदेश जो सतपुड़ा पर्वतमाला के नाम से प्रसिद्ध है, पर फैली हुई रेवा अर्थात् नर्मदा नदी दिखाई देगी, जो विन्ध्यपाद की ऊँची चट्टानों पर बह रही होगी।[101] यहाँ से आगे पहुँचने पर दशार्ण प्रदेश आएगा। कालिदास के अनुसार यह एक राज्य था, जिसकी राजधानी विदिशा थी, जिसे वर्तमान में "भिलसा" कहते हैं। यक्ष कहता है कि मेघ तदनन्तर तुम विदिशा पहुँचोगे। वेत्रवती तथा विदिशा को पार करके तुम नीचैः नामक पर्वत पर पहुँच जाओगे। इस प्रकार *मेघदूतम्* में मेघ का मार्ग रामगिरी से उत्तर की ओर सीधा बढ़ता गया, जिसे किसी अन्य दिशा की ओर नहीं मुड़ना पड़ा। तत्पश्चात् यक्ष कहता है कि अब मेघ तुम्हें कुछ वक्र अर्थात् टेढ़ा मार्ग अपनाना पड़ेगा जिससे तुम उज्जयिनी के दर्शन कर सको।[102] उसे अब कुछ पश्चिम की ओर बढ़ना होगा क्योंकि उज्जयिनी, विशाला अथवा आधुनिक उज्जैन उस समय तत्कालीन अवन्ति (पश्चिमी मालवा) राज्य की राजधानी थी और यह शिप्रा नदी के तट पर स्थित है। उज्जयिनी जाने के लिए मेघ को निर्विन्ध्या नदी को पार करना पड़ा। उज्जयिनी में उसे गन्धवती नदी की सुगन्धित वायु के सेवन का अवसर प्राप्त होगा। इसके पश्चात् उज्जयिनी से सीधे मार्ग पर चलकर मेघ गम्भीरा नदी के तट पर पहुँचेगा। वस्तुतः गन्धवती, गम्भीरा तथा शिप्रा यह सब नदियाँ चम्बल नदी की सहायक नदियाँ हैं। आगे चलकर मेघ देवगिरी पहुँचेगा। इसे चम्बल तथा गम्भीरा के मध्य स्थित कहा जा सकता है। मेघ मार्ग की दृष्टि के अनुसार यह उज्जैन तथा दशपुर मन्दसौर के बीच होगा। आगे जाकर तुम्हें चर्मण्वती (चम्बल) नदी प्राप्त होगी।[103] चम्बल नदी को पार करके, तुम आगे दशपुर पहुँचोगे। दशपुर वर्तमान में मन्दसौर है। इसके पश्चात् मेघ ब्रह्मावर्त प्रदेश को पार करता हुआ कुरुक्षेत्र पहुँचेगा तथा सरस्वती नदी के जल का पान करेगा। तदनन्तर मेघ कनखल (हरिद्वार के समीप) नामक पर्वत से गंगा की ओर जाता है।[104] यक्ष कहता है कि गंगा नदी पर पहुँचकर पुनः तुम गंगा की उत्पत्ति स्थान हिमालय पर पहुँचना और उसके शृंग पर बैठकर कुछ क्षण विश्राम करना।[105] तदनन्तर तुम हिमालय पर्वत के छोर पर स्थित विशेष स्थानों को देखते हुए मानसरोवर को जाने के लिए हंसों के प्रवेश द्वार क्रौञ्चरन्ध्र पर पहुँचना। यहाँ से उत्तर की ओर चलकर कैलाश पर पहुँचना।[106] इस कैलाश के अंक में बसी अलकापुरी को देखना। इस प्रकार *मेघदूतम्* में वर्णित रामगिरी से लेकर अलकापुरी के मार्ग का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है, कि कालिदास को भौगोलिक विज्ञान के

---

[99] *मेघदूतम्* 1.1 पर मल्लीनाथ टीका

[100] वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः। – *मेघदूतम्* 1.17

[101] रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्। – *मेघदूतम्* 1.19

[102] नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्राम हेतोः। – *मेघदूतम्* 1.26

[103] वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां, सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।। – *मेघदूतम्* 1.28

[104] व्यालम्वेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्। स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्।। – *मेघदूतम्* 1.48

[105] *मेघदूतम्* 1.52-53

[106] *मेघदूतम्* 1.53

साथ-साथ मानसून विज्ञान का भी पूर्ण ज्ञान था। मानसूनी हवाएँ भी इसी दिशा से आगे की ओर बढ़ती हैं। जिसे मानचित्र की सहायता से दिखाया गया है।

मानसून मानचित्र

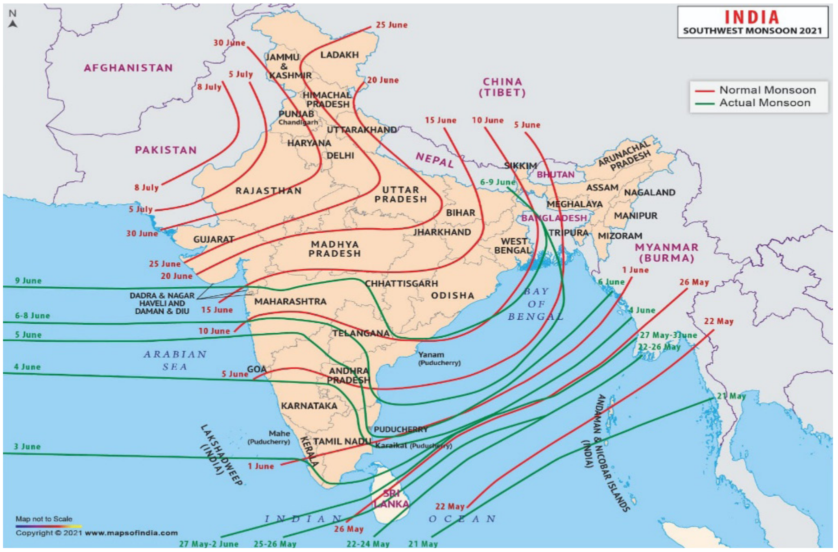

मेघदूतम् में वर्णित मेघ मार्ग

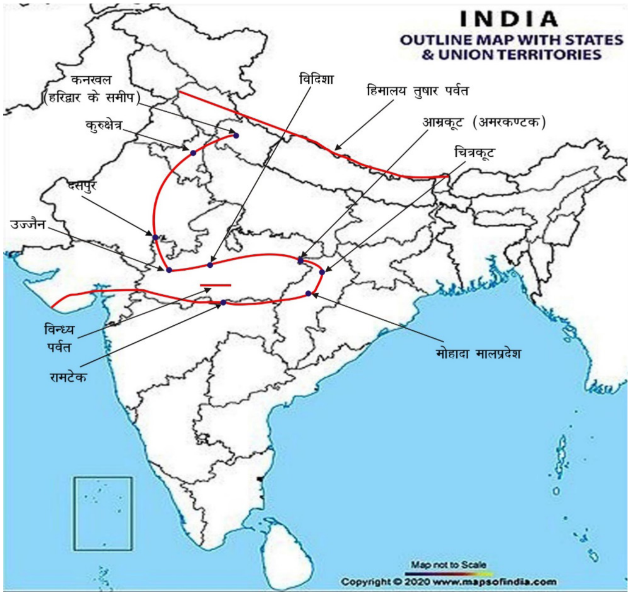

कृषि मेघ पर निर्भर

भारत कृषि की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारत की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या कृषि-सम्बन्धित कार्यो में संलग्न है। कृषि हमारे लिए खाद्यान्न उत्पन्न करती है, इसके साथ-साथ यह अनेक उद्योगों के लिए कच्चा माल भी उत्पन्न करती है तथा कुछ चाय, कॉफी आदि का निर्यात भी किया जाता है। ऐसा कहा जा सकता है कि कृषि आज भी हमें कहीं न कहीं आर्थिक रूप से मजबूत बनाती है। आज भी भारत में 64 प्रतिशत कृषि मानसून अर्थात् वर्षा पर निर्भर करती है। *मेघदूतम्* में वर्णित है "**कृषिफलम् त्वयि आयत्तम् इति**"[107] अर्थात् कृषि मेघ पर निर्भर करती है। अभिप्राय यह है कि मेघ ही कृषि की वृद्धि करने में सहायक है। यदि वर्षा होने में कुछ समय लग जाए, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वनस्पति आकाश की ओर मुख करके देखने लग जाती है तथा जब वर्षा होती है, तब उनके नेत्रों एवं जीवन में सन्तुष्टि हो जाती है। मेघ जल को अपने भीतर बद्ध रखता है। मेघ-जल से ही वनस्पति जगत् पुष्ट होकर जीवन वृद्धि में सहायक है जल ही सम्पूर्ण औषधियों का सार है। पाराशर ऋषि कहते हैं कि "**वृष्टिमूला कृषिः सर्वा वृष्टिमूलं च जीवनम्**"[108] अर्थात् सम्पूर्ण कृषि का मूल कारण वृष्टि है एवं वृष्टि ही जीवन का मूल है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा गया है कि –

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥[109]

> अर्थात् सभी प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है, वर्षा यज्ञ से होती है तथा यज्ञ विहित कर्मों से निष्पन्न होता है।

मेघ के भीतर विद्यमान विद्युत वृष्टि का कारण है। वृष्टि यज्ञ में विद्युत का यजन होता है क्योंकि वह जल और अन्नादि को देने का सामर्थ्य रखती है। "जल ही सम्पूर्ण जगत् है, जल ही भूत है, जल ही प्राण है, जल ही पशुगण है, जल ही अमृत है, जल ही अन्न है, जल ही सम्राट अर्थात् लोकों का स्वामी ब्रह्मा है, जल ही विराट् है, जल ही स्वराट् है, जल ही छन्द, जल ही प्रकाशक है, जल ही सत्य है।"[110] *मनुस्मृति* में कहा गया है कि –

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥[111]

अग्नि में दी गई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न तथा अन्न से प्रजा का पालन होता है। यज्ञ का धूम आकाश में जाकर बादलों में मिलता है, जिससे वर्षा का अभाव दूर होता है, साथ ही यज्ञ धूम की शक्ति के कारण बादलों में प्राण-शक्ति बढ़ जाती है। इसके द्वारा हुई वर्षा से अन्न, वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु शक्ति-सम्पन्न होते हैं। *कूर्म पुराण* में कहा गया है कि पृथ्वी तल पर एक बार ही उस वृष्टि का संयोग होने से उन प्रजाओं के लिए गृह संज्ञक वृक्षों की उत्पत्ति

---

[107] *मेघदूतम्* 1.16

[108] *कृषि पाराशरः*, प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, वृष्टिखण्ड 1

[109] *श्रीमद्भगवद्गीता* 3.14

[110] आपो वा इदँ सर्वं विश्वा भूतान्यापः प्राणा वा आपः पशव आपोऽमृतमापोऽन्नमापः सम्राडापो विराडापः स्वराडापश्छन्दाँस्यापो ज्योतींस्यापस्सत्यमापस्सर्वा देवता आपो भूर्भुवस्सुवराप ओम। – प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय, *नारायणोपनिषत्* 37 (अनु 22) 112 (*कठादिसप्तोपनिषद्*' पृ० 588), मोतीलाल बनारसीदास

[111] *मनुस्मृति* 3.76

हुई।[112] उन वृक्षों के द्वारा ही प्रजा के सभी कार्य सम्पन्न होने लगे तथा त्रेता युग के प्रारम्भ में वह समस्त प्रजा उनसे ही अपना जीवन निर्वाह करती थी।[113] जिस प्रकार सज्जन व्यक्ति दूसरों की मदद करते हुए उनसे कुछ लेने की इच्छा नहीं करते, उसी प्रकार वर्षा के मेघ किसी से कुछ न माँगते हुए भी पूरे विश्व पर पर्जन्य वृष्टि करते हैं। अतः हमें प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में प्राप्त वर्षा-सम्बन्धित विषयों पर विचार करना चाहिए।

मेघ और विद्युत

आज भारत विज्ञान की दृष्टि से अन्य बहुत से देशों की तुलना में आगे है। विज्ञान ने मनुष्य को अनेक वरदान प्रदान किए हैं, जिनमें से विद्युत भी एक है "विशेषेण द्योतते इति विद्युत्" – द्युत् धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर विद्युत शब्द बनता है। जो ऊर्जा का एक शक्तिशाली स्रोत है। जिसके द्वारा रेडियो, टीवी, टेलीफोन, रेलगाड़ी, अनेक मशीनें आदि चलाई जाती हैं। इसके इतने अधिक उपयोग हैं कि उन सबको यहाँ वर्णित करना सम्भव नहीं है। विद्युत ने हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। आज विद्युत के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भविष्य में इसका प्रयोग और भी विस्तृत हो जाएगा। अतः आज हमें यह सोचने की आवश्यकता है कि किस प्रकार उसके उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। संस्कृत वाङ्मय में विद्युत सम्बन्धित अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। विद्युत के वर्ण के आधार पर चार भेद किए जा सकते हैं– कपिला, अतिलोहिता, सिता और पीता। कपिल वर्ण की विद्युत होने से वायु, लोहित वर्ण की होने से आतप, पीत वर्ण की होने से वर्षण और सित वर्ण की होने से दुर्भिक्ष होती है। विद्युत उत्पत्ति का एक कारण मेघ भी है। समुद्र और स्थल भाग की ऊपर वाली वायु तड़ित उत्पन्न करने में असमर्थ है, परन्तु जल के वाष्पीभूत होते ही उसमें विद्युत उत्पन्न हो जाती है। इसका अर्थ है बिजली, तड़ित, शम्पा, सौदामिनी आदि। *मेघदूतम्* के पूर्वमेघ में अन्धकार को दूर करने के अर्थ में कहा गया है कि हे मेघ! तुम अपनी कसौटी पर स्वर्णरेखा के समान बिजली से उनको पृथ्वी दिखा देना।[114] *कादम्बिनी* में कहा गया है कि उत्तर दिशा में सुनहरे रंग की बिजली चमके तो उसे अवश्य ही वर्षा करने वाला समझना चाहिए।[115] *मेघदूतम्* में मेघ को बिजली से युक्त कहा गया है।[116] विद्युत का प्रसङ्ग *अष्टाध्यायी* में भी प्राप्त होता है, जहाँ विद्युत के वर्ण का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं –

वाताय कपिला विद्युदातपायाति लोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥[117]

आकाश में भूरे रंग की चमकने वाली बिजली वात के लिए अर्थात् आँधी-तूफान को लाती है, अत्यधिक लाल रंग की बिजली धूप अर्थात् अत्यधिक गर्मी को बढ़ाती है, पीले रंग की अत्यधिक चमकने वाली बिजली वर्षा करती है, जबकि सफेद विद्युत अकाल (दुर्भिक्ष) की सूचक होती है। सौदामिनी और पूर्वा बिजली यदि कमल के पुष्प के समान हो तो वह शुभ–अशुभ फल देने वाली होती है। वह बिजली निरभ्रा बादलों से रहित, देवांगना के समान मिश्रकेशी, शीघ्र गमन करने वाली और वज्र के समान हो तो अशनि नाम से कही जाती है, वर्षा का कारण है, अतः यह वर्ष भी कही जाती है। इस बिजली के नाम इसकी क्रिया निरुक्ति से अवगत कर लेना चाहिए।[118]

---

[112] सकृदेव तया वृष्ट्या संयुक्ते पृथिवीतले। प्रादुरासंस्तदा तासां वृक्षा वै गृहसंज्ञिताः।। – *कूर्म पुराण* 27.27

[113] सर्वप्रत्युपयोगस्तु तासां तेभ्यः प्रजायते। वर्तयन्ति स्म तेभ्यस्तास्त्रेतायुगमुखे प्रजाः।। – *कूर्म पुराण* 27.28

[114] सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं। – *मेघदूतम्* 1.40

[115] उत्तरस्यां यदा विद्युत् स्वर्णवर्णा प्रदीप्यते। सावश्यं जलदा ज्ञेया शीघ्रं मेघमहोदयः।। – *कादम्बिनी* 78, पृ० 146

[116] *मेघदूतम्* 2.1

[117] *अष्टाध्यायी* 2.3.13

[118] सौदामिनी च पूर्वा च कुसुमोत्पलनिभा शुभा । निरभ्रा मिश्रकेशी च क्षिप्रगा चाशनिस्तथा।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.2

स्निग्धास्निग्धेषु चाभ्रेषु विद्युत् प्राच्या जलावहा।
कृष्णा तु कृष्णमार्गस्था वातवर्षावहा भवेत्॥[119]

स्निग्ध बादल से उत्पन्न बिजली स्निग्धा कही जाती है। यदि यह पूर्व दिशा की हो तो अवश्य वर्षा करती है। यदि काले बादल से उत्पन्न हो तो कृष्णा कही जाती है तथा यह वायु की वर्षा करती है, जिसमें तेज पवन चलती है। यहाँ पर कृष्ण शब्द अग्निवाचक है। अतः अग्निकोण के मार्ग में स्थित विद्युत कृष्णा नाम से कही जाती है। इसका फल तीव्र पवन का चलना है। जिस बिजली में रश्मियाँ नहीं हैं, वह अस्निग्धा कही जाती है और हरित प्रभाव वाली बिजली हरिता कही जाती है, दक्षिण में गमन करने वाली दक्षिणा कहलाती है। इस प्रकार की विद्युत बरसने की सूचना देती है।[120] पृथ्वी पर प्रकाश करने वाली विद्युत रश्मिवती, नैर्ऋत्य कोण में गमन करने वाली हरिता और बहुत रोम वाली बिजली बहुत जल की वृष्टि करने वाली होती है।[121] पश्चिम दिशा में प्रकट होने वाली, उत्तर मुख करके गमन करने वाली, कृष्ण रंग के बादलों से निकलने वाली और स्निग्धा यह चारों प्रकार की बिजलियाँ जल के आने की सूचना देती हैं।[122] यदि विद्युत उत्तर-पूर्व (ईशान दिशा) में हो तो अवश्य ही वृष्टि होती है और यदि वही विद्युत दक्षिण-पूर्व (आग्नेय दिशा) में हो तो वृष्टि कभी नहीं होती।

विद्युदुत्तरपूर्वायाममोघो मारुतोऽथ वा।
यदि दक्षिणपूर्वायां वृष्टिर्नैव भवेत्तदा॥[123]

ज्योतिस्तत्त्वम् में कहा गया है कि –

पाशीन्द्रचान्द्रीशहरित्क्षणप्रभा वृष्टिप्रदा स्यादतिवेलमाशु सा।
मरुद्धरिज्जा चपलापि वृष्टिकृत्स्याद्वृष्टिहर्त्र्यन्यककुब्भवा तडित्॥[124]

अभिप्राय यह है कि पश्चिम, पूर्व, उत्तर और ईशान इन दिशाओं में विद्युत दृष्टिगोचर हो तो शीघ्र अत्यधिक वृष्टिदायक होती है। वायव्य दिशा में विद्युत दृष्टिगत हो तो भी वृष्टिदायक होती है एवं अन्य दिशाओं में अर्थात् आग्नेय, दक्षिण और नैर्ऋत्य में विद्युत दिखाई दे तो वर्षा का हरण करने वाली होती है। *कादम्बिनी* में विद्युत सम्बन्धित अनेक प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं "पूर्व की बिजली से जल की वर्षा, अग्निकोण की बिजली से जल का नाश, दक्षिण की बिजली से कम जल और नैर्ऋत्य की बिजली से डमर अर्थात् धुन्ध छा जाती है"।[125] पश्चिम से उठी बिजली अधिक जल और धान्य देने वाली होती है, वायव्य कोण की बिजली वायु पैदा करती है और उत्तर की बिजली से मेघ आता है।[126] *मेघदूतम्* में भी जब उत्तर की ओर बिजली चमकती है, तब मेघ का वर्णन प्राप्त होता है। ईशान कोण की बिजली से शीघ्र ही मेघ आता है। इस प्रकार सब दिशाओं

एतासां नामभिर्वर्षं ज्ञेयं कर्मनिरुक्तिता। – वही 5.3

119 *भद्रबाहुसंहिता* 5.4

120 अथ रश्मिगतोऽस्निग्धा हरिता हरितप्रभा। दक्षिणा दक्षिणावर्ता कुर्यादुदकसंभवम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.5

121 रश्मिवती मेदिनी भाति विद्युदपरदक्षिणे। हरिता भाति रोमाञ्चं सोदकं पातयेद् बहुम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.6

122 अपरेण तु या विद्युच्चरते चोत्तरामुखी। कृष्णाभ्रसंश्रिता स्निग्धा साऽपि कुर्याज्जलागमम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.7

123 *समासकुसुमावलि* 31

124 *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 141

125 ऐन्द्री जलप्रदा विद्युदाग्नेयी जलनाशिनी। ददिणोत्था स्वल्पजला नैर्ऋत्या डमरप्रदा।। – *कादम्बिनी*, विद्युत 75

126 प्रभूतजलदा सर्वसस्यदा पश्चिमोत्थिता। वातं करोति वायव्या कौवेरी जलवर्षिणी।। – *कादम्बिनी*, विद्युत 76

की बिजली की परीक्षा जाननी चाहिए, जिस देश में सुभिक्ष होता है, बिजली उधर जाती है।[127] जो विद्युत् अपनी किरणों से भूमि को प्रकाशित करती हुई पश्चिम से दक्षिण दिशा की ओर जाती है, हरिताल के रंग की हो और अधिक रोम वाली हो तो उसे अधिक जल देने वाली समझना चाहिए।[128] जो विद्युत पश्चिम से उत्तर को जाती है, काले बादलों में संस्थित अर्थात् चमक रही हो और स्निग्ध हो तो वह भी वर्षा करने वाली होती है।[129] सफेद रंग वाली ईशान कोण की विद्युत, दक्षिण दिशा में यदि दौड़े, टेढ़ी और ऊर्ध्वगति की हो तो वह भी वर्षा करती है।[130] जो विद्युत मेघ के अन्दर नील, ताम्र या सफेद रंग की चमकती हो वह चाहे धीमी या तेज ध्वनि वाली, अधिक जल बरसाती है।[131] जो छोटे मेघ हैं वह विद्युत के प्रकाश के बिना न कभी जल बरसाते हैं और न कभी गर्जना करते हैं।[132] *भद्रबाहुसंहिता* में भी मेघ में प्राप्त विद्युत का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है –

अपरोत्तरा तु या विद्युन्मन्दतोया हि सा स्मृता।
उदीच्यां सर्ववर्णस्था रूक्षा तु सा तु वर्षति॥[133]

अभिप्राय यह है कि वायव्य कोण की विद्युत अल्प वृष्टि करने वाली और उत्तर दिशा की विद्युत चाहे किसी भी वर्ण की क्यों न हो अथवा रुक्ष भी हो तब भी जल वृष्टि करने वाली होती है। इसी प्रकार यदि ईशान कोण की विद्युत तिरछी होकर पूर्व की ओर जाए तथा दक्षिण में जाकर विलीन हो जाए और श्वेत रंग की हो तो वह जलवृष्टि करने वाली होती है।[134] यदि विद्युत ऊपर-नीचे जाने वाली स्निग्धा और बहुत रश्मि वाली शब्द करती हुई या शब्द न भी करने वाली हो तब भी वह सर्वत्र वर्षा करने वाली होती है।[135] विद्युत के वर्णों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण की विद्युत में से श्वेत वर्ण की विद्युत ऊपर गिरे तो पृथ्वी पर जल ही जल बरसता है अर्थात् पृथ्वी जल से आप्लावित हो जाती है।[136] यदि श्वेत वर्ण की विद्युत वृक्ष के ऊपर गिरे अथवा दो गृहों के मध्य से होकर गिरे, तो अत्यधिक वायु सहित जल की वर्षा होती है।[137]

अथ चन्द्राद् विनिष्क्रम्य विद्युन्मंडलसंस्थिता।
श्वेताऽऽभा प्रविशेदर्क विन्द्यादुदकसंप्लवम्॥[138]

अभिप्राय यह है कि यदि चन्द्रमण्डल से निकलकर श्वेत मेघयुक्त विद्युत सूर्यमण्डल में प्रवेश करे, तो उसे अधिक वर्षा की सूचिका मानना चाहिए –

---

127 शीघ्रवृष्टिकृदैशानी दिश्यं वैद्युतलक्षणम्। यत्र देशे सुभिक्षं स्याद् विद्युत् तत्रैव गच्छति।। – *कादम्बिनी, विद्युत* 77

128 रश्मिभिर्भासयन्ती गां या स्यादपरदक्षिणा। हरितालाऽतिरोमा च सोदकं बहु वर्षति।। – *कादम्बिनी,* विद्युत 81

129 विद्युच्चरति या नूनमपरेणोत्तरामुखी। कृष्णाभ्रसंस्थिता स्निग्धा सापि कुर्याज्जलागमम्।। – *कादम्बिनी,* विद्युत 82

130 श्वेता पूर्वोत्तरा विद्युद्दक्षिणस्यां प्रधावति। तिर्यगूर्ध्वं च चरति सापि कुर्याज्जलागमम्।। – *कादम्बिनी,* विद्युत 83

131 नीला ताम्रा गौरवर्णा श्वेता वाऽभ्रान्तरं चरेत्। मन्दघोषातिघोषा वा कुर्यादुदकसप्लवम्।। – *कादम्बिनी,* विद्युत 85

132 महामेघेतरे मेघा न वर्षन्ति जलं बहु। न गर्जन्ति च ते जातु विना विद्युद्विकाशतः।। – *कादम्बिनी,* विद्युत 90

133 *भद्रबाहुसंहिता* 5.8

134 या तु पूर्वोत्तरा विद्युत् दक्षिणा च पलायते। चरत्यूर्ध्वं च तिर्यक्स्था साऽपि श्वेता जलावहा।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.9

135 तथैवोर्ध्वमघो वाऽपि स्निग्धा रश्मिमती भृशम्। सघोषा चाप्यघोषा वा दिक्षु सर्वासु वर्षति।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.10

136 अथ नीलाश्च पीताश्च रक्ताः श्वेताश्च विद्युतः। एतां श्वेतां पतत्यूर्ध्वं विद्युदुदकसंप्लवम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.15

137 यदा श्वेताऽभ्रवृक्षस्य विद्युच्छिरसि संचरेत्। अथ वा गृहयोर्मध्ये वातवर्षं सृजेन्महत्।। – भद्रबाहुसंहिता 5.17

138 *भद्रबाहुसंहिता* 5.18

अथ सूर्याद् विनिष्क्रम्य रक्ता समलिना भवेत्।
प्रविश्य सोमं वा तस्य तत्र वृष्टिर्भयङ्करा॥[139]

इसी प्रकार यदि सूर्यमण्डल से निकलकर रक्त वर्ण की मलिन विद्युत चन्द्रमण्डल में प्रवेश करे तो वहाँ अत्यधिक तीव्र वायु चलती है। नील, ताम्र, गौर और श्वेत बादलों से विद्युत का संचार हो तथा वह भारी गर्जना अथवा थोड़ी गर्जना युक्त हो, तब अच्छी वर्षा होती है।[140] इसी प्रकार आकाश के मध्य मार्ग से गमन करने वाली विद्युत मध्यम वर्षा, जघन्य मार्ग से गमन करने वाली विद्युत जघन्य वर्षा तथा उत्तम मार्ग से गमन करने वाली विद्युत उत्तम वर्षा की सूचना देती है।[141] इस प्रकार विद्युत के कारणों, दिशा एवं वर्ण के आधार पर वर्षा का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रश्न होता है कि क्या आकाशीय विद्युत के द्वारा प्रयोग में की जाने वाली बिजली का निर्माण किया जा सकता है। आकाशीय विद्युत से ऊर्जा बनाने का प्रयास लगातार किया जा रहा है, परन्तु उसमें कुछ समस्याएँ आ रही हैं, जब ठण्डी वायु संघनित होकर बादल का रूप धारण करती है, तब बादलों के भीतर गर्म हवा की गति और नीचे ठण्डी हवा के होने से बादलों में घनावेश (positive charge) ऊपर कि ओर तथा ऋणावेश (negative charge) नीचे की ओर होता है। मेघ में इन विपरीत आवेशों की अभिक्रिया से विद्युत आवेश उत्पन्न होता है, बिजली की एक किरण में इतनी ऊर्जा होती है कि वह एक स्थान को 1 मिनट या कुछ सेकण्ड के लिए पूरी तरह प्रकाशित कर सकती है।

मास के अनुसार विद्युत

शिशिरे चापि वर्षन्ति रक्ताः पीताश्च विद्युतः।
नीलाः श्वेता वसन्तेषु न वर्षन्ति कथञ्चन॥[142]

अभिप्राय यह है कि यदि शिशिर, माघ, फाल्गुन में नीले और पीले वर्ण की विद्युत हो तो वर्षा होती है तथा वसन्त, चैत्र, वैशाख में नील और श्वेत वर्ण की विद्युत हो तो वर्षा कभी भी नहीं होती। इसी प्रकार हरे और मधु रंग की रुक्ष और स्थिर विद्युत ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ, आषाढ़ में चमके तो वृष्टि नहीं होती तथा इसी प्रकार वर्षा ऋतु श्रावण भाद्रपद में ताम्र वर्ण की विद्युत चमके तो वर्षा का अवरोध होता है।[143] अतः शरद ऋतु आश्विन, कार्तिक में नीलवर्ण की तथा हेमन्त, मार्गशीर्ष, पौष मास में यदि श्याम एवं ताम्र वर्ण की विद्युत चमके तो जल की वर्षा नहीं होती।[144] वैश्वानर पथ अग्निकोण में उत्पन्न हुई श्वेता और रुक्षा नाम की बिजलियाँ विद्युत कही जाती हैं, यह अशनि वृष्टि करती हैं, रक्त वर्ण की बिजली अग्नि का भय करती है।[145] इस प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में विद्युत से सम्बन्धित ज्ञान का अथाह भण्डार है, जिससे लाभ प्राप्त करके वैज्ञानिक को विद्युत उत्पादन एवं निर्माण के लिए अनेक तथ्य प्राप्त हो सकते हैं। हम आकाश में उत्पन्न विद्युत को किस प्रकार दैनिक जीवन में प्रयोग कर सकते हैं, यह एक विज्ञान का विषय है। यदि प्रकृत शोध उसमें थोड़ा सा भी सहायक हो तो किया गया यह कार्य सफल हो जाएगा।

---

[139] *भद्रबाहुसंहिता* 5.19

[140] नीला ताम्रा च गौरा च श्वेता चाऽभ्रान्तरं चरेत्। सघोषा मन्दघोषा वा विन्द्यादुदकसंप्लवम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.22

[141] मध्यमे मध्यमं वर्ष अधमे अधमं दिशेत्। उत्तमं चोत्तमे मार्गे चरन्तीनां च विद्युताम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.23

[142] *भद्रबाहुसंहिता* 5.11

[143] हरिता मधुवर्णाश्च ग्रीष्मे रुक्षाश्च निश्चलाः। भवन्ति ताम्रगौराश्च वर्षास्वपि निरोधकाः।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.12

[144] शारद्यो नाभिवर्षन्ति नीला वर्षाश्च विद्युतः। हेमन्ते श्यामताम्रास्तु तडितो निर्जलाः स्मृताः।। – *भद्रबाहुसंहिता* 5.13

[145] वैश्वानरपथे विद्युत् श्वेता रुक्षा चरेद् यतः। विन्द्यात् तदाऽशनिवर्षं रक्तायामग्निनतो भयम्।। – भद्रबाहुसंहिता 5.16

मेघ और इन्द्रधनुष

मेघदूतम् में इन्द्रधनुष का वर्णन भी प्राप्त होता है। उत्तरमेघ में कवि मेघ को सेन्द्रचापम्[146] कहकर अभिहित करता है अर्थात् तुम इन्द्रधनुष से युक्त हो, तुम इन्द्रधनुष से सप्तरंगी हो। इस प्रकार कालिदास कृत *मेघदूतम्* में मेघ के साथ इन्द्रधनुष का सम्बन्ध प्राप्त होता है। मानो मेघ के अग्रभाग में एक सुन्दर रंग-बिरंगा सप्तरंगी धनुष सुशोभित होता है। मेघ का वर्णन करते हुए यक्ष कहता है कि "रत्नों की कान्ति या चमक के मिश्रण के समान दर्शनीय सामने दिखाई देने वाला यह धनुष वामी के अग्रभाग से सामने निकल रहा है, जिस कारण तुम्हारा सांवला शरीर चमकती हुई कान्तियों वाले मोर पंख से गोपवेषधारी विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण के श्याम शरीर के समान शोभा प्राप्त करेगा।"[147] जिस प्रकार मोर पंख के अनेक रंगों की चमक से श्रीकृष्ण का शरीर शोभा प्राप्त करता है, उसी प्रकार इन्द्रधनुष से कृष्ण के समान तुम्हारा शरीर शोभा प्राप्त करेगा। इन्द्रधनुष के विषय में वराहमिहिर कृत *बृहत्संहिता* में कहा गया है –

सूर्यस्य विविधाः वर्णाः, पवनेन विघट्टिताः साभ्रे।
वियति धनुः संस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः॥[148]

मेघयुक्त आकाश में वायु से सूर्यकिरण टकराकर अनेक वर्णयुक्त धनुषाकार जो प्रतीत होता है, उसी को "इन्द्रधनुष" कहते हैं। सूर्य की सप्तरंगी किरणें जब मेघयुक्त आकाश में वायु से टकराकर निकलती हैं, तब वह एक धनुष का रूप धारण कर लेती है, जिसे इन्द्रधनुष कहते हैं। *कादम्बिनी* के अनुसार वायु से टकराई हुई सूर्य की किरणें जो जल के भीतर प्रविष्ट हो जाती हैं, उससे सात वर्ण वाले धनुष की स्थिति होती है, जिसे इन्द्रधनुष कहा गया है।[149] *बृहत्संहिता* के अनुसार अखण्ड पृथ्वी में लगा हुआ, उज्जवल, निर्मल, अविकल, अनेक वर्णयुक्त, दो बार उदित या पश्चिम में स्थित इन्द्रधनुष दिखाई दे तो शुभ फल प्रदान करने वाला तथा बहुत वृष्टि करने वाला होता है।[150] यदि जल में इन्द्रधनुष दिखाई दे तो अनावृष्टि, पृथ्वी पर दिखाई दे तो धान्यों का नाश, वृक्ष पर दिखाई दे तो व्याधि, वल्मीक[151] पर दिखाई दे तो शस्त्र भय और रात्रि में दिखाई दे तो मन्त्री का मरण होता है।[152] इसी प्रकार वराहमिहिर दिशा के अनुसार इन्द्रधनुष का फल बताते हुए कहते हैं –

वृष्टिं करोत्यवृष्ट्यां वृष्टिं वृष्ट्यां निवारयत्यैन्द्रयाम्।
पश्चात् सदैव वृष्टिं कुलिशभृतश्चापमाचष्टे॥[153]

यदि अनावृष्टि के समय पूर्व दिशा में इन्द्रधनुष दिखाई दे तो वृष्टि और वृष्टि के समय दिखाई दे तो अनावृष्टि तथा पश्चिम दिशा में स्थित इन्द्रधनुष सदा वृष्टि करता है। किसी जल के साथ उठा हुआ धनुष अवृष्टि करता है, भूमि से उठा हुआ धान्य

---

146 *मेघदूतम्* 2.1

147 रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्ति मापत्स्यते ते वर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।। – *मेघदूतम्* 1.15

148 *बृहत्संहिता* 35.1

149 नीरांतराः करा भानोः पवनेन विघट्टिताः। सप्तवर्णा धनुःसंस्था दृष्टा इन्द्रधनुर्मतम्।। – *कादम्बिनी* 175, पृ० 167

150 अच्छिन्नमवनिगाढं द्युतिमत् स्निग्धं घनं विविधवर्णम्। द्विरुदितमनुलोमं च प्रशस्तमम्भः प्रयच्छति च।। – *बृहत्संहिता,* इन्द्रायुधलक्षणाध्यायः 3

151 वाल्मीके शस्त्रभयं निशि सचिववधाय धनुरैन्द्रम्।। – *बृहत्संहिता* पृ० 446

152 जलमध्येऽनावृष्टिर्भुवि सस्यवधस्तरौ स्थिते व्याधिः। वाल्मीके शस्त्रभयं निशि सचिववधाय धनुरैन्द्रम्।। – *बृहत्संहिता* इन्द्रायुधलक्षणाध्यायः 5

153 *बृहत्संहिता,* इन्द्रायुधलक्षणाध्यायः 6

नाश करता है, साँप की बाँबी से उठा हुआ युद्ध करने वाला और किसी वृक्ष से उठा हुआ धनुष व्याधि उत्पन्न करता है।[154] वर्षा न होते हुए पूर्व में धनुष दिखाई दे तब वृष्टि होती है और यदि वर्षा होते हुए धनुष दिखाई दे तो वृष्टि का नाश होता है, पश्चिम में धनुष होने से सदा वृष्टि होती है।[155] सूर्य के अस्त समय में पश्चिम दिशा में इन्द्रधनुष होने से बारहवें प्रहर में पूर्ण वृष्टि होती है।[156] उत्तर में इन्द्रधनुष के होने से भयानक वर्षा होती है और दक्षिण में इन्द्रधनुष के होने से वर्षा की रुकावट होती है अथवा कई दिन तक वर्षा होती है।[157] आकाश में आधे इन्द्रधनुष के होने पर अत्यन्त शुभ वर्षा और समर्घता होती है।[158] विज्ञान के अनुसार इन्द्रधनुष सूर्य की रोशनी के वर्षा की बूँदों से गुजरने पर वर्ण विक्षेपण (reflect) होने पर बनता है। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब वर्षा होती है तब वर्षा की कुछ बूँदें आकाश में बड़े आकार में रह जाती हैं और जब सूर्य की किरणें इन बूँदों से होकर गुजरती है तो पृथ्वी पर आते समय अलग-अलग रंगों में परिवर्तित हो जाती हैं, जो इन्द्रधनुष के रूप में दिखाई देती हैं।

मेघ गर्भधारण एवं वृष्टि

सौदामनी गन्धवहः कबन्धं कबन्धवाहो रसितं तथैव।
वैज्ञानिकैः पञ्चनिमित्तकानि प्रोक्तानि गर्भस्य मुनिप्रवर्य्यैः ॥[159]

अर्थात् विद्युत, वायु, जल, मेघ तथा रसित अर्थात् मेघ गर्जन यह गर्भ के पाँच निमित्त श्रेष्ठ मुनिजनों के द्वारा कहे गए हैं।

जल के वाष्प के रूप में परिवर्तित होने के समय से लेकर वर्षा होने के समय को गर्भकाल कहते हैं। *भद्रबाहु संहिता* के अनुसार दिन का गर्भ रात्रि में जल की वर्षा करता है तथा रात्रि का गर्भ दिन में जल की वर्षा करता है।[160]

सप्तमे सप्तमे मासे सप्तमे सप्तमेऽहनि।
गर्भाः पाकं विगच्छन्ति यादृशं तादृशं फलम् ॥[161]

सात महीने और सात दिन में गर्भ पूर्ण परिपक्व अवस्था को प्राप्त होता है। जिस प्रकार का गर्भ होता है, उसी प्रकार का फल भी प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि गर्भ के परिपक्व होने का समय सात महीने और सात दिन का है, *वराहसंहिता* में यद्यपि यह 196 दिन गर्भ के परिपक्व होने के लिए बताए गए हैं। परन्तु यहाँ आचार्य भद्रबाहु ने 7 महीने और 7 दिन बताए हैं। दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि यहाँ पर नक्षत्र मास ग्रहण किया गया है। एक नक्षत्र मास 27 दिन का होता है, अतः योग करने पर यह भी 196 दिन ही आते हैं। यदि एक वैज्ञानिक गर्भ धारण का समय जान लेता है, तब वह सफलतापूर्वक इसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि गर्भ धारण के कितने दिन के पश्चात् वृष्टि होगी तथा उसका पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

---

154 अवृष्टिकृज्जलोद्भूतं भूमिजं सस्यनाशकृत्। वल्मीकजं संगरकृद वृक्षजं व्याधिकृद्धनुः।। – कादम्बिनी 178

155 अवृष्ट्यां कारयेद् वृष्टिं वृष्टिं वृष्टयां निवारयेत्। पूर्वस्यां पश्चिमायां तु दृष्टं वृष्टये सदा भवेत्।। – वही 179

156 सूर्यास्तसमये प्राच्यां भवेदिन्द्रधनुर्यदि। द्वादशे प्रहरे तत्र पूर्ण वर्षा भविष्यति।। – वही 180

157 यद्युत्तरादिन्द्रधनुस्तदाऽकस्मात् प्रवर्षति। दक्षिणाऽवग्रहं कुर्य्याद् वर्षं वा बहुवासरम्।। – वही 182

158 अर्द्धविम्बं यदाकाशे धनुरैन्द्रं प्रदृश्यते। तदाऽत्यन्तं सुवृष्टिः स्यादत्यन्तं च समर्घता।। – वही 183

159 *ज्योतिस्तत्त्वम्* ,वृष्टिप्रकरणं 1

160 दिवा समुत्थितो गर्भो रात्रौ विसृजते जलम्। रात्रौ समुत्थितश्चापि दिवा विसृजते जलम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 12.3

161 *भद्रबाहुसंहिता* 12.4

गर्भधारण मास एवं वृष्टि

सितपक्षभवाः कृष्णे शुक्ले कृष्णा द्यु सम्भवा रात्रौ।
नक्तम्प्रभवाश्चाहनि सन्ध्याजाताश्च सन्ध्यायाम्॥[162]

यदि गर्भ शुक्ल पक्ष में हो तो कृष्ण पक्ष में, कृष्ण पक्ष में हो तो शुक्ल पक्ष में, दिन में हो तो रात्रि में, रात्रि में हो तो दिन में, पूर्व सन्ध्या में हो तो पश्चिम सन्ध्या में और पश्चिम सन्ध्या में हो तो पूर्व सन्ध्या में प्रसव होता है। इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* में वृष्टि प्रकरण के 2 से 4 श्लोकों में प्राप्त होता है। *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टिप्रकरणम् में कहा गया है कि फाल्गुन शुक्ल पक्ष में उत्पन्न गर्भभाद्रपद कृष्ण पक्ष में प्रसव होता है। फाल्गुन कृष्ण पक्ष उत्पन्न गर्भ आश्विन शुक्ल पक्ष में प्रसव होता है। चैत्र शुक्ल पक्ष सम्भव गर्भ आश्विन कृष्ण पक्ष में एवं चैत्र कृष्ण पक्ष में उत्पन्न गर्भ, कार्तिक शुक्ल पक्ष में बरसता है। पूर्व दिशा के मेघ पश्चिम में और पश्चिम के मेघ पूर्व दिशा में उदित होते हैं। इस प्रकार शेष दिशाओं के मेघों का भी विचार करना चाहिए। गर्भ धारण के अनन्तर यदि आकाश निर्मल हो, पूर्व, उत्तर तथा ईशान दिशा से उत्पन्न मनोहर कोमल वायु बहे एवं सूर्य-चन्द्रमा यदि स्निग्ध श्वेत तथा बहुत परिवेश वाले हों तो गर्भ पुष्टप्रद होते हैं।[163]

यस्यां तिथौ पौषसिताद्दिवा निशि यावत्कभृत्खे मसृणो घनो भवेत्।
तस्यां तिथौ श्रावणशुक्लतो घनागमे प्रवर्षं जलदौघसम्मितम्॥[164]

पौष शुक्ल पक्ष में जिस तिथि में दिन या रात्रि में जब तक जल धारण किया हुआ स्निग्ध मेघ आकाश में दृष्टिगोचर हो, वर्षा ऋतु में श्रावण शुक्ल पक्ष में उसी तिथि को उतने ही समय तक मेघ गण के समान वृष्टि होती है। कार्त्तिक की एकादशी को आकाश में यदि मेघ दिखाई दें तो आषाढ़ मास में अत्यधिक वर्षा होती है एवं मार्गशीर्ष की अष्टमी को वर्षा या विद्युत दिखाई दे तो श्रावण में वर्षा होती है।[165]

मृगशीर्षाद्या गर्भा मन्दफलाः पौषशुक्लजाताश्च।
पौषस्य कृष्णपक्षेण निर्दिशेच्छ्रावणस्य सितम्॥[166]

मार्गशीर्ष शुक्ल और पौष शुक्ल में स्थित गर्भ मन्द फल अर्थात् अल्प वृष्टि प्रदान करने वाला होता है। यदि पौष कृष्ण पक्ष में गर्भ हो तो श्रावण शुक्ल पक्ष में प्रसव होता है। माघ शुक्ल पक्ष में गर्भ हो तो श्रावण कृष्ण पक्ष में, माघ कृष्ण पक्ष में गर्भ हो तो भाद्र शुक्ल पक्ष में[167] फाल्गुन शुक्ल पक्ष में गर्भ हो तो भाद्र कृष्ण पक्ष में, फाल्गुन कृष्ण पक्ष में गर्भ हो तो आश्विन

---

[162] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 8

[163] गर्भोऽर्ज्जुनस्यार्ज्जुनपक्षजोऽसिते नभस्य मासस्य स सूयते सदा। तस्यैव शुक्लेतरपक्षजोऽश्वयुक्छुक्ले तथा चैत्रिकपाण्डरोत्थितः।। इषस्य नीले मधुनीलपक्षजो गर्भोऽभिवर्षेदिह बाहुलार्ज्जुने। स्वाराङ्दिगुत्थो दिशि पाशिनोऽपरभवो घनः प्राग्दिशि शेषदिक्ष्वपि।। इत्थं समीरस्य विपर्ययो भवेत्खं निर्मल्हादिमृदुप्रभञ्जनः। पूर्वोत्तरेशानभवो हरी बहूपसूर्यकौ स्निग्धसितौ शुभप्रदौ।। – *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 6-8

[164] *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 34

[165] एकादश्यां बाहुले दृश्यतेऽभ्रं व्योम्न्याषाढे भूयसी वृष्टिरुक्ता। मार्गाष्टम्यां वर्षणं चञ्चला वा वाच्या वृष्टिः श्रावणे मासि तज्अज्ञैः।। – *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 35

[166] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 9

[167] माघसितोत्था गर्भाः श्रावणकृष्णे प्रसूतिमायान्ति। माघस्य कृष्णपक्षेण निर्दिशेद् भाद्रपदशुक्लम्।। – *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 10

शुक्ल पक्ष में,[168] चैत्र शुक्ल पक्ष में गर्भ हो तो आश्विन कृष्ण पक्ष में और चैत्र कृष्ण पक्ष में गर्भ हो तो कार्तिक शुक्ल पक्ष में प्रसव अर्थात् वृष्टि होती है।[169]

कृष्णे पक्षे मार्गशीर्षे मघायां गर्भे जाते वाऽसितस्येशतिथ्याम्।
विद्युन्मेघालोकने शुक्लपक्षे शुच्या वर्षेद्विघराजस्य तिथ्याम्॥[170]

अभिप्राय यह है कि मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष और मघा नक्षत्र में गर्भ हो अथवा मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष चतुर्दशी में विद्युत और मेघ दृष्टिगोचर हो तो वह गर्भ आषाढ़ शुक्ल पक्ष की चतुर्थी में वर्षा करता है। यदि भाद्रपद में यथाक्रम से प्रतिपदा, दशमी, सप्तमी, पूर्णिमा और नवमी तिथि में मेघ पूर्व दिशा दृष्टिगोचर न हो तो मेघ बहुत जल वर्षा करते हैं।[171] मास के अनुसार वृष्टि का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* के वृष्टिप्रकरण के 168-75 श्लोकों में तथा *भद्रबाहु-संहिता* के 12 अध्याय के 17, 31-32 श्लोकों में भी प्राप्त होता है।

गर्भ धारण दिशा एवं वृष्टि

स्निग्ध मेघ अवश्य वर्षा करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है तथा उत्तर दिशा के मेघ प्रातःकाल नियमतः वर्षा करते हैं।[172]

उदीच्यान्यथ पूर्वाणि वर्षदानि शिवानि च।
दक्षिणाण्यपराणि स्युः समूत्राणि न संशयः॥[173]

अभिप्राय यह है कि उत्तर और पूर्व दिशा के मेघ सदा उत्तम वर्षा करते हैं तथा दक्षिण एवं पश्चिम दिशा के मेघ अत्यन्त अल्प वर्षा करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रकार यदि विद्युत उत्तर-पूर्व में हो तो अवश्य वृष्टि होती है और यदि दक्षिण-पूर्व में हो तो वृष्टि नहीं होती। जिसका वर्णन पूर्व में विद्युत के सन्दर्भ में किया गया है।

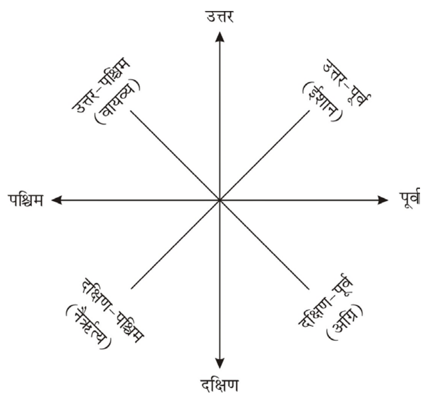

[168] फाल्गुनशुक्लसमुत्था भाद्रपदस्यासिते विनिर्देश्याः। तस्यैव कृष्णपक्षोद्भवास्तु ये तेऽश्वयुक्शुक्ले।। – *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 11

[169] चैत्रसितपक्षजाताः कृष्णेऽश्वयुजस्य वारिदा गर्भाः। चैत्रसितसम्भूताः कार्तिकशुक्लेऽभिवर्षन्ति।। – *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 12

[170] *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 37

[171] यथाक्रमं भाद्रपदेऽग्निकालरवीन्दुदुर्गातिथिषु प्रतीच्याम्। घना न दृश्यन्त उदप्रदाख्या वर्षन्ति जीमूतरसा अदभ्राः।। – *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 83

[172] स्निग्धाधान्यभ्राणि यावन्ति वर्षदानि न संशयः। उत्तरं मार्गमाश्रित्य तिथौ मुखे यदा भवेत्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 6.2

[173] *भद्रबाहुसंहिता* 6.3

पूर्वोद्भूताः पश्चादपरोत्थाः प्राग्भवन्ति जीमूताः।
शेषास्वपि दिक्ष्वेवं विपर्ययो भवति वायोश्च॥[174]

यदि गर्भ धारण के काल में मेघ पूर्व दिशा में हो तो प्रसव पश्चिम दिशा में, पश्चिम दिशा में हो तो पूर्व दिशा में, इसी प्रकार अन्य दिशाओं एवं वायु की विपरीतता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि यदि गर्भकाल में मेघ पूर्व दिशा में हो तो प्रसव काल में पश्चिम दिशा में, पश्चिम दिशा में हो तो पूर्व दिशा में, दक्षिण दिशा में हो तो उत्तर दिशा में, उत्तर दिशा में हो तो दक्षिण दिशा में, आग्नेय कोण में हो तो वायव्य कोण में, वायव्य कोण में हो तो आग्नेय कोण में, ईशान कोण में हो तो नैर्ऋत्य कोण में और गर्भ काल में नैर्ऋत्य कोण में मेघ हो तो प्रसव काल में ईशान कोण में मेघ होता है। इसी प्रकार वायु के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए यथा गर्भ काल में पूर्व तरफ की वायु हो तो प्रसव काल में पश्चिम की ओर वायु होगी आदि। पूर्व दिशा में उत्पन्न मेघों से धान्य की उत्तम निष्पत्ति होती है, आग्नेय कोण में उत्पन्न मेघों से अग्नि का भय रहता है, दक्षिण दिशा में उत्पन्न मेघों से धान्य का नाश होता है, नैर्ऋत्य कोण में उत्पन्न मेघों से धान्य की आधी निष्पत्ति होती है, पश्चिम दिशा में उत्पन्न मेघों से सुन्दर वृष्टि, वायव्य कोण में उत्पन्न मेघों से कहीं-कहीं पर वायुयुत वृष्टि, उत्तर दिशा में उत्पन्न मेघों से पूर्ण वृष्टि और ईशान कोण में उत्पन्न मेघों से उत्तम धान्य होता है।[175]

स्तनितं निशि विद्युतो दिवा रुधिरनिभा यदि दण्डवत्स्थिताः।
पवनः पुरतश्च शीतलो यदि सलिलस्य तदाऽऽगमो भवेत्॥[176]

यदि रात्रि में मेघ का गर्जन हो दिन में रुधिर के समान दण्डाकार विद्युत दिखाई दे तथा पूर्व दिशा की ठण्डी वायु प्रवाहित हो तो वर्षा का आगमन होता है। यदि चारों ओर चूना या चन्द्रमा के समान श्वेत, मध्य में कज्जल या भ्रमर के समान कान्ति वाले, निर्मल, ऊपर-ऊपर स्थित, जलबिन्दु छोड़ते हुए और सीढ़ी के समान स्थित मेघ पूर्व दिशा में उत्पन्न होकर पश्चिम की ओर या पश्चिम दिशा में उत्पन्न होकर पूर्व की ओर गमन करें तो पृथ्वी पर शीघ्र अधिक वृष्टि करता है।[177] यदि अञ्जन के समान गहरे काले मेघ पश्चिम दिशा में दिखाई दें और यह चिकने तथा मन्द गति वाले हों तो अत्यधिक जल की वर्षा होती है।[178] इसी प्रकार यदि पीले पुष्प के समान स्निग्ध मेघ पश्चिम दिशा में स्थित हो तो जल की वर्षा तत्काल होती है। इस प्रकार के मेघ वर्षा के कारण माने जाते हैं।[179] लाल रंग के मेघ स्निग्ध और मन्द गति वाले पश्चिम दिशा में दिखाई दें तो बहुत जल की वर्षा होती है।[180] अतः श्वेत वर्ण के स्निग्ध और मन्द गति वाले मेघ पश्चिम दिशा में दिखाई दें तो जितना जल उनमें रहता

---

174 *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 13

175 पूर्वोद्भूतैः सस्यनिष्पत्तिरब्दैराग्नेयाशासम्भवैरग्निकोपः। याम्ये सस्यं क्षीयते नैर्ऋतेऽर्द्धं पश्चाज्जातैः शोभना वृष्टिरब्दैः।।
वायव्योत्थैर्वातवृष्टिः क्वचिच्च पुष्टा वृष्टिः सौम्यकाष्ठासमुत्थैः। श्रेष्ठं सस्यं स्थाणुदिक्सम्प्रवृद्धैर्वायुश्चैवं दिक्षु धत्ते फलानि।। रोहिणीयोगाध्यायः 23-24 – *बृहत्संहिता*,

176 *बृहत्संहिता*, सद्योवर्षणाध्यायः 12

177 पर्यन्तेषु सुधाशशाङ्कधवला मध्येऽञ्जनालित्विषः स्निग्धा नैकपुटाः क्षरज्जलकणाः सोपानविच्छेदिनः।
माहेन्द्रीप्रभवाः प्रयान्त्यपरतः प्राग् वाम्बुपाशोद्भवा ये ते वारिमुचस्त्यजन्ति न चिरादम्भः प्रभूतं भुवि।। – *बृहत्संहिता*, सद्योवर्षणाध्यायः 15

178 यदाञ्जननिभो मेघः शान्तायां दिशि दृश्यते। स्निग्धो मन्दगतिश्चापि तदा विन्द्याद् जलं शुभम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 8.2

179 पीतपुष्पनिभो यस्तु यदा मेघः समुत्थितः। शान्तायां यदि दृश्येत स्निग्धो वर्षं तदुच्यते।। – *भद्रबाहुसंहिता* 8.3

180 रक्तवर्णो यदा मेघः शान्तायां दिशि दृश्यते। स्निग्धो मन्तगतिश्चापि तदा विन्द्याज्जलं शुभम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 8.4

है उतनी वर्षा करके वे निवृत्त हो जाते हैं।[181] इस प्रकार *भद्रबाहु-संहिता* में भी मेघों के वर्ण एवं दिशा के अनुसार उनके शुभ–अशुभ फल का वर्णन प्राप्त होता है।

गर्भ काल में मेघ स्वरूप, वर्ण एवं वृष्टि

कृष्णानि पीत ताम्राणि श्वेतानि च यदा भवेत्।
तयोर्निदेशमासृत्य वर्षदानि शिवानि च॥[182]

यदि मेघ पीले, ताम्बे तथा श्वेत वर्ण के हों तो उत्तम वर्षा को निर्देशित करते हैं। इसी प्रकार शुक्ल वर्ण के मेघ स्निग्ध बिन्दु के समान विचित्र कबूतर के रंग के समान हो तो उसी समय वर्षा होती है।[183] यदि गर्भ काल में मेघ एक मोती या चाँदी के समान सफेद अथवा तमाल वृक्ष के जैसे नीलकमल या अञ्जन के समान अत्यधिक कृष्ण अथवा जलचर जन्तु के समान कान्ति वाले हों तो अत्यधिक वृष्टि प्रदान करने वाले होते हैं।[184] इसी प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* के वृष्टि प्रकरण में श्लोक 17 में भी प्राप्त होता है।

तीव्रदिवाकरकिरणाभितापिता मन्दमारूता जलदाः।
रुषिता इव धाराभिर्विसृजन्त्यम्भः प्रसवकाले॥[185]

सूर्य की अत्यधिक भयंकर किरणों से तापित, अल्प वायु से युक्त गर्भकालिक मेघ 195वें दिन प्रसवकाल में रुष्ट की तरह होकर धाराप्रवाह अतिवृष्टि करते हैं। यदि आकाश में सन्ध्याकालीन लालिमा से रंगे हुए नीलकमल के समान मानो पीताम्बर पहने हुए विष्णु भगवान् के कान्ति को चुराने वाले मेघ हैं[186] तथा मयूर, चातक और मेंढक के शब्दों से युक्त मधुर शब्द वाले आकाश को व्याप्त कर दिगन्त तक लटके हुए तथा पृथ्वी पर अधिक वृष्टि करने वाले मेघ हैं।[187] यदि इस प्रकार के स्वरूप से युक्त आकाश दो या तीन दिन तक दिखाई दे तो सुभिक्ष आनन्दयुक्त मनुष्य और पृथ्वी पर अत्यधिक वृष्टि होती है।[188] रुक्ष, अल्प, वायु से प्रेरित, ऊँट, कौआ, मुर्दा, वानर या अन्य निन्दित जीवों यथा कुत्ता, बिल्ली, राक्षस आदि के समान कान्ति वाले और शब्द रहित मेघ अशुभ और अवृष्टि करने वाले होते हैं।[189] मयूर, तोता, चाष अर्थात् नीलकण्ठ, चातक, जपापुष्प या कमल के समान कान्ति वाले तथा जल के आवर्त्त अर्थात् पर्वत, नक्र अर्थात् नाक, कछुआ, सूअर या मछली

---

[181] शुक्लवर्णो यदा मेघः शान्तायां दिशि दृश्यते। स्निग्धो मन्दगतिश्चापि निवृत्तः स जलावहः।। – *भद्रबाहुसंहिता* 8.5

[182] *भद्रबाहुसंहिता* 6.4

[183] शुक्लानि स्निग्धवर्णानि विद्युच्चित्रघनानि च। सद्यो वर्ष समाख्यान्ति तान्यभ्राणि न संशयः।। – *भद्रबाहुसंहिता* 6.6

[184] मुक्तारजतनिकाशास्तमालनीलोत्पलाञ्जनाभासः। जलचरसत्त्वाकारा गर्भेषु घनाः प्रभूतजलाः।। – *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 23

[185] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 24

[186] सन्ध्यानुरक्ते नभसि स्थितानामिन्दीवरश्यामरुचां घनानाम्। वृन्दानि पीताम्बरवेष्टितस्य कान्तिं हरेश्चोरयतां यदा वा।। – *बृहत्संहिता*, रोहिणीयोगाध्यायः 18

[187] सशिखिचातकदर्दुरनिःस्वनैर्यदि विमिश्रितमन्द्रपटुस्वनाः। खमवतत्य दिगन्तविलम्बिनः सलिलदाः सलिलौघमुचः क्षितौ।। – *बृहत्संहिता*, रोहिणीयोगाध्यायः 19

[188] निगदितरूपैर्जलधरजालैस्त्र्यहमवरुद्धं द्व्यहमथवाहः। यदि वियदेवं भवति सुभिक्षं मुदितजना च प्रचुरजला भूः।। – *बृहत्संहिता*, रोहिणीयोगाध्यायः 20

[189] रूक्षैरल्पैर्मारुताक्षिप्तदेहैरुष्ट्रध्वाङ्क्षप्रेतशाखामृगाभैः। अन्येषां वा निन्दितानां स्वरूपैर्मूकैश्चाब्दैर्नो शिवं नापि वृष्टिः।। – *बृहत्संहिता*, रोहिणीयोगाध्यायः 21

के समान आकृति वाले मेघ हों तो शीघ्र वृष्टि करते हैं।[190]

गर्भधारण नक्षत्र एवं वृष्टि

सभी ऋतु में पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, उत्तराषाढ़ा, पूर्वाषाढ़ा, रोहिणी इन पाँच नक्षत्रों में बढ़ा हुआ गर्भ प्रसवकाल में अधिक वृष्टि करता है।[191] इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टि प्रकरण के श्लोक 22 में भी प्राप्त होता है।

शतभिषगाश्लेषार्द्रास्वातिमघासंयुतः शुभो गर्भः।
पुष्णाति बहून् दिवसान् हन्त्युत्पातैर्हतस्त्रिविधैः॥[192]

शतभिषा, आश्लेषा, आर्द्रा, स्वाती या मघा नक्षत्र में उत्पन्न गर्भ बहुत दिन तक पुष्ट रहता है तथा उक्त पाँचों नक्षत्रों में बढ़े हुए गर्भ जितने दिन त्रिविध उत्पादों अर्थात् दिव्य अन्तरिक्ष और भौम से हत हो, उतने दिन तक वर्षा नहीं होती। इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टि प्रकरण के श्लोक 23 में भी प्राप्त होता है।

मृगमासादिष्वष्टौ षट् षोडश विंशतिश्चतुर्युक्ता।
विंशतिरथ दिवसत्रयमेकतमर्क्षेण पञ्चभ्यः॥[193]

इन पाँच नक्षत्रों में से किसी एक नक्षत्र में मार्गशीर्ष में गर्भ की वृद्धि हो तो प्रसव समय से 8 दिन, पौष में 6 दिन, माघ में 16 दिन, फाल्गुन में 20 दिन, चैत्र में 20 दिन और वैशाख में 3 दिन तक वृष्टि होती है। यदि ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष में स्वाति आदि चार नक्षत्रों अर्थात् स्वाति, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा में वृष्टि हो तो क्रम से श्रावण आदि चार मासों अर्थात् श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्त्तिक में अवृष्टि होती है।[194] अभिप्राय यह है कि जैसे ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष में स्वाति नक्षत्र में वृष्टि हो तो श्रावण में नहीं, विशाखा में वृष्टि हो तो भाद्रपद में नहीं, अनुराधा में वृष्टि हो तो आश्विन में नहीं तथा ज्येष्ठा में वृष्टि हो तो कार्त्तिक में वृष्टि नहीं होगी। इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टि प्रकरण के श्लोक 24 में भी प्राप्त होता है। यदि गर्भ ग्रहों के उपघात के कारण प्रसव के समय में वर्षा न करें तो अपने गर्भ प्रसव काल में ओलों से मिले हुए जल की वर्षा करते हैं।[195] इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टि प्रकरण के श्लोक 38-43, 111-40 में तथा *भद्रबाहुसंहिता* के अध्याय 12 के 15 से 18 श्लोकों में भी प्राप्त होता है।

सन्ध्या काल एवं वृष्टि

सन्ध्याकाले स्निग्धा दण्डतडिन्मत्स्यपरिधिपरिवेषाः।
सुरपतिचापैरावतरविकिरणाश्चाशु वृष्टिकराः॥

---

[190] मयूरशुकचाषचातकसमानवर्णा यदा। जपाकुसुमपंकजद्युतिमुषश्च सन्ध्याघनाः।
जलोर्मिनगनक्रकच्छपवराहमीनोपमाः प्रभूतपुटसञ्चया न तु चिरेण यच्छन्त्यपः।। – *बृहत्संहिता*, सद्योवर्षणाध्यायः 14

[191] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 28

[192] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 29

[193] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 30

[194] तत्रैव स्वात्याद्ये वृष्टे भचतुष्टये क्रमान्मासाः। श्रावणपूर्वा ज्ञेयाः परिस्रुता धारणास्ताः स्युः।। – *बृहत्संहिता*, गर्भधारणाध्याय 2

[195] गर्भः प्रपुष्टः प्रसवे न वृष्टो नभश्वराणामुपघातपूर्वः। दद्यात्कबन्धं करकभिमिजश्रं स्वकीयगर्भावसरे सदैव।। – *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 27

दण्ड[196] विद्युत, मछली की आकृति वाला मेघ, प्रतिसूर्य,[197] परिर्ध,[198] इन्द्रधनु, ऐरावत,[199] सूर्यकिरण यह सब यदि सन्ध्या काल में निर्मल हो तो वृष्टि करने वाले होते हैं।

स्निग्धवर्णमती सन्ध्या वर्षदा सर्वशो भवेत्।[200]

अर्थात् स्निग्ध वर्ण की सन्ध्या वर्षा देने वाली होती है। इसके अतिरिक्त प्रतिसूर्य का आगमन हो वहाँ पर इन्द्रधनुष रजोयुक्त सन्ध्या में दिखाई पड़े तो तत्काल वर्षा होती है।[201] यदि सन्ध्या में सूर्य उदय या अस्त के समय एक रश्मि वाला दिखाई दे, तो तत्काल वर्षा होती है।[202] पूर्व सन्ध्या में धारण किया गया गर्भ पश्चिम सन्ध्या में वर्षा करता है और पश्चिम सन्ध्या में धारण किया गया गर्भ पूर्व सन्ध्या में वर्षा करता है। अभिप्राय यह है कि प्रातःकाल में धारण किया गया गर्भ सन्ध्या काल में तथा सन्ध्या काल में धारण किया गया गर्भ प्रातःकाल में वर्षा करता है।[203] इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टि प्रकरण के श्लोक 68-70, 81, 176-78 में भी प्राप्त होता है।

वायु एवं वृष्टि

आषाढीपूर्णिमायां तु पूर्ववातो यदा भवेत्।
प्रवाति दिवसं सर्वं सुवृष्टिः सुषुमा तदा॥[204]

आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन पूर्व दिशा की वायु यदि पूर्ण दिन चले तब वर्षाकाल में अच्छी वर्षा होती है और यह वर्ष अच्छा व्यतीत होता है। यदि उसी दिन आधे दिन दोपहर तक पूर्व दिशा की वायु चले तो पहले दो महीने अच्छी वर्षा के समझने चाहिए और चौथाई दिन एक प्रहर भर वह वायु चले तो एक महीना अच्छी वर्षा होती है, इसी क्रम से वायु और वर्षा का ज्ञान जानना चाहिए।[205] और इसका विशेष रूप से ज्ञान होना चाहिए कि उस दिन यदि पूर्वार्द्ध में पूर्व वायु चले तो पहले दो महीने और उत्तरार्द्ध में वायु चले तो पिछले दो महीने अच्छी वर्षा हुई होती है।[206] यदि दिन के पूर्व भाग को छोड़कर मध्याह्न में उस दिन वायु चले तो मध्यम मास में मेघ वर्षा नहीं करते।[207]

---

196 रविकिरणजलदमरुतां सङ्घातो दण्डवत्स्थितो दण्डः। – *बृहत्संहिता*, सन्ध्यालक्षणाध्याय 16
सूर्यकिरण, मेघ, वायु यह तीनों मिलकर दण्ड के समान स्थित हों तो उसे दण्ड कहते हैं।

197 परिधिस्तु प्रतिसूर्यो दण्डस्त्वृजुरिन्द्रचापनिभः।। – *बृहत्संहिता*, मयूरचित्रकाध्याय 19
प्रतिसूर्य परिधि संज्ञक और स्पष्ट इन्द्रधनुष के समान रेखा दण्ड संज्ञक होती है।

198 परिध इति मेघरेखा या तिर्यग्भास्करोदयेऽस्ते वा। – *बृहत्संहिता*, मयूरचित्रकाध्याय 19
सूर्य के उदय या अस्त के समय में तिरछी मेघ रेखा परिध कहलाती है।

199 सुरचापखण्डमृजु यद्रोहितमैरावतं दीर्घम्। – *बृहत्संहिता*, मयूरचित्रकाध्याय 20
स्पष्ट इन्द्रधनुष के खण्ड रोहित संज्ञक और लम्बे सीधे इन्द्रधनुष के खण्ड ऐरावत संज्ञक होते हैं।

200 *भद्रबाहुसंहिता* 7.13

201 प्रतिसूर्यागमस्तत्र शक्रचापरजस्तथा। सन्ध्यायां यदि दृश्यन्ते सद्यो वर्ष प्रयच्छति।। – *भद्रबाहुसंहिता* 7.15

202 सन्ध्यायामेकरश्मिस्तु यदा सृजति भास्करः। उदितोऽस्तमितो चापि विन्द्याद् वर्षमुपस्थितम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 7.16

203 पूर्वसन्ध्यासमुत्पन्नः पश्चिमायां प्रयच्छति। पश्चिमायां समुत्पन्नः पूर्वायां तु प्रयच्छति।। – *भद्रबाहुसंहिता* 12.5

204 *भद्रबाहुसंहिता* 9.7

205 दिवसार्धं यदा वाति पूर्वमासौ तु सोदकौ। चतुर्भागेण मासस्तु शेषं ज्ञेयं यथाक्रमम्।। – *भद्रबाहुसंहिता* 9.9

206 पूर्वार्धदिवसौ ज्ञेयौ पूर्वमासौ तु सोदकौ। पश्चिमे पश्चिमौ मासौ ज्ञेयौ द्वावपि सोदकौ।। – *भद्रबाहुसंहिता* 9.10

207 हित्वा पूर्वं तु दिवसं मध्याह्ने यदि वाति चेत्। वायुर्मध्यममासात्तु तदा देवो न वर्षति।। – *भद्रबाहुसंहिता* 9.11

महतोऽपि समुद्भूतान् सतडित् साभिगर्जितान्।
मेघान्निहनते वायुनैर्ऋतो दक्षिणाग्निजः॥[208]

नैर्ऋत्य कोण, अग्नि कोण तथा दक्षिण दिशा की वायु उन बड़े मेघों को भी नष्ट कर देती है अर्थात् वर्षा नहीं करने देती, जो चमकती विद्युत और भारी गर्जना से युक्त हों और ऐसे दिखाई देते हों कि अभी वर्षा करेंगे। अतः इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभी लक्षणों से युक्त अर्थात् वर्षा करने के योग्य मेघों को नैर्ऋत्यादि कोण से चलती हुई वायु नष्ट कर देती है।

सूर्यकान्ति एवं वृष्टि ज्ञान

विराजतेऽर्को रजतेन्द्रयुक्ताप्रख्योऽन्तरिक्षे द्वितयेऽयनेऽत्र।
वदन्ति सस्यं बहुलं कबन्धं कुर्यात्कबन्धं सलिलोपमश्चेत्॥[209]

उत्तर और दक्षिण अयनारम्भ दिन के सूर्योदय काल में रजत, चन्द्र और मुक्ता के समान कान्ति वाला सूर्य आकाश में दिखाई दे तो अन्न तथा बहुत वृष्टि होती है एवं जल के समान कान्ति वाला सूर्य दिखाई दे तो वर्षा करता है।

मेघ निमित्तानुसार वृष्टि

वायु, जल, विद्युत, मेघ का शब्द एवं मेघ, यह पाँच प्रकार के निमित्त *बृहत्संहिता* में कहे गए हैं।

पञ्चनिमित्तैः शतयोजनं तदर्द्धार्द्धमेकहान्याऽतः।
वर्षति पञ्चनिमित्ताद्रूपेणैकेन यो गर्भः॥[210]

पाँच निमित्त से युक्त गर्भ प्रसव काल में सौ योजन[211] तक वर्षा करता है, चार निमित्त से युक्त गर्भ पचास योजन तक वर्षा करता है, तीन निमित्त से युक्त गर्भ पच्चीस योजन तक तथा दो निमित्त से युक्त गर्भ साढे बारह योजन तक प्रसव काल में वर्षा करता है। पाँच निमित्तों से युक्त गर्भ एक द्रोण[212] वर्षा करता है, वायु से युक्त गर्भ तीन आढक[213] बरसता है, विद्युत संयुक्त गर्भ छः आढक, मेघों से युक्त गर्भ नौ आढक, मेघों के गर्जन से युक्त गर्भ प्रसवकाल में बारह आढक बरसता है।[214] इस प्रकार का वर्णन *ज्योतिस्तत्त्वम्* वृष्टि प्रकरण के श्लोक 28-29 में भी प्राप्त होता है।

उपसंहार

इस प्रकार प्रकृत शोध के द्वारा मेघ रचना, मेघ प्रकार, मानसून विज्ञान आदि अनेक विषयों को न केवल शास्त्रीय दृष्टि से

---

[208] *भद्रबाहुसंहिता* 9.63

[209] *ज्योतिस्तत्त्वम्*, वृष्टिप्रकरण 157

[210] *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 31

[211] योजन-8 मील या 4 कोस, 1 मील =1.6 किमी०

[212] द्रोण, आढक हस्तविशालं कुण्डकमधिकृत्याम्बुप्रमाणनिर्देशः। पञ्चाशत्पलमाढकमनेन मिनयाज्जलं पतितम्।। – *बृहत्संहिता*, प्रवर्षणाध्याय 2 एक हाथ के समान व्यास वाले और एक हाथ गहरे वर्त्तुलाकार कुण्ड से वृष्टि के जल का मापन करना चाहिए, जल से पूर्ण इस कुण्ड में पचास पल अर्थात् एक आढक तुल्य जल होता है। पचास पल का एक आढक और चार आढक का एक द्रोण होता है।

[213] पचास पल का एक आढक और चार आढक का एक द्रोण होता है।

[214] द्रोणः पञ्चनिमित्ते गर्भे त्रीण्याढकानि पवनेन। षड् विद्युता नवाभ्रैः स्तनितेन द्वादश प्रसवे।। – *बृहत्संहिता*, गर्भलक्षणाध्याय 32

अपितु वैज्ञानिक, पर्यावरणीय, भौगोलिक, दृष्टि से भी देखने का प्रयास किया गया है। मेघ विज्ञान का ज्ञान व्यक्ति, समाज तथा विश्व के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका एक उद्देश्य पर्यावरण एवं प्रकृति की समस्याओं के प्रति मनुष्य तथा समाज को अवगत कराना है। वृष्टि, कृषि, उद्योग, विद्युत, ऊर्जा एवं जल-सञ्चय का भी एक मुख्य स्रोत है। वर्षा-जल पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों एवं समस्त जीवों का आधार है। प्रकृत शोध के द्वारा यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मेघ विद्या का ज्ञान प्राचीन ऋषियों को पूर्ण रूप से था। *मेघदूतम्*, *रामायण*, *छान्दोग्योपनिषद्*, *बृहदारण्यकोपनिषद्*, *ब्रह्मवैवर्त्त महापुराण*, आदि प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी पर्याप्त सामग्री है, जिसके द्वारा मेघ एवं वृष्टि से सम्बन्धित विषयों का स्वच्छ दर्शन हो जाता है। संस्कृत ग्रन्थों में मेघ एवं वृष्टि के सम्बन्ध में जो वर्णन प्राप्त होता है, विज्ञान के अनुसार भी वह उसी रूप में स्वीकार्य होगा या नहीं इस विषय पर टिप्पणी करना मेरे शोध का उद्देश्य नहीं है। केवल प्राचीन सिद्धान्तों को प्रकाश में लाना तथा उससे किस प्रकार अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, यही अभीष्ट है। सम्भव है कि यह शोध किसी वैज्ञानिक को इससे सम्बन्धित किसी विषय पर विशिष्ट अनुसन्धान के लिए प्रेरित करे। अत: यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इन विषयों पर संशोधन करने से अनेक अवधारणाओं को प्राप्त किया जा सकता है तथा इससे सम्बन्धित अनेक शोध कार्य किए जा सकते हैं जो इस आधुनिक समय में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आज भी मौसम विभाग इससे सम्बन्धित विषयों पर अनेक शोध कार्य निरन्तर कर रहा है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी प्राचीन सम्पदा-रूपी ज्ञान आज भी उपेक्षित है। आज इस परिवर्तन की आवश्यकता है कि हमारे ग्रन्थों में समाहित ज्ञान का लाभ वैज्ञानिकों को प्राप्त हो सके। इसी कामना से इस विषय पर शोध कार्य किया गया है तथा यह आशा करती हूँ कि यह शोध मेघ एवं वृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान को एक नवीन दिशा प्रदान करेगा।

पूर्णता का वैदिक सिद्धान्त

*खोकन माइति**

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥[1]

शोधपत्र सार : प्रस्तुत शोध-निबन्ध में *बृहदारण्यकोपनिषद्* तथा *ईशावास्योपनिषद्* के महावाक्य "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" को केन्द्रीय सूत्र रूप में ग्रहण करके उसकी दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक प्रासङ्गिकता का विश्लेषण किया गया है। उपनिषदों में प्रतिपादित "पूर्णता" का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त की आध्यात्मिक व्याख्या से सम्बद्ध है। इसके साथ सृष्टि की चिरन्तन रचनात्मकता और ब्रह्माण्डीय संरचना की आधार-भूमि के रूप में भी यह सिद्धान्त प्रस्तुत है। आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त जैसे पदार्थ एवं ऊर्जा संरक्षण का नियम, ध्वनि एवं भाषाविज्ञान के सिद्धान्त तथा ब्रह्माण्ड-विज्ञान की समकालीन अवधारणाएँ आदि सभी में इस मन्त्र का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य परिलक्षित होता है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों की ध्यान-दृष्टि तथा आधुनिक वैज्ञानिकों की प्रयोगपरक दृष्टि एक ही शाश्वत सत्य की पुष्टि करती है कि पूर्णता से असंख्य रूपों की उत्पत्ति सम्भव है, फिर भी मूल पूर्णता अक्षुण्ण बनी रहती है। प्रस्तुत आलेख का प्रयोजन वेदोपनिषदों के अद्वितीय चिन्तन को पुनः प्रकाशित कर समकालीन चिन्तन जगत् के समक्ष एक दार्शनिक संवाद स्थापित करना है।

शब्दकूट : पूर्णमदः पूर्णमिदम्, अद्वैत वेदान्त, ब्रह्माण्ड-विज्ञान, पदार्थ-ऊर्जा संरक्षण, ध्वनि विज्ञान, भाषा विज्ञान, भारतीय ज्ञान परम्परा, वैदिक दर्शन, विज्ञान दर्शन।

भूमिका

भारतीय दर्शन की अन्तर्यात्रा में "पूर्ण" यह तत्त्व परम सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है। उपनिषदों का यह महावाक्य – "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" – न केवल अद्वैत वेदान्त का मूल आधार है, अपितु यह समस्त सृष्टि-चक्र, ब्रह्माण्ड की संरचना और सृजनात्मक प्रक्रियाओं की चिरन्तन व्याख्या भी करता है। यह एक ऐसा तत्त्व है, जहाँ मूल सत्ता से असंख्य रूपों की उत्पत्ति होती है, फिर भी मूल सत्ता की पूर्णता में कोई न्यूनता नहीं आती। पूर्णता की यह पुनरावृत्ति भारतीय ज्ञान परम्परा की केन्द्रीय धुरी है।

मृत्तिका से वृक्ष सृष्टि, वृक्ष से बीज सृष्टि, कोशिका विभाजन, ओ३म् से सम्पूर्ण सृष्टि, पञ्चमहाभूतों से निर्मित यह भौतिक जगत्, सङ्गीत में सप्तस्वर, व्याकरण में मूल धातुएँ, भाषा में सीमित व्याकरणीय नियमों से अनन्त वाक्य-रचनाएँ, नादब्रह्म की अवधारणा, ध्वनि विज्ञान (acoustics) में हार्मोनिक्स का सिद्धान्त, भाषा विज्ञान में Noam Chomsky द्वारा प्रतिपादित "A finite set of rules can generate infinite sentences" की सङ्कल्पना – ये सभी पूर्णता के सिद्धान्त की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं।

---

* शोध सहायक, अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान, गुरुग्राम, हरियाणा। <e-mail: maitykhokan45@gmail.com>

[1] बृहदारण्यकोपनिषद्, 5.1; शुक्लयजुर्वेद, अध्याय 40, शान्तिपाठ ।

यदि आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखा जाए, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि पदार्थ और ऊर्जा के संरक्षण का नियम (Law of Conservation of Mass and Energy), आधुनिक ब्रह्माण्ड विज्ञान (cosmology) का सिद्धान्त भी एक प्रकार से "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" का वैज्ञानिक निरूपण है।

इस प्रकार चाहे वह प्राचीन वैदिक ऋषियों की अन्तर्दृष्टि हो अथवा आधुनिक वैज्ञानिकों के प्रयोगशाला के सिद्धान्त, दोनों ही एक सत्य की ओर सङ्केत करते हैं – पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति सम्भव है और इससे मूल पूर्णता अचल, अव्यय और अक्षुण्ण बनी रहती है। यह सिद्धान्त एक ऐसा सांस्कृतिक–वैज्ञानिक सेतु है, जो भारतीय ज्ञान परम्परा को आधुनिक विज्ञान से जोड़ता है। प्रस्तुत शोध निबन्ध में इसी बहुप्रसारणी दृष्टिकोण से इस मन्त्र का विवेचन किया गया है – जहाँ आध्यात्मिक सत्य, प्राकृतिक नियम, और वैज्ञानिक सङ्कल्पनाएँ एक-दूसरे में विलीन हो जाती हैं।

मन्त्र का मूल आशय

"अदः" (वह) और "इदम्" (यह) दोनों ही "पूर्ण" हैं। यहाँ "अदः" का तात्पर्य कारणावस्था में स्थित मूल प्रकृति या अक्षर ब्रह्म से है, जो समस्त सृष्टि की आधारशिला है। "इदम्" का तात्पर्य दृश्य जगत् या कार्यावस्था से है, जो इस मूल कारण से ही प्रकट हुआ है। यहाँ जिस "पूर्ण" शब्द का प्रयोग हुआ है, वह केवल संख्यात्मक या भौतिक परिपूर्णता नहीं, अपितु एक ऐसी **अविभाज्य, अखण्ड, अनन्त सत्ता** है जो स्वयं में सब कुछ होते हुए भी अपरिवर्तनीय बनी रहती है। "अदः" (कारण) और "इदम्" (कार्य) दोनों ही पूर्ण हैं, क्योंकि दोनों ही ब्रह्मस्वरूप हैं। कार्य (जगत्) कारण (प्रकृति) से उद्भूत होता है, फिर भी कारण की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। यह अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है – कार्य और कारण, जगत् और ब्रह्म, दृश्य और अदृश्य – सब ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" का अर्थ है कि यदि उस पूर्ण (कारण) से यह पूर्ण (कार्य) उत्पन्न भी होता है, फिर भी मूल कारण की पूर्णता अक्षुण्ण बनी रहती है। प्रलय के समय यह सम्पूर्ण कार्य (जगत्) पुनः कारण (प्रकृति) में लीन हो जाता है, उस समय भी पूर्णता बनी रहती है – इस प्रकार कारण और कार्य की चक्रबद्ध गति में ब्रह्म की अखण्डता कभी खण्डित नहीं होती।

वृक्ष की सृष्टि में पूर्णता का निरन्तर प्रवाह

सृजन की एक गूढ़ धातु-स्वरूप है मिट्टी। मिट्टी से बीज अङ्कुरित होता है और कालक्रम में वह एक विशाल वृक्ष का रूप लेता है। वृक्ष में शाखाएँ-प्रशाखाएँ उत्पन्न होती हैं, पत्तियाँ, पुष्प, फल इत्यादि का विकास होता है। परन्तु इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में न तो मिट्टी की मूल सत्ता लुप्त होती है और न मिट्टी का परिमाण कम होता है। उसका मौलिक पृथिवी तत्त्व अक्षुण्ण रहता है। यदि हम एक सीमित गमले की मिट्टी में कोई पौधा रोपण करें, तो वह पौधा वृक्षरूप में विकसित होता है, फल-फूल से युक्त हो सकता है, परन्तु गमले की मिट्टी में कोई प्रत्यक्ष न्यूनता दृष्टिगोचर नहीं होती।

केवल इतना ही नहीं, वृक्ष से फल उत्पन्न होते हैं, उन फलों में निहित बीज पुनः अन्य वृक्षों के जन्म का हेतु बनते हैं। इस प्रकार, एक वृक्ष से अनन्त फलों, और उन फलों से अनन्त वृक्षों की सम्भावनाएँ सन्निहित होती हैं। फिर भी मूल वृक्ष की सत्ता, उसका स्वरूप, उसकी पूर्णता अखण्ड रूप से बनी रहती है।

वनस्पतियों में कोशिकाएँ (cells) ही जीवन का मूल आधार हैं। इन कोशिकाओं की संरचना जटिल होते हुए भी पूर्ण (integrated and functional) होती है। कोशिका विभाजन दो प्रमुख विधियों से होती है – माइटोसिस (mitosis) और मियोसिस (meiosis)। माइटोसिस द्वारा वनस्पति में समरूप (genetically identical) नई कोशिकाओं का निर्माण होता है, जिससे वृक्ष का ऊर्ध्वगामी विकास, अङ्गों का निर्माण, ऊतकों का पुनर्निर्माण एवं जीवन-प्रवाह सम्भव होता है। मियोसिस के द्वारा युग्मक (gametes) उत्पन्न होते हैं, जो जनन की प्रक्रिया में आवश्यक होते हैं।

कोशिका विभाजन की विशेषता यह है कि एक मातृ कोशिका अपने भीतर विद्यमान सभी जैविक, आनुवंशिक (genetic) और क्रियात्मक (functional) तत्त्वों को पूर्ण रूप से प्रतिकृति (replicate) करती है, जिससे दो या अधिक नव कोशिकाएँ उत्पन्न होती हैं, वे भी अपने आप में पूर्ण होती हैं। DNA के अनुक्रम RNA संश्लेषण, अङ्गक पुनर्निर्माण और cell cycle की सूक्ष्म व्यवस्था इस पूर्णता को सुनिश्चित करती है।

मूल कोशिका (mother cell) से अनेक बार विभाजन होने पर भी, प्रत्येक नई कोशिका में वही जीवन शक्ति, वही संरचनात्मक क्षमता और वही जैव रासायनिक तत्त्व उपस्थित रहता है। अपितु मूल कोशिका पूर्व की तरह पूर्ण ही रहती है। इससे प्रतीत होता है कि मूल स्रोत की पूर्णता कभी लुप्त नहीं होती।[2]

इस प्रकार, मिट्टी से वृक्ष, वृक्ष से बीज, कोशिका विभाजन आदि केवल एक जैविक घटना नहीं, अपितु वह ब्रह्माण्ड की उस शाश्वत लय का एक वैज्ञानिक चित्रण है। इसे उपनिषद् के ऋषियों ने "पूर्ण" कहकर निरूपित किया। यह सृष्टि उसी पूर्णता से पूर्ण हुई है और उसमें उत्पन्न प्रत्येक तत्त्व भी उसी पूर्णता का प्रतीक है।

मातृत्व की पूर्णता और सन्तान सृष्टि

जीव सृष्टि में "माता" एक ऐसा कारण है, जिससे पूर्ण रूप में सन्तान का जन्म होता है। गर्भाधान से लेकर प्रसव तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक अद्भुत जैविक प्रक्रिया और पूर्णता का परिचायक है। माता की जैविक संरचना, जैसे हार्मोनिक प्रणाली, पोषणीय तन्त्र, गर्भाशय का परिवर्तनीय स्वरूप – यह सब इस बात को पुष्ट करते हैं कि वह स्वयं एक "पूर्ण संरचना" है। जब उससे एक सन्तान उत्पन्न होती है, तब न केवल वह सन्तान अपनी संरचना में पूर्ण होती है, अपितु संज्ञान, चेतना, जैविकी एवं आत्मिक क्षमता से भी परिपूर्ण होती है। साथ में इस प्रक्रिया की जननी माता की पूर्णता भी अक्षुण्ण बनी रहती है। उसमें कोई क्षय नहीं होता, मातृत्व-सामर्थ्य पुनः सक्षम रहता है।

जीव चाहे वह जरायुज हो (मनुष्य, पशु), अण्डज हो (पक्षी, सरीसृप) स्वेदज हो (सूक्ष्म जीव) या उद्भिज (पेड़-पौधे) सभी में जनन-प्रक्रिया कारण-जीव की पूर्णता से सञ्चालित होती है। प्रत्येक श्रेणी में उत्पन्न सन्तान उसी जैविक पूर्णता का वहन करती है जो उसके माता-पिता में अन्तर्निहित है। DNA अनुक्रम, आनुवंशिक गुणसूत्र (chromosomes) और भ्रूणीय विकास की क्रियावली – ये सभी सङ्केत करते हैं कि प्रत्येक जीवन एक पूर्णता लेकर जन्म लेता है।

यह जैविक प्रक्रिया केवल स्थूल स्तर पर ही नहीं, अपितु सूक्ष्मतम जैविक इकाई DNA के स्तर पर भी इसी पूर्णता की पुष्टि करती है। जब किसी कोशिका का विभाजन होता है, तो उसके पूर्व DNA का पूर्ण रूप से पुनरुत्पादन (replication) होता है। यह प्रक्रिया इतनी शुद्ध और जटिल होती है कि मूल DNA अणु की समस्त आनुवंशिक जानकारी एक नवीन DNA अणु में पूर्णतः स्थानान्तरित हो जाती है। विशेष रूप से, DNA polymerase नामक एंज़ाइम और semi-conservative पद्धति यह सुनिश्चित करती है कि मातृ कोशिका की पूर्ण आनुवंशिक संरचना यथावत् बनी रहती है और उसी से दो पूर्ण नवीन कोशिकाओं की उत्पत्ति होती है। यह वैज्ञानिक तथ्य यह प्रमाणित करता है कि पूर्ण (मूल DNA) से पूर्ण (नवीन DNA) की उत्पत्ति होती है, फिर भी मूल की पूर्णता अक्षुण्ण बनी रहती है।[3]

---

[2] Seheres, B. (2007), "Stem–cell Niches: Nursery Rhymes Across Kingdoms: Nature Reviews", *Molecular Cell, Biology* 8(5): 345-54.

[3] B. Alberts et al., (2008) *Molecular Biology of the Cell* (6th edn) (chapter: DNA Replication, Repair, and Recombination).

जीवों के शरीर में निरन्तर कोशिकाओं का निर्माण होता रहता है। एक मातृ कोशिका (mother cell) विभाजित होकर अन्य कोशिकाओं को जन्म देती है। यह प्रक्रिया माइटोसिस या मियोसिस के माध्यम से होती है। उत्पन्न प्रत्येक नई कोशिका में जैविक संरचना, DNA और कार्य क्षमता अपने आप में सम्पूर्ण होती है। इसके पश्चात् भी, मूल कोशिका की परिपूर्णता शेष रहती है। अतः ऋषि कहते हैं "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"।

पूर्ण ओ३म् से पूर्ण की सृष्टि

वेदों और उपनिषदों के दर्शन में ओ३म् केवल एक ध्वनि या उच्चारण मात्र नहीं है, अपितु यह स्वयं परब्रह्म का प्रतीक है, जिसके भीतर सम्पूर्ण सृष्टि, उसका स्थायित्व और उसका लय समाहित है। भारतीय तत्त्व चिन्तन में इसे "शब्दब्रह्म" कहा गया है। यह ध्वनि-रूप ब्रह्म सृजन का आदि कारण है। ओ३म् को वेदों में "प्रणव", "उद्गीथ" अथवा "एकाक्षर ब्रह्म" के रूप में वर्णित किया गया है। शब्द ही ब्रह्म है एवं वही प्रणव अर्थात् ओ३म् है।

प्राचीन भारतीय दर्शन के अनुसार जब निराकार ब्रह्म में स्पन्दन उत्पन्न होता है, तब वह ध्वनि के रूप में प्रकट होता है। यही प्रथम ध्वनि ओ३म् है, जो ब्रह्म की चेतना की कम्पनशीलता का ध्वनि-रूप प्रकटीकरण है। यह शब्द तीन मूल ध्वनियों से बना है –"अ", "उ" और "म्", जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीन अवस्थाओं के पार जो चतुर्थ अव्यक्त अवस्था है, वही "तुरीय" है, जो परब्रह्म का स्वरूप है।[4] यह स्वरूप न शब्दों में बाँधने योग्य है, न चक्षु या मन से ग्रहण करने योग्य; यह अनुभवातीत है, किन्तु उस अनुभव की ओर इङ्गित करने वाला माध्यम ओ३म् ही है।[5]

माण्डूक्य उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है – "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव"।[6] यह एक ही अक्षर भूत, भविष्य और वर्तमान, सभी कालों को आवृत्त करता है। यही नहीं, इसी उपनिषद् के द्वादश मन्त्र में यह भी वर्णित है कि ओ३म् का चतुर्थ पद "अमात्रः" है – "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽत्मानं य एवं वेद"।[7] जो व्यवहारातीत, अदृष्ट, अव्यवपदेश्य, अव्यवहित, अकल्पनीय और शान्त है। यह अव्यक्त सत्ता तुरीय है, जिसमें समस्त सृष्टि का विलय होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है – "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"[8] अर्थात् ओ३म् ही वह उद्गीथ है, जिसका ध्यान करना चाहिए। यही ओ३म् परम शक्ति का प्रतीक है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* में उल्लेख है "ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्"।[9] ब्रह्म के उच्चारण रूप ओ३म् से ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

भगवद्गीता में भी ओ३म् का महत्त्व बार-बार प्रतिपादित हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं –

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥[10]

यहाँ स्पष्ट है कि जो पुरुष मृत्यु के समय एकाक्षर ब्रह्म (ओ३म्) का उच्चारण करता हुआ भगवान् का स्मरण करता है, वह

---

[4] *माण्डूक्योपनिषद्*, आगमप्रकरण, मन्त्र 3-5

[5] एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभावाप्ययौ हि भूतामान्। – *माण्डूक्योपनिषद्*, आगमप्रकरण, मन्त्र 6

[6] *माण्डूक्योपनिषद्*, आगमप्रकरण, मन्त्र 1

[7] *माण्डूक्योपनिषद्*, आगमप्रकरण, 12

[8] *छान्दोग्य उपनिषद्* 1.1.1

[9] *तैत्तिरीयोपनिषद्* 1.8.1

[10] *श्रीमद्भगवद्गीता* 8.13

परम गति को प्राप्त होता है। सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं – "प्रणवः सर्ववेदेषु"[11] अर्थात् मैं ही समस्त वेदों में प्रणव हूँ।

शब्द की उत्पत्ति-सम्बन्धी भारतीय ध्वनि विज्ञान के अनुसार वाक् के चार स्तर होते हैं – परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी। ओ३म् परा ध्वनि का प्रतीक है। वह ध्वनि जो अव्यक्त है, जो सृष्टि की पूर्व स्थिति है। जैसे ही यह परा ध्वनि स्पन्दित होती है, वह पश्यन्ती और मध्यमा रूप में उतरती हुई वैखरी में व्यक्त होती है, जहाँ ध्वनि श्रवणगम्य होती है।[12] भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी "अ" से लेकर "म्" तक का ध्वनि-क्रम सभी भाषाओं में ध्वनि-सृष्टि की मौलिक सीमा को प्रदर्शित करता है। "अ" एक खुला स्वर है और "म्" एक बन्द व्यञ्जन, जो मुख को पूर्णतः बन्द करके उच्चारित होता है। इस प्रकार, ओ३म् में ध्वनि का पूर्ण विस्तार समाहित है, जिसमें सारे शब्द समाहित है और इसी पूर्ण ओ३म् से सारे शब्दों की सृष्टि होती है, किन्तु यह ओ३म् पूर्ण ही रह जाता है।

इस प्रकार ओ३म् केवल एक ध्वनि नहीं, अपितु वह मूल चेतना-स्रोत है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि, ज्ञान, भाषा और आत्मतत्त्व की उत्पत्ति होती है। वेदों के मन्त्रों में, उपनिषदों की साधना में, *गीता* के उपदेशों में तथा तन्त्र की क्रियाओं में ओ३म् ही वह नादब्रह्म है, जो निराकार ब्रह्म का साकार स्पन्दन है। ब्रह्म का यह ध्वनिरूप न केवल सृष्टि का आदि कारण है, अपितु आत्मा के मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त करने वाला ज्ञान इसी में निहित है।

ॐकारम् बिंदुसंयुक्तम् नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदम् मोक्षदम् चैव ॐकाराय नमो नमः॥[13]

ओ३म् से सम्पूर्ण शब्द-शक्ति, समस्त ज्ञान, समस्त भाव, चेतना और ब्रह्माण्ड की सृष्टि सतत हो रही है, फिर भी ओ३म् की आद्यशक्ति, उसकी अखण्डता, उसकी पूर्णता में किसी प्रकार का विक्षोभ, क्षय या परिवर्तन नहीं होता। ओ३म् एक नित्यप्रवाहित पूर्णता है, जिससे अनन्त सृष्टियाँ उद्भूत होती हैं एवं जो स्वयं पूर्ण से पूर्णतर बना रहता है।

शब्दोत्पत्ति – पूर्णता की भाषिक अभिव्यक्ति

धातु से शब्द और शब्द से वाक्य की रचना भारतीय भाषिक परम्परा की वह अद्भुत प्रक्रिया है जिसमें "पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति" की औपनिषदिक अवधारणा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत भाषा में यह प्रक्रिया सबसे अधिक वैज्ञानिक, तार्किक और दार्शनिक है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार धातु (मूल क्रिया) किसी क्रिया का सूक्ष्मतम बीज होता है। यही धातु, विभिन्न प्रत्ययों, उपसर्गों और समासों के योग से न केवल अनेक शब्द उत्पन्न करती है, अपितु इन शब्दों द्वारा अर्थ, भाव और विचार की सम्पूर्ण संरचना का निर्माण करती है। उदाहरण के लिए, केवल "हृ" धातु से "हार", "आहार", "विहार", "परिहार", "संहार" जैसे अनेक शब्द बनते हैं एवं फिर ये शब्द मिलकर अर्थपूर्ण वाक्य बनाते हैं जो जीवन के विविध भावों को अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रक्रिया में मूल धातु की सत्ता बनी रहती है। वह कहीं लुप्त नहीं होती, क्षीण नहीं होती, साथ

---

[11] *श्रीमद्भगवद्गीता* 7.8

[12] चतुर्विधा हि वागस्ति – परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी च। तत्र मूलाधारस्थपवनसंस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी परा वागुच्यते। नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वागुच्यते। एतदद्वयं वाग्ब्रह्मयोगिनां समाधौ निर्विकल्पकसविकल्पज्ञानविषय इत्युच्यते। ततो हृदयपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता तत्तदर्थवाचकशब्दस्फोटरूपा श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिग्राह्या मध्यमा वागुच्यते। तत आस्यपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनोर्ध्वमाक्रामता च मूर्धानमाहत्य परावृत्त्य च तत्तस्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणाऽपि ग्राह्या वैखरी वागुच्यते। तदाह –

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।।
वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः। मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते।। – *परमलघुमञ्जूसा*, स्फोटविचार, पृ० 25

[13] श्रीशिवषडक्षरस्तोत्र 1

ही प्रत्येक नवगठित शब्द और वाक्य में उसका विकास ही होता है।

यह भाषिक प्रक्रिया उपनिषदों के "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" मन्त्र की ही भिन्न अभिव्यक्ति है। एक मूल धातु को यदि "पूर्णमदः" मानें, तो उससे उत्पन्न शब्द, वाक्य और भाषिक संरचनाएँ "पूर्णमिदम्" की कोटि में आते हैं। जब इनसे रचना होती है, चाहे वह काव्य हो, वाक्य हो या सम्पूर्ण वेदवाक्य हो – तब भी मूल धातु की सत्ता में कोई ह्रास नहीं होता। "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" – यही भाषा में प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

वेदों में "वाक्" को ही ब्रह्म कहा गया है। *शतपथ ब्राह्मण* में कहा गया "वाग्वै ब्रह्म" ।[14] इसका तात्पर्य यह है कि वाणी अर्थात् ध्वनि (शब्द), ब्रह्म की साक्षात् अभिव्यक्ति है। *ऋग्वेद* के "देवी सूक्त" में स्वयं वाणी कहती है – "अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां...",[15] "मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति... ।"[16] इस सूक्त में वाणी स्वयं को ब्रह्माण्ड की मूल चेतना के रूप में प्रस्तुत करती है। न केवल शास्त्र, अपितु आधुनिक भाषा विज्ञान भी यही कहता है। नोम चॉम्स्की ने अपने ग्रन्थ *Syntactic Structures* में यह स्पष्ट किया कि सीमित नियमों और शब्दों से मनुष्य अगणित वाक्यों की रचना कर सकता है – A finite set of rules can generate an infinite number of sentences.[17] यह भाषा की रचनात्मक पूर्णता का प्रमाण है।

अतः यह स्पष्ट होता है कि भाषा का यह सम्पूर्ण व्याकरणगत एवं दर्शनगत तन्त्र एक ही मौलिक सिद्धान्त पर आधारित है - पूर्णता की गति और पुनः पूर्णता की अभिव्यक्ति। शब्द कोई यान्त्रिक इकाई नहीं, वह चेतना का विस्तार है; और एक शब्द जब वाक्य बनता है, तो वह ब्रह्माण्डीय रचना प्रक्रिया का भाषिक प्रतिरूप बन जाता है। यही है "नाद से शब्द, शब्द से अर्थ और अर्थ से ब्रह्म" की ओर की यात्रा भारतीय भाषाशास्त्र का सनातन मार्ग।

गुरु–शिष्य परम्परा में पूर्णता की अभिव्यक्ति

यह मन्त्र केवल ब्रह्माण्ड की अनित्य सृष्टि प्रक्रिया का विवरण नहीं, अपितु एक शाश्वत आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन है, जो मानव चेतना की गहराईयों तक विस्तृत है। इस मन्त्र की अभिव्यक्ति भारत की गुरु–शिष्य परम्परा में भी मिलती है, जहाँ गुरु अपनी आत्मबोधयुक्त ज्ञानचेतना को शिष्य में आरोपित करते हैं, किन्तु उनकी स्वयं की चेतना में कोई ह्रास नहीं होता। मूल स्रोत सदैव अखण्ड, अपरिवर्तित और पूर्ण बना रहता है।

छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं – "तत्त्वमसि श्वेतकेतो..."[18]। यहाँ वे शिष्य में कोई नवीन तत्त्व आरोपित नहीं कर रहे होते, न ही किसी बाह्य ज्ञान को आरोपित कर रहे होते हैं। वे उस अनादि, अव्यक्त, अपौरुषेय पूर्णता की ही स्मृति करा रहे होते हैं जो शिष्य के अन्तःकरण में युगों से सुप्त अवस्था में विद्यमान है। गुरु का कार्य अन्तःस्थित सत्य को अनावृत करना होता है। इस सन्दर्भ में "तत्त्वमसि" कोई वाक्य नहीं, एक बोधगम्य स्पन्दन है, जो शिष्य की आत्मा को उसकी मूल ब्रह्मस्वरूपता का साक्षात्कार कराता है। जब साधक की दृष्टि में "पूर्ण" का बोध स्थिर हो जाता है, तब जगत् भी उसके लिए ब्रह्मस्वरूप बन जाता है। यही अनुभूति *धन्याष्टकम्* में वर्णित है –

सम्पूर्णं जगदेव नंदनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः।
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समग्राः क्रियाः॥

---

[14] *शतपथ ब्राह्मण* 14.4.1.23; *बृहदारण्यकोपनिषद्* 14.1.1.23

[15] *ऋग्वेद* 10.125.3

[16] *ऋग्वेद* 10.125.3

[17] N. Chomsky (1957), *Syntactic Structures*, https://en.wikipedia.org/wiki/Syntactic_Structures

[18] *छान्दोग्य उपनिषद्*, 6.8.7

वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो वाराणसी मेदिनी।
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि॥[19]

जिसके अन्तःकरण में परब्रह्म साक्षात् प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके लिए यह सम्पूर्ण संसार नन्दनवन हो जाता है; प्रत्येक वस्तु कल्पवृक्ष के समान हो जाती है, क्योंकि अब वह जगत् को भिन्न नहीं, ब्रह्मस्वरूप ही देखता है। गङ्गा की पवित्रता केवल एक नदी तक सीमित नहीं रहती, अपितु सभी जलधाराएँ गङ्गा-के पवित्र जल से ओत-प्रोत प्रतीत होती हैं। इससे भी गहन भाव यह है कि "वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरो" अर्थात् सभी वचन, चाहे वे साधारण हों या असाधारण, वेदवाक्य की तरह गूढ़ अर्थ धारण करने लगते हैं। क्योंकि उसकी चेतना अब वाणी की सीमाओं से परे, "नादब्रह्म" के मर्म में स्थित हो गई है। समस्त भूमि उसके लिए वाराणसी बन जाती है। हर स्थिति, हर रूप, हर क्रिया में उसे वही ब्रह्म दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् जो साधक ब्रह्म को पूर्ण जानता है, उसके लिए प्रत्येक अनुभव उसी पूर्णता का विस्तार बन जाता है और उसकी दृष्टि में जगत् और ब्रह्म के बीच कोई द्वैत नहीं रहता अर्थात् वह भी स्वयं पूर्ण (ब्रह्म) बन जाता है। यही "दृष्टे परब्रह्मणि" की स्थिति है।

इसी भाव को *बृहदारण्यक उपनिषद्* और भी स्पष्टता से उद्घाटित करता है – "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति "[20] अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है, वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यहाँ ज्ञान केवल धारणीय नहीं, रूपान्तरकारी अनुभव है। जब गुरु ब्रह्मज्ञान की दीक्षा देता है, तब वह अपने ज्ञान से शिष्य को भी ब्रह्ममय बना देता है, किन्तु इसमें गुरु की पूर्णता में कोई ह्रास नहीं होता। गुरु के आत्मज्ञान से शिष्य की आत्मचेतना आलोकित होती है, परन्तु गुरु का ब्रह्मस्वरूप वैसा ही अचञ्चल और अखण्ड बना रहता है। सद्गुरु का स्वरूप त्रैलोक्य में अद्वितीय है। वह न तो किसी लौकिक वस्तु के तुल्य है, न ही किसी स्थूल दृष्टान्त से तुलना योग्य है। यहाँ तक कि यदि हम सद्गुरु की तुलना स्पर्शमणि (पारसमणि) से करें, तो वह भी असंगत है। क्योंकि पारसमणि भले ही लोहे को स्वर्ण बना दे, परन्तु वह लोहे को अपने समान पारसमणि नहीं बना सकता। उसकी क्रिया केवल बाह्य रूपान्तरण तक सीमित है। इसलिए आचार्य शङ्कर कहते हैं –

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः।
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्॥

न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये।
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वालौकिकोऽपि॥[21]

सद्गुरु, जो आत्मा का स्पर्श करता है, वह शिष्य को केवल संस्कारित नहीं करता, वह उसे स्वरूपान्तरित करता है। शिष्य को आत्मबोध देकर, उसे अपने ही पूर्णतत्त्व में प्रतिष्ठित कर देता है। यही है "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" सद्गुरु की पूर्णता से उत्पन्न शिष्य भी पूर्ण बनता है। गुरु शिष्य को केवल मार्ग नहीं दिखाते, अपितु स्वयं उस मार्ग का अविकल्प साधन बन जाते हैं। वह केवल प्रकाश नहीं, प्रकाशक भी हैं, जो शिष्य के भीतर छिपे ब्रह्मतत्त्व को जागृत करते हैं। जैसे दीपक एक अन्य दीप को जलाने पर भी स्वयं जाज्वल्यमान रहता है, वैसे ही सद्गुरु असंख्य शिष्यों को आत्मज्ञान प्रदान करके भी स्वयं अखण्ड ज्योति स्वरूप रहता है। यही है "पूर्णमिवावशिष्यते"।

गुरु की आत्मपूर्णता से शिष्य में आत्मबोध उत्पन्न होता है, किन्तु गुरु की पूर्णता अक्षुण्ण रहती है। यहाँ न कोई बाह्य संचरण

19 *धन्याष्टक* 10

20 *मुण्डकोपनिषद्* 3.2.9

21 *शतश्लोकी* 1

है, न कोई बौद्धिक प्रक्षेपण और न कोई ज्ञान का विभाजन। यह केवल ब्रह्म से ब्रह्म की पहचान है। आचार्य शङ्कर कहते हैं –

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥[22]

यह श्लोक केवल एक दृश्य का वर्णन नहीं करता, यह ज्ञान की पूर्णता के अद्वितीय गूढ़ तत्त्व का सङ्केत है। वटवृक्ष के नीचे, जहाँ सामान्यतः वृद्ध गुरु और नवयुवक शिष्य की कल्पना होती है, यहाँ विपरीत चित्रण है – गुरु युवा है और शिष्य वृद्ध। देखा जाए तो यह दृश्य हमारी सांस्कृतिक मान्यताओं के विपरीत है, किन्तु यदि इसे "पूर्ण से पूर्ण की सृष्टि" के औपनिषदिक मर्म में समझा जाए, तो यह दृश्य अत्यन्त दार्शनिक और सत्योन्मुख हो उठता है।

यहाँ गुरु का युवा होना केवल आयु का बोध नहीं है। यह उस चेतन, नवीन और नित्य-प्रवहमान पूर्ण ब्रह्मस्वरूप की प्रतीकात्मकता है, जो कालातीत है, अवस्थातीत है। युवा गुरु समय से परे है। न वह वृद्ध है, न नवागन्तुक। वह सदैव प्रबुद्ध, जागृत और जागृत करता हैं। वहीं, शिष्य का वृद्ध होना यह दर्शाता है कि केवल अनुभवजन्य ज्ञान, दीर्घ जीवन या पुस्तकीय विद्वत्ता से अन्तःसन्देह नहीं मिटता, जब तक आत्मा में गुरु-प्रकाश न प्रज्वलित हो।

गुरु मौन हैं, परन्तु यह मौन, शून्यता का मौन नहीं, यह पूर्णता का मौन है। यह वह मौन है जिसमें शब्दों से अतिरिक्त सत्य मुखर होता है। यह वही मौन है जिसमें "पूर्ण ब्रह्म" से "पूर्ण जीव" की सृष्टि होती है, बिना किसी ह्रास या विकृति के। गुरु का यह मौनता ही उपदेश है। उसी मौनता से शिष्यों के संशयों की छाया भी विलीन हो जाती है।

यह दृश्य हमें यह भी सिखाता है कि आत्मज्ञान, आयु या शब्दों पर आधारित नहीं होता, वह होता है उस मौन तरङ्ग में, जहाँ गुरु की बौद्धिक आन्तरिक पूर्णता से शिष्य का संशयरहित आत्मबोध जन्म लेता है।

आधुनिक शिक्षा-दर्शन भी इस उपनिषद्वाक्य के मर्म को परोक्ष रूप से स्वीकार करता है। स्वामी विवेकानन्द का यह प्रसिद्ध कथन "Education is the manifestation of the perfection already in man" इसी वैदिक मन्त्र की समकालीन भाषा में अभिव्यक्ति है[23]। शिक्षा का उद्देश्य केवल बाहरी सूचना देना नहीं, अपितु भीतर विद्यमान पूर्णता को प्रकट करना है। यही कारण है कि गुरु स्वयं पूर्ण रहते हुए शिष्य को पूर्ण बना देते हैं, और इस प्रक्रिया में गुरु की पूर्णता कहीं भी क्षीण नहीं होती।

पूर्ण आकाश से पूर्ण की सृष्टि

वेदों और उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि में "आकाश" को भौतिक तत्त्व के साथ "शब्दगुण" के रूप में भी चित्रित किया गया है। वह व्यापक है, सर्वभूतों में व्याप्त है, परन्तु किसी में सीमित नहीं। *छान्दोग्य उपनिषद्* इस भाव को स्पष्ट करते हुए कहता है – "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता"[24] अर्थात् आकाश वह आधारीय सत्ता है, जिसमें समस्त नाम और रूप प्रतिष्ठित हैं, किन्तु वह स्वयं किसी विशेष नाम या रूप से आबद्ध नहीं है।

यदि हम आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखें, तो ब्रह्माण्ड विज्ञान (cosmology) में "space–time continuum" वह मौलिक ढाँचा है, जिसमें ग्रह, नक्षत्र, आकाशगङ्गाएँ, ब्लैक हॉल, डार्क मैटर इत्यादि उत्पन्न होते हैं। यह "space" कोई

---

[22] *दक्षिणामूर्तिस्तोत्र* 12

[23] Complete works of Swami Vivekananda, Volume-4, what we belive in, written to 3 march, 1894, from chieago.

[24] *छान्दोग्योपनिषद्* 8.14.1

स्थिर निर्वात नहीं, अपितु एक गतिशील संरचना है, जिसकी अपनी भौतिकता है, जैसा कि अल्बर्ट आइन्स्टीन का *"सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त"* (*General Theory of Relativity*, 1915) में प्रतिपादित है।[25] स्टीफन हॉकिंग और रोजर पेनरोज की singularity थ्योरी यह दर्शाती है कि ब्रह्माण्ड में लगातार सृष्टि और प्रलय होते रहते हैं,[26] फिर भी मूल अन्तरिक्ष की संरचना पूर्ण ही रहती है। NASA के WMAP प्रोजेक्ट[27] (2003) द्वारा सङ्कलित डेटा से यह प्रमाणित होता है कि ब्रह्माण्ड अनन्त हैं और उसका विस्तार किसी निश्चित सीमा से नहीं, अपितु एक सतत, पूर्ण से पूर्ण की दिशा में हो रहा है। जहाँ प्रत्येक नवगठित खगोलीय सत्ता मूल आकाशीय पूर्णता से ही उत्पन्न होती है।

इस वैज्ञानिक यथार्थ का वैदिक उद्घाटन हमें *बृहदारण्यकोपनिषद्* में मिलता है, जहाँ ऋषि उद्घोष करते हैं – "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" इस मन्त्र का गूढ़ार्थ यह है कि पूर्ण आकाशीय सत्ता (पूर्णमदः) से उत्पन्न समस्त सृष्टियाँ (पूर्णमिदम्) भी पूर्ण हैं, परन्तु उन सृष्टियों की उत्पत्ति के उपरान्त भी मूल कारणस्वरूप ब्रह्म आकाश की पूर्णता में कोई न्यूनता नहीं आती। वह अक्षुण्ण रहती है। यहाँ "पूर्ण" केवल तात्त्विक या आध्यात्मिक अवधारणा नहीं, अपितु एक ब्रह्मवैज्ञानिक तथ्य भी है।

पञ्चमहाभूतों की पूर्णता

भारतीय दर्शन में पृथिवी (क्षिति), जल (अप्), अग्नि (तेजस्), वायु (मरुत्) और आकाश (व्योम) को सृष्टि के मूलभूत तत्त्व माने गए हैं। इन पञ्चमहाभूतों से ही यह चराचर जगत् निर्मित है। प्रत्येक जीव का देह इन भूतों के विविध अनुपातों से निर्मित होता है, जैसे कि पृथिवी धारण करती है, जल पिण्डीकरण करता है, तेज प्रकाशित करता है, वायु अवयवों को यथास्थान रखता है और आकाश अवकाश प्रदान करता है।[28]

किन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि इन पञ्चमहाभूतों से असंख्य शरीरों, वस्तुओं और प्रकृति की विविध अभिव्यक्तियों की सृष्टि होने पर भी, मूलभूत तत्त्वों की पूर्णता में कोई ह्रास नहीं होता। जैसे पृथ्वी से लाखों वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु और पर्वत-नदियाँ उत्पन्न होते हैं, फिर भी पृथ्वी की अस्तित्वगत सम्पूर्णता अक्षुण्ण रहती है। जल के कण समुद्र, वर्षा, रक्त, पसीने आदि में विभाजित होते हैं, फिर भी जलतत्त्व अपने वैश्विक अस्तित्व में अपरिवर्तित रहता है।

आधुनिक भौतिकशास्त्र और पदार्थ विज्ञान भी इस सत्य की पुष्टि करते हैं। Law of Conservation of Mass and Energy कहता है कि ऊर्जा या द्रव्य का न तो निर्माण होता है, न विनाश, केवल रूपान्तरण होता है।[29] उदाहरणस्वरूप, जल वाष्प बनकर उड़ता है, उसके पश्चात् घनीभूत होकर मेध पुनः वर्षा बनता है, परन्तु जल का अणुगणिक अस्तित्व नहीं मिटता। इसी प्रकार, atoms and molecules आदि ये सृष्टि की आधारभूत ईकाइयाँ निरन्तर शरीरों, तत्त्वों, खनिजों आदि में परिवर्तित होती रहती हैं, फिर भी उनकी मूल भौतिक नियम एवं संरचना अपरिवर्तित रहती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि पञ्चमहाभूत केवल अवयव नहीं, अपितु पूर्ण, अविनश्वर और पुनः प्रकट होने वाले चैतन्य के प्रतीक हैं। पञ्चमहाभूतों

---

[25] Albert Einstein (1932), *Sidelight of Relativity*, Methuen, London, pp. 3-24.

[26] The singularities of gravitational collapse and cosmology, S.W. Hawking & R. Penrose, 1970, *Proceeding of the Royal Society A*.

[27] https://map.gsfc.nasa.gov/

[28] तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजः प्रकाशने वायुर्गमने आकाशमवकाशप्रदाने। – *गर्भोपनिषद्* 1

[29] $E = MC^2$ – Theory of Relativity, Does the Inertia of a Body Depend Upon Its Energy Content? by A. Einstein, *Annalen der physic*, 1905.

से उत्पन्न सभी देह, पदार्थ और शक्ति पूर्ण हैं, क्योंकि उनका कारण पञ्चमहाभूत स्वयं पूर्ण है और पूर्ण कारण से अनन्त कार्य उत्पन्न होने पर भी कारण की अर्थात् पञ्चमहाभूतों की पूर्णता शेष रहती है।

पूर्ण स्वर से अनेक पूर्ण स्वर की सृष्टि

सङ्गीत की मूलभूत ध्वनियाँ हैं – "सा, रे, ग, म, प, ध, नि"। इन्हें हम सप्तस्वर कहते हैं। भारतीय शास्त्रीय सङ्गीत की आत्मा ये सात स्वर किसी भी राग, गीत, लय, भाव को रचने के मूल अवयव हैं। इन सात स्वरों से असीमित रागों की, असंख्य गीतों की और विविध भावनात्मक अभिव्यक्तियों की सृष्टि होती है। तथापि, इस सृजन-प्रवाह में मूल सप्तस्वर की पूर्णता, शुद्धता और सार्वभौमिकता क्षीण नहीं होती। यह स्थिति ठीक उसी सत्य को उद्घाटित करती है, जो *बृहदारण्यकोपनिषद्* के महावाक्य "**पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते**" में उद्घोषित है।

यहाँ "पूर्णमदः" है – सप्तस्वर की मूल सत्ता। "पूर्णमिदम्" है उससे उत्पन्न राग, गीत और स्वरसमूह की विविध सृष्टियाँ। जब इन मूल स्वरों से अगणित स्वरों का निर्माण होता है, तब भी मूल स्वर-तत्त्व अपनी सम्पूर्णता में स्थित रहते हैं। यही "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" पूर्ण से पूर्ण की सृष्टि का साङ्गीतिक प्रमाण है।

सामवेद में ऋषियों ने इन स्वरों के माध्यम से ईश्वर की स्तुति की। *नादब्रह्म* का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि सम्पूर्ण सृष्टि "नाद" से उत्पन्न हुई है और नाद के विविध स्वरूप ही सप्तस्वर हैं।[30] अतः इनसे जो कुछ उत्पन्न होता है – रचना, राग, सङ्गीतमय अनुभूति, वह उसी पूर्णता का विविध रूप है।

आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य का समर्थन देता है। ध्वनि विज्ञान (acoustics) के अनुसार, मूल ध्वनि-कम्पाङ्क (fundamental frequency) को आधार बनाकर जब ऊर्जासम्पन्न कम्पन (vibrations) होते हैं, तब अनेक हार्मोनिक्स (harmonics) उत्पन्न होते हैं।[31] परन्तु मूल आवृत्ति (fundamental frequency) अपनी पूर्णता में बनी रहती है। यही "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" का वैज्ञानिक प्रतिपादन है।

एक अन्य दृष्टिकोण से देखा जाए, तो सङ्गीत में रागों की रचना एक गणितीय संरचना भी है। इन सप्तस्वरों से बने थाट (parent scales)[32] से ही 10,000 से अधिक रागों की रचना सम्भव है। जैसे खमाज थाट से राग झिंझोटी, देश आदि की रचना होती है।[33] परन्तु थाट की मूल स्वर-संरचना अक्षुण्ण रहती है। भारतीय सङ्गीत की आत्मा में उपनिषदों का तत्त्व समाहित है। यहाँ प्रत्येक स्वर ब्रह्मस्वरूप है और उसकी सृष्टिशीलता में उसकी पूर्णता कभी भी नष्ट नहीं होती।

बिग बैंग सिद्धान्त और "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" : एक वेदान्तिक समन्वय

बिग बैंग सिद्धान्त के अनुसार, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जन्म लगभग 13.8 अरब वर्ष पूर्व एक अत्यधिक सघन, उच्च-ऊर्जायुक्त सिंगुलैरिटी (singularity) से हुआ, जिसे "बिन्दु मात्र" कहा जा सकता है। उस क्षण में समस्त ऊर्जा, द्रव्य, समय और

---

30 *सङ्गीतरत्नाकर*, स्वरगत अध्याय, नाद, स्थान, श्रुति, स्वर, जाति, कुल, देवता, ऋषि, छन्द तथा रस प्रकरण, श्लोक 1-7.

31 *Fundamental Frequency and Harmonics*, https://www.physicsclassroom.com/class/sound/lesson-4/fundamental-frequency-and-harmonics

32 https://en.wikipedia.org/wiki/Thaat

33 https://en.wikipedia.org/wiki/Khamaj_(thaat)

स्थान, सब कुछ उस अदृश्य पूर्ण बिन्दु में समाहित था। सृष्टि की उस अव्यक्त अवस्था का वर्णन *ऋग्वेद* के नासदीय सूक्त में मिलता है –

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥[34]

सृष्टि के आदि में न "सत्" था और न "असत्"। अस्तित्व और अनस्तित्व की सामान्य धारणा भी वहाँ अनुपस्थित थी। न आकाश था, न अन्तरिक्ष, न कोई ऊर्ध्व अथवा अधोभुवन। न कोई रक्षक था, न आश्रय। यह एक ऐसी परम शून्यता थी, जो न रिक्त थी और न परिपूर्ण, जो न दृश्य थी और न अदृश्य। वह थी केवल एक अवर्णनीय, असीम, गहन तृष्णारहित स्थिति। यह मौन की चरम अवस्था थी। उस समय न मृत्यु थी, न अमरत्व। न दिन था, न रात्रि। समय की धारणाएँ और परिवर्तन की अनुभूतियाँ भी अदृश्य थीं। वहाँ केवल "एकम्" था, जो न श्वास लेता था, न क्रिया करता था, फिर भी अपने "स्वधया" अर्थात् स्वयं के स्वभाव से स्थित था। सब कुछ अन्धकार से आच्छादित था। वह अन्धकार केवल दृश्य का अभाव नहीं था, वह तमस् था, वह अविद्या, अज्ञान और अव्यक्त का स्वरूप था। समस्त दृश्यजगत् कारणरूप जलस्वरूप में समाहित था और कार्य–कारण के भेद का कोई स्थान नहीं था। परन्तु उस मौन जलराशि में, उस अव्यक्त लहर में तपस् उदित हुआ। जो ब्रह्म का स्वेच्छापूर्वक उद्भूत संकल्प था और उसी से एक तत्त्व का जन्म हुआ, "जायत एकम्" जो सृष्टि का प्रथम विकल्प था।

आधुनिक ब्रह्माण्ड विज्ञान के अनुसार, Big Bang से पूर्व समस्त ऊर्जा और द्रव्य एक अनन्त घनत्व वाले बिन्दु में सङ्केन्द्रित था, जहाँ समय-स्थान का कोई भेद नहीं था। ऋषि इसे "सलिलं सर्वम्" कहते हैं, सब कुछ तरल, अनिर्धारित, अव्यवस्थित था। इसके बाद विस्फोट (Big Bang) हुआ, ब्रह्माण्ड का विस्तार आरम्भ हुआ और उससे अरबों गैलेक्सी, तारे, ग्रह, तत्त्व, ऊर्जा-क्षेत्र आदि की सृष्टि हुई।[35] परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यह है कि इस सम्पूर्ण विस्तार और विविधता के पश्चात् भी, कुल का संख्यात्मक योग शून्य या अपरिवर्तित बना रहा है। प्रसिद्ध खगोलशास्त्री Sir Martin Rees, Stephen Hawking और अन्य ब्रह्माण्ड वैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादित किया कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शून्य कुल ऊर्जा (Zero Net

---

[34] *ऋग्वेद* 10.129.1-3

[35] It is now well established that the size of the universe is expanding with time. Therefore looking backward in time would reveal a universe that encompasses smaller and smaller volumes the farther back we go. Remarkably, scientists have been able to explain many phenomena by continuing to trace this contraction back to a time about 13.8 billion years ago, considered to be the age of the universe. At this point it is assumed to be a singularity of infinitesimal size and infinitely dense mass. This generally accepted Big Bang Theory of the birth and evolution of the universe is described in a number of interesting publications for a general audience. – Michael Xapsos, *A Brief History of Space Climatology: From the Big Bang to the Present*, NASA Goddard Space Flight Centre, Senior Member, IEEE

Energy Universe) से हुई है अर्थात् "Energy of Matter = Negative Energy of Gravity" ।[36]

यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि एक अणु मात्र बिन्दु (singularity) से अनन्त पूर्णताओं की उत्पत्ति हुई, परन्तु उस मूल बिन्दु की शक्ति या पूर्णता लुप्त नहीं हुई। ठीक वैसे ही जैसे उपनिषद् कहता है – "पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" अव्यक्त से व्यक्त की प्रक्रिया वही है जो उपनिषद् "सृष्टिक्रम" के रूप में प्रस्तुत करता है।

वेदान्त में ब्रह्म को नित्य, अद्वितीय, सर्वव्यापक, और कारणरूप पूर्ण सत्ता कहा गया है। उससे जगत् की उत्पत्ति होती है, लेकिन वह स्वयं सदा के लिए अविकारी और पूरक बना रहता है। ठीक यही बात बिग बैंग के पहले के singularity को लेकर भी कही जाती है कि वह समस्त सम्भावनाओं का पूर्ण स्रोत था।[37]

उपसंहार

"पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते…" यह मन्त्र केवल एक दार्शनिक सूत्र नहीं, अपितु एक ऐसे सार्वभौमिक सिद्धान्त की उद्घोषणा करता है, जो वेदान्त, विज्ञान, कला, सङ्गीत, भाषा और जीवन के प्रत्येक पक्ष में समभाव से व्याप्त है। आधुनिक विज्ञान के ऊर्जा और द्रव्य संरक्षण के नियम, सङ्गीत के मूल स्वरों से रचनात्मक अनन्तता, भाषा में धातु से शब्दों और वाक्यों की उत्पत्ति, सब एक ही सत्य की ओर सङ्केत करते हैं – पूर्णता का मूल कभी नष्ट नहीं होता, वह विस्तार के साथ भी अक्षुण्ण बना रहता है। पूर्ण से पूर्ण की यह सतत सृष्टि ही परम सत्य है और उसी में ब्रह्म की अनुभूति सम्भव है।

ग्रन्थसूची

Bruce Albert et al. (2008), 6th edn, *Molecular Biology of the cell, Garland Science, USA.*

Stephen Hawking, 2011, A Brief History of Time, Transworld Publishers Ltd.

उपनिषत्सञ्चयनम्, आचार्य केशवलाल वी. शाी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण 2021.

ऋग्वेदसंहिता, श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेता, वैदिकसंशोधनमण्डलम्, पुणे, चतुर्थसंस्करणम्, 1995.

*गर्भ उपनिषद्, Shri Hindu Dharma Vedic Education Fo**undation.**, Gurugram. Haryana*

परमलघुमञ्जूषा, पण्डित श्रीसदाशिवशी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ ऑफिस, द्वितीय संस्करण, 2003.

बृहदारण्यकोपनिषत्, आनन्दगिरिकृतटीकासम्बलितशाङ्करभाष्यसमेता, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्कः 15.

बृहदारण्यकोपनिषत्, स्वामिनारायणभाष्यम्, महामहोपाध्यायः साधुभद्रेशदासः, स्वामिनारायण अक्षरपीठ, शाहीबाग, अमदावाद, तृतीय संस्करण, 2022.

सङ्गीतरत्नाकर, लक्ष्मीनारायण गर्ग, सङ्गीत कार्यालय, हाथरस, प्रथम संस्करण, 1964.

---

[36] The total energy of the universe is exactly zero. The matter in the universe is made out of positive energy. However, the matter is all attracting itself by gravity. – Stephen Hawking (1988), *A Brief History of Time,* chapter 8, p. 66

[37] The positive energy of the matter is exactly balanced by the negative energy of the gravitational field. So the universe can start off with zero energy and still create matter. –*The Scientist* (23 February 1987), 1(7): 15

वेदविहित जीवन-प्रणाली में कृषि की महत्ता

डॉ॰ ऋतिका *

शोधपत्र सार : वैदिक शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में मानव जीवन में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान था और कृषिकर्म प्राचीन काल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था का मुख्य साधन रहा है। कृषि विषय पर वैदिक वाङ्मय में स्थान-स्थान पर पशु-पालन, भूमि को उपजाऊ बनाने, हल चलाने, बीज बोने, परिश्रम से कृषि कार्य करते हुए सम्मान व समृद्धि पाने के उपदेशों का वर्णन मिलता है। वेदों में कृषिकर्म किए जाने का वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। प्रकृति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एवं भौतिक जीवन जीते हुए आध्यात्मिकता का पालन करने के लिए कृषिकर्म को सर्वश्रेष्ठ कर्म माना गया है। प्रस्तुत शोध-लेख में वैदिक वाङ्मय के अनुसार कृषि का माहात्म्य, कृषि की प्रविधियाँ, वर्तमान समय में प्राकृतिक विधि से कृषि-कार्य करने की आवश्यकता आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है।

शब्दकुञ्जिका : कृषिकर्म, कृषि-माहात्म्य, कृषक, कृषि-अर्थशास्त्र, कृषि-भूमि, कृषि-उर्वरक, कृषि-सहायक, कृषि पारिस्थितिकी, कृषिकाल, कृषिविधा।

प्रस्तावना

वैदिक संहिताओं में धर्म, अर्थ, राजनीति, समाज और विज्ञान के विभिन्न पक्षों का उल्लेख मिलता है। जिनमें कृषि (खेती) का विषय भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कृषि भारतीय जीवन का अभिन्न अङ्ग रही है और वैदिक संहिताओं में इसका उल्लेख न केवल आर्थिक दृष्टिकोण से अपितु सामाजिक, व्यावहारिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से भी किया गया है।

वेदों में कृषि के विभिन्न प्रकारों एवं विधाओं का उल्लेख मिलता है। वैदिक समाज में कृषकों द्वारा भूमि का उपयोग मुख्य रूप से अन्न उत्पादन के साधन के रूप में किया जाता था। कृषि को न केवल जीवन-यापन के लिए आवश्यक माना गया, अपितु यह धर्म और संस्कृति से भी जुड़ी हुई थी। कृषि से जुड़े कर्मों में विशेष रूप से धार्मिक अनुष्ठान, यज्ञ और प्रार्थनाएँ भी की जाती थीं, जिससे ज्ञात होता है कि कृषि का कार्य केवल भौतिक नहीं, अपितु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण था। क्षेत्र जोतना हो, बीज वपन करना हो या फसल काटना हो इन सभी कार्यों में हवन आदि विविध क्रिया-कलाप किए जाते थे।

कृषि-कार्य कृषक का आत्मस्वाभिमान है। कृषक कृषि-कार्य करके सम्पूर्ण विश्व को जीवन-यापन के लिए अन्न देता है। भारतीय संस्कृति में **"मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्"**,[1] **"सर्वे भवन्तु सुखिनः"**,[2] **"वसुधैव कुटुम्बकम्"**,[3] **"मनुर्भव"**,[4] **"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"**,[5] **"अनुव्रतः पितुः पुत्रः"**[6] इत्यादि उत्तम एवं सार्वभौमिक भावनाओं का दर्शन कृषक के परिवार

* शोध सहायिका, अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान, गुरुग्राम । <*e-mail:* ritikaasvri@gmail.com>

[1] *अथर्ववेद* 3.30.3

[2] *लक्ष्मीनारायणसंहिता*, खण्ड 1, अध्याय 7/28

[3] *महोपनिषद्* 6.71

[4] *ऋग्वेद* 10.53.6

[5] *अथर्ववेद* 12.1.12

[6] *अथर्ववेद* 3.30.2

में ही सम्भव है। यदि कृषक कृषिकर्म से विरक्त हो जाए या प्रमाद करे तो विश्व में अन्न व फल हेतु विकट समस्याएँ उत्पन्न हो जाएंगी। वैदिक काल से लेकर आज तक सम्पूर्ण संसार में जीवनप्रदायक पदार्थों जैसे – अन्न, फल, सब्जी आदि का उत्पादक कृषक ही रहा है। कृषक को विश्व का अन्नदाता होने के साथ-साथ भूमि का योग्य पुत्र एवं सेवक भी कहा गया है। मनुष्यों के आर्थिक जीवन में कृषि का बहुत महत्त्व था। वैदिक काल में कृषि से उत्पन्न अन्न को ही आजीविका का मुख्य साधन माना जाता था। यही कारण है कि वेदों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर देवताओं से वर्षा के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं और नदियों से भी कृषि क्षेत्र को सञ्चित कर समृद्ध बनाने के लिए प्रार्थनाएँ मिलती हैं। वैदिक काल में आर्य (श्रेष्ठ जन) कृषि को बहुत महत्त्व देते थे।

ऋग्वेद में वर्णित कृषि का माहात्म्य

ऋग्वेद में कृषि की गणना सर्वश्रेष्ठ कर्मों में की गई है। यह *ऋग्वेद* के इस कथन से स्पष्ट है जिसमें ऋषि द्यूतकर्म की निन्दा करते हुए कहते हैं कि जुए में लिप्त हे मानव! तुम कभी भी जुआ मत खेलो अपितु परिश्रम से खेती करो, उससे जो वित्त प्राप्त होगा उससे ही आनन्दित रहो उसी को ही पर्याप्त मानकर उसका उपभोग करो।[7] इसी में अन्य स्थान पर कृषिकर्म के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इससे सम्मान एवं समृद्धि की प्राप्ति होती है। कृषि-कार्य में कृषक हल को भूमि में गहरा जोतता है, हल से ही अन्न निर्माण होता है।[8] *ऋग्वेद* के अनुसार मानवों के कल्याण के लिए सर्वप्रथम अश्विनी-कुमार देवों ने कृषि-कार्य प्रारम्भ किया था। उन्होंने मनु को हल चलाना और यव (जौ) की खेती करना सिखाया था अर्थात् कृषि का कार्य सर्वश्रेष्ठ है जिसे देवता भी करते हैं।[9] *ऋग्वेद* के सप्तम मण्डल में कहा गया है कि विष्णु ने भूमि को कृषि योग्य बनाया और तदुपरान्त उसे मनुष्यों को कृषि के लिए दिया।[10] *ऋग्वेद* के प्रथम मण्डल में वर्णन प्राप्त होता है कि वायु हमारे लिए मधुरतापूर्ण रस बहाकर लाए, नदियों का पानी हमारे लिए मधुर तथा सभी वनस्पतियाँ हमारे लिए मधुमय हो, दिन, रात्रि, उषा, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, वनस्पति, सूर्य हमारे लिए मधुमान हों, भूमियाँ हमारे लिए मधुमती हों,[11] कल्याणकारी हों, इन सभी की समृद्धि में ही कृषि की समृद्धि समाहित है।

ऋग्वेद में कृषिकर्म को उत्तम माना गया है, क्योंकि कृषिकर्म में अपवित्रता की सम्भावना लेशमात्र भी नहीं होती। आजीविकार्थ क्रियमाण कर्मों में कृषि छल-कपट आदि दोषों से पूर्णतः रहित है। अतएव दुर्व्यसनों का त्यागकर आदर्श जीवन जीने के लिए वेद कृषिकर्म करने का ही आदेश देता है। कृषि जीवनोपार्जन का एक अनुपम व उत्तम साधन है। कृषक के परिवार में दुराचार, व्यभिचार का अभाव एवं बालक को शैशव काल से श्रम-शक्ति का उपदेश प्राप्त होता है। जिस कारण कृषक बालक आजीवन भारतीय परम्पराओं का निर्वहण करते हुए जीवन-यापन करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारतीय परम्पराओं का सुदृढ़ पालनकर्ता व सुरक्षाकर्ता कृषक ही है। भारतवर्ष के प्रत्येक पर्व को कृषक उत्साह के साथ मनाता है। भारतीय संस्कृति में शुभ परम्पराओं का सर्वोत्तम निर्वाहक भी कृषक ही है।

---

[7] अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व। – *ऋग्वेद* 10.34.13

[8] कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः। वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ।। – *ऋग्वेद* 10.117.7

[9] दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः। – *ऋग्वेद* 8.22.6
यवं वृकेणाश्विना वपन्तेष दुहन्ता मनुषाय दस्रा। – *ऋग्वेद* 1.117.21

[10] वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ॥ – *ऋग्वेद* 7.100.4

[11] मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः । माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ – *ऋग्वेद* 1.90.6-8

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में एक स्थान पर प्रसङ्ग प्राप्त होता है कि हल का फाल (निचला भाग) हमारी भूमि की अच्छी तरह से जुताई करे। किसान बैलों के साथ प्रसन्नता से चलें। पर्जन्य उत्तम प्रकार से वृष्टि करके हमारा कल्याण करे। हल और फाल हमारे अन्दर आह्लाद उत्पन्न करें।[12] अतः स्पष्ट है कि मनुष्य जाति का कल्याण केवल कृषि-कार्य से ही हो सकता है।[13]

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में साधारण मानव को ही नहीं अपितु देवों पर श्रद्धा रखने वाले विद्वानों को भी कृषि-कार्य करने का आदेश दिया गया है, कहा भी गया है कि कृषिकर्म ही उत्तम यज्ञ है, विद्वानों! इस यज्ञ को करो। वैदिक यागों में कृषि-कार्य से उत्पन्न हवि को देवताओं के लिए अर्पित किया जाता था जिसमें चरु, पुरोडाश आदि हवियाँ प्रमुख बताई गई हैं। जुआ (बैलों के स्कन्धों पर रखे जाने वाले हल के अग्रभाग का संयोजक) को विस्तृत करो। हल के साथ फालो (निचला भाग) को संयुक्त करो। हलों से भूमि को जोतने पर उत्तम अन्न उत्पन्न होता है। तदनन्तर कृषक जुओ को खोल देते हैं। उत्तम सज्जित किए गए खेतों में बीज बोओ, जिससे प्रचुरता से अन्न उत्पन्न हो। तुम्हारे सृणि अर्थात् हंसुए (दराँती) फसल को काटें। बैलों या पशुओं के लिए प्रपा अर्थात् जलपान स्थान तैयार करो। वरत्र (मोटी रस्सी) को पुर में बाँधो और अक्षय, सेवन योग्य जल से परिपूर्ण कुएँ से जल निकालकर खेतों को सींचो।[14]

ऋग्वेद में अनेक ऐसे कृषि विशेषज्ञों का वर्णन मिलता है जो खेती की उपज बढ़ाना जानते थे उनके विषय में कहा गया है – हे ऋभुओं! तुम एक अन्न के चार भाग करो।[15] *ऋग्वेद* में कहा गया है कि हे भरण-पोषण करने वाले अग्निदेव! जो अच्छी भूमि पर अन्न उत्पन्न हुआ है ऐसे अन्न की निन्दा नहीं करते, अपितु शत्रुओं को झुकाने वाले इस अन्न के ऐश्वर्य की प्रशंसा ही करनी चाहिए।[16] प्रियव्रत वेदवाचस्पति-जी की *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था* नामक पुस्तक के अनुसार ऋभुओं का इन्द्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। भाँति-भाँति के क्रिया-कुशल विद्वानों का नाम ऋभु है। इस खण्ड में ऋभुओं की एक महिमा बताई गई है कि वे एक अनाज को चार गुणा बना देते हैं। जिस भूमि में साधारणतया एक मन अनाज उत्पन्न होता है उसी में ऋभुओं की क्रिया-कुशलता से चार मन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि सम्राट् को राष्ट्र में ऐसे कुशल विद्वान् तैयार करने चाहिए जो राष्ट्र की कृषि का गहन अध्ययन करते रहें और ऐसे उपाय सोचते रहें जिनको प्रयोग में लाने से राष्ट्र में कृषि की उपज पहले से चार गुना बढ़ जाए।[17] सम्राट् को राष्ट्र में कृषि द्वारा अच्छा अन्न उत्पन्न हो सके इसके लिए कृषि विशेषज्ञों को भी नियोजित करना चाहिए।

ऋग्वेद के 4.33 सूक्त के देवता ऋभु हैं, ऋभु हमें सम्पूर्ण सम्पदाओं को प्रदान करने वाले हैं। यहीं पर एक मन्त्र का भाव है – हे ऋभुओं! आप कृषकों के खेतों को उत्तम बना देते हो, यहाँ ऋभुओं का वर्णन सूर्य की रश्मि के रूप में किया गया है, जब ये किरणें आदित्य के समीप अत्यधिक तेजी से (ग्रीष्म ऋतु में) प्रकाशित होती हैं तब उसके बाद वर्षा होती है। उस वर्षा से जल बरसाकर सूर्यकिरणें खेत को उपजाऊ बनाती हैं, नदियों को बहाती हैं और निर्जल प्रदेश में वृष्टि द्वारा औषधियों

---

[12] शनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः। शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥ – *ऋग्वेद* 4.57.8

[13] दामोदर सातवलेकर, *वेद में कृषि विद्या*, पृ० 6

[14] युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्। गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्।।
सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया।।
निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन्। सिञ्चामहा अवत मुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्।। – *ऋग्वेद* 10.101.3-5

[15] एकं चमसं चतुरः कृणोतन। – *ऋग्वेद* 1.161.2 (चमसम् अर्थात् चमु-अदने धातु। वेदेषु बहुधान्नार्थे चमस शब्दः प्रयुज्यते।)

[16] न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम । – *ऋग्वेद* 1.161.1

[17] प्रियव्रत वेदवाचस्पति, 1984, *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था*, पृ० 173.

को उत्पन्न करती हैं।[18] ये ऋभु ही अनेक कार्यों में कुशल शिल्पी भी थे।[19] राज्य में ऐसे कुशल व्यक्ति नियुक्त करने चाहिए जो कृषि को और अधिक उत्तम बनाते रहें। पानी देने के लिए नहरों का निर्माण करवाते रहें और निर्जन स्थानों को निवास योग्य बनाकर अन्न और जल से युक्त करने के उपाय सोचते रहें।

ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार हे ऋभुओं! तुम अपनी जिस बुद्धि से अन्न को उत्पन्न करते हो और जिस बुद्धि से भूमि को ऊपर के कठोर छिलके से बाहर निकालते हो, (उन बुद्धियों के कारण ही तुम देव कहलाते हो) ऋभु अर्थात् सम्राट के क्रिया-कुशल विद्वान् अपनी बुद्धियों से अन्नों को उपजाते हैं।[20] प्रियव्रत वेदवाचस्पति की पुस्तक के अनुसार वे कठोर छिलके को तोड़कर भूमि को बाहर निकालते हैं, इसका भाव यह है कि जो भूमियाँ ऊपर से इतनी कठोर हैं कि उनमें किसी प्रकार का अन्न उत्पन्न नहीं हो सकता, वहाँ क्रिया-कुशल विद्वान् वैज्ञानिक उपायों द्वारा उपजाऊ कोमल भूमि को तैयार करते हैं और अन्न उपजाते हैं। तात्पर्य यह है कि राज्य द्वारा ऐसे क्रिया-कुशल विद्वान् भी निर्धारित करने चाहिए जो कृषि में नए-नए अन्न को तैयार करते रहें और राष्ट्र में कृषि के अयोग्य, कठोर भूमि को वैज्ञानिक उपायों से कृषि योग्य बनाते रहें।[21]

वैदिक काल में मनुष्यों का आर्थिक जीवन कृषि पर निर्भर था, अतः *ऋग्वेद* में क्षेत्रपति[22] नामक ऐसे देवता की भी परिकल्पना की गई है, जिसकी अनुकम्पा से खेत फलते-फूलते थे। वे प्रार्थना किया करते थे कि उनकी कृषि समृद्ध बने और उनसे उसी प्रकार धन-धान्य का प्रवाह बहता रहे, जैसै कि गाय से दूध की धाराएँ बहती हैं। *ऋग्वेद* में कृषि देवता क्षेत्रपति की स्तुति में अनेक मन्त्र हैं जिनके ऋषि वामदेव हैं।[23]

इस वैदिक काल में कृषि का कितना महत्त्व था, यह वैदिक ग्रन्थों में बताए गए राजा के कर्त्तव्यों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। शास्त्रों के अनुसार राजा को कृषि की उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। *ऋग्वेद* के अनुसार राजा का यह कर्त्तव्य है कि कृषि की विद्या से कृषकों को अवगत कराए। *ऋग्वेद* के अष्टम मण्डल में कहा गया है कि शुभकर्मी राजा स्वयं मानव जाति को उत्तमोत्तम शिक्षा देने के लिए एवं उसे व्यवहार में लाने के लिए यवक्षेत्र (खेतों) को उत्तम प्रक्रिया से हल द्वारा जोतते हैं एवं बीज बोते हैं।[24]

---

18 सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः। – *ऋग्वेद* 4.33.7

19 त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः। – *ऋग्वेद* 4.33.8

20 याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः। – *ऋग्वेद* 3.60.2
(शचीति प्रज्ञानामसु पठितम्। – *निघण्टु* 3.9 पिशि-अवयवे। किसी वस्तु को बनाने में इसका प्रयोग होता है।)

21 प्रियव्रत वेदवाचस्पति, 1984, *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था*, पृ० 174

22 वर्तमान में क्षेत्रपति का ही परिवर्तित रूप खेतरपाल (क्षेत्रपाल) देवता है जिसकी राजस्थान के कृषक समाज में मनौती मानी जाती है। गाँव के बाहर इसके मन्दिर भी मिलते हैं। उत्पन्न कृषि का प्रथम अंश इस देवता को समर्पित किया जाता है। राजस्थान के ग्राम्य लोक गीतों में भी खेतरपाल देवता की स्तुति की जाती है। – *वैदिक कृषि विज्ञान*, अ० 3, पृ० 97

23 क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे ॥
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व। मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु ॥
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्। क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥
शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥
अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥
शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः। शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम् ॥ – *ऋग्वेद* 4.57.1-8

24 दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः। ता वामद्य सुमतिभिः शुभस्पती अश्विना प्र स्तुवीमहि॥ – *ऋग्वेद*, 8.22.6

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में सम्राट् को कृषि की उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहने के लिए कहा गया है अर्थात् – हे अग्नि! तुम हमें अन्न दो, जिसके खाने से हमारे पुत्र वीर हों।[25] राजा का कर्त्तव्य है वह देखे कि क्या उसके राष्ट्र में ऐसी उत्तम कृषि हो रही है जिसके अन्न को खाने से राष्ट्र का युवा वर्ग बल-वीर्यशाली बन सके।[26]

ऋग्वेद में अश्विनीकुमार देवों के विषय में कहा गया है कि हे शत्रुविनाश कर्ता अश्विनी देवों! हल से जौ को बोते हुए मानव के लिए उस अन्न का दोहन करते हुए और शत्रु को तीक्ष्ण अस्त्र से विनष्ट करते हुए आप दोनों सभी के लिए विशेष प्रकार का स्थान बनाते हुए आए हो।[27] इससे स्पष्ट होता है कि अश्विनीकुमार आदि देवता भी कृषिकर्म किया करते थे।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 53 वें सूक्त के एक मन्त्र में इन्द्र की महिमा बताई गई है कि हे सम्राट् इन्द्र! हम तुम्हारी सहायता से धन और अन्न से युक्त हो जाएँ।[28] इसमें अन्न के वर्धन से अपना सामर्थ्य बढ़ाने की भावना को दर्शाया गया है।

हे अग्नि! (सम्राट्) पर्वतों, औषधियों अर्थात् सभी प्रकार के अनाजों और जलों में जो धन है आप उन सभी के राजा हैं,[29] राजा का कर्त्तव्य है कि वह पर्वतों और जलों में होने वाले पदार्थों तथा अनेक प्रकार के अनाजों की (कृषि की) उन्नति कर उससे राष्ट्र के धन की वृद्धि करे।[30]

हे अग्नि! (सम्राट्) तुम अत्यधिक धन के साथ हमारी ओर देखो अर्थात् आप बहुत सारा धन हमें प्रदान करें। आप हमें प्रतिदिन अन्न प्राप्त कराने वाले देव बनो[31] अर्थात् राजा को ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्र में इतना अन्न उत्पन्न होता रहे कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलता रहे, किसी को भूख से पीड़ित न रहना पड़े।

हे अग्नि! (सम्राट्) तुम्हारे स्तुतिकर्ता हम लोगों को तुम नए-नए अन्न दो जिन्हें खाकर हम उत्कृष्ट बन जाएँ।[32] कृषि ऐसी उत्तम रीति से की जाए कि उस अन्न को खाकर प्राणियों के शरीर और मन पहले से उत्कृष्ट बन जाएँ। तात्पर्य यह है कि प्रजाजन जब कभी अपने खेतों की उपज आदि की न्यूनता के सम्बन्ध में प्रार्थना करें तो शासन को वह सुननी चाहिए और उनके खेतों की त्रुटियों को दूर करना चाहिए। मन की अभिलाषाएँ अनेक हैं, वे इन्द्र के पास ही पूर्ण हो सकती हैं, अतः यवादि अन्न के अभिलाषी इन्द्र से ही प्रार्थना करते हैं।[33] हे इन्द्र! इस आशा से कि तुम मेरी सहायता करोगे, मैं हाथ में दराँती लेता हूँ। हे ऐश्वर्यशाली! चाहे तुम क्षीण और चाहे अधिक समृद्ध जौ आदि अनाज से मेरी मुट्ठी भर दो।[34] इसका अभिप्राय यह है कि हे सम्राट्! मैं खेती करता हूँ और उसे काटने के विचार से हाथ में दराँती लेता हूँ आप अपने प्रबन्ध से जलादि सिञ्चन से उसे उत्कृष्ट कृषि बना दीजिए। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि शासन को राष्ट्र की कृषि की उन्नति के लिए पूर्ण रूप से तत्पर रहना चाहिए।[35]

---

[25] रयिं वीरवतीमिषम्॥ – *ऋग्वेद* 1.12.11

[26] प्रियव्रत वेदवाचस्पति, 1984, *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था*, पृ० 173.

[27] यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय॥ – *ऋग्वेद* 1.117.21

[28] समिन्द्र राया समिषा रभेमहि॥ – *ऋग्वेद* 1.53.5

[29] या (वसूनि) पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा॥ – *ऋग्वेद* 1.59.3

[30] प्रियव्रत वेदवाचस्पति, 1984, *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था*, पृ० 173.

[31] अग्ने वि पश्य बृहताभि रायेषां नो नेता भवतादनु द्यून॥ – *ऋग्वेद* 3.23.2

[32] नवा नो अग्न आ भर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः। – *ऋग्वेद* 5.6.8

[33] त्वामिद्यवयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः। त्वामश्वयुरेषते॥ – ऋग्वेद 8.78.9

[34] तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्रं चना ददे। दिनस्य वा मघवन्त्सम्भृतस्य वा पूर्धि यवस्य काशिना॥ – *ऋग्वेद* 8.78.10

[35] प्रियव्रत वेदवाचस्पति, 1984, *वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था*, पृ० 175.

द्रविण अर्थात् धन देने वाले अग्नि (सम्राट्) ऐसा अन्न देते हैं जिसे ग्रहण कर हमारे युवक वीर हों, यह अग्निदेव हमें (इस अन्न के कारण) दीर्घ आयु देते हैं।[36] राजा राष्ट्र में ऐसे उत्तम अन्न उत्पन्न कराए जिनको खाकर मनुष्य वीर और दीर्घ आयु वाले बनें। *ऋग्वेद* के इन उद्धरणों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा को राष्ट्र की कृषि पर पूरा निरीक्षण करना चाहिए और उसकी उन्नति के लिए सदा चिन्तनशील रहना चाहिए। कृषि विशेषज्ञों को इस कार्य में नियुक्त कर देना चाहिए।

यजुर्वेद में वर्णित कृषि का माहात्म्य

कृषि की चार प्रकार की वैज्ञानिक क्रिया का उल्लेख सर्वप्रथम *शतपथ ब्राह्मण* की माध्यन्दिन शाखा में प्राप्त होता है।[37] *यजुर्वेद* में कृषि की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए ऋषियों ने कहा है कि उत्तम प्रकार वाले बड़े बीज बोने का आधार वह महान् स्थान भूमि है।[38] इसी में भूमि को माता कहते हुए कहा गया है कि हे भूमि माता! तुम्हें प्रणाम हो। तुम्हें कृषि के लिए हम स्वीकार करते हैं। तुम्हें अपनी रक्षा के लिए ग्रहण करते हैं। तुम्हें ऐश्वर्य के लिए हम चाहते हैं और अपने पोषण के लिए माता के तुल्य वन्दनीय समझते हैं[39] क्योंकि परमात्मा ने हमें ऐश्वर्य और कृषि के लिए उत्पन्न किया है हे माते! कृषि को उत्तम एवं फलदायी बनाओ।[40] अन्यत्र भी कहा गया है कि कृषि के द्वारा हमें संसार के सभी ऐश्वर्य एवं अन्न प्राप्त हों।[41] *यजुर्वेद* के एक मन्त्र में कृषि संस्कृति का मनोरम वर्णन प्राप्त होता है। इस मन्त्र में कहा गया है कि हमारे राष्ट्र में प्रत्येक योग्य अवसर पर जब हमें आवश्यकता पड़े तब मेघ वर्षा करे। हमारी औषधियाँ पूर्णरूप से परिपक्व होकर हमें प्राप्त हों।[42] *यजुर्वेद* के एक मन्त्र में हम कृषि से प्रेरणा लेते हुए प्रार्थना करते हैं – जिस प्रकार खेतों में पककर फल स्वयं अपनी लता से अलग होते हैं उसी प्रकार हमारा जीवन हो, इस प्रकार की प्रार्थनाएँ कृषि के माहात्म्य का वर्णन करती हैं।[43] *यजुर्वेद* के 27वें अध्याय का यह मन्त्र दर्शनीय है जिसका अर्थ है – वनस्पतियाँ हमारे लिए मधुमय हो, सूर्य हमारे लिए मधुमान हो, भूमियाँ हमारे लिए मधुमती हों। गायों के द्वारा हमें मधुमय दुग्ध प्राप्त हो।[44] इससे स्पष्ट है कि वेदमन्त्र सूचित करता है कि सूर्य और भूमि से वनस्पतियों में मधु उत्पन्न होता है, जिससे वे हमारे लिए लाभदायक होती हैं। *शुक्ल यजुर्वेद* के 14वें अध्याय के एक मन्त्रानुसार वर्णन है कि हे भूमि! हम सभी जो आपसे कृषि (अन्नादि) प्राप्त कर रहे हैं वह दीर्घ आयुष्य, तेज, क्षेम अर्थात् सुख, पुष्टि और धन प्राप्त करने के लिए ही है।[45]

वैदिक काल से आधुनिक युग तक मनुष्य सुवर्ण एवं पशुधन के साथ कृषि की वृद्धि की कामना करता रहा है। वह चाहता है कि कृषि-कार्य करके समृद्धि की प्राप्ति हो। वह वेदमन्त्र के अनुसार प्रार्थना करता है – मेरी कृषि द्वारा धान्य प्राप्ति, मेरे लिए धान्य उत्पन्न करने वाली अनुकूल वृष्टि, विजय करने का सामर्थ्य और उन्नति सभी यज्ञ के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हों।[46]

---

[36] द्रविणोदा वीरवतीमिषं नो द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः॥ – *ऋग्वेद* 1.96.8

[37] यामेषामेतामनुशृण्वन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे मृणन्तः शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे।
– *शतपथ ब्राह्मण* 1.6.1.3

[38] भूमिरावपनं महत्। – *यजुर्वेद* 23.46

[39] नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयं ते राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ – *यजुर्वेद* 9.22

[40] सुसस्याः कृषीस्कृधि। – *यजुर्वेद* 4.10

[41] विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे। – *यजुर्वेद* 18.31

[42] निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। – *यजुर्वेद* 22.22

[43] त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकम् इव बन्धनान् मृत्योर् मुक्षीय माऽमृतात्॥ – *यजुर्वेद* 3.60

[44] मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ – *यजुर्वेद* 13.29

[45] आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा। – *यजुर्वेद* 14.21

[46] कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। – *यजुर्वेद* 18.9

शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार ज्ञातव्य है कि देवों के समान मनुष्यों को भी अपनी कृषि का विस्तार करना चाहिए, हे मनुष्यों! जैसे ध्यानशील बुद्धिमान जन हलों से जुआ आदि को युक्त करते हैं और कृषि का उत्तम रीति से विस्तार करते हैं उसी प्रकार सभी मनुष्य इस कृषि-कार्य को करें।[47] इसी विषय का विस्तृत वर्णन *तैत्तिरीयोपनिषद्* में भी मिलता है।[48] *यजुर्वेद* में एक स्थान पर कहा गया है कि – मेरी भूमि में हल चलाने का कार्य विद्वानों की सत्संगति, उनके उपदेश तथा निर्देशन में सामर्थ्यवान बने।[49]

यजुर्वेद में मनुष्य और हल के सम्बन्ध में कहा गया है – उत्तम फाल (हल का निचला भाग) भूमि में उत्तम जुताई करे। किसान बैलों के साथ क्षेत्रों (खेतों) में आनन्द से कृषि करने के लिए जाए। हल और फाल हवि से सन्तुष्ट होते हुए इसके लिए उत्तम फल से युक्त वनस्पतियाँ दें। इस प्रकार हल और फाल के साथ मनुष्यों के कल्याण का सम्बन्ध स्पष्टतापूर्वक बताया गया है।[50]

कृष्ण यजुर्वेद की *तैत्तिरीयसंहिता* में कृषि को मानवीय कल्याण का साधन माना गया है।[51] कृषि से ही अन्न, बल और तेज प्राप्त होता है।[52] कृषि को छन्द कहा गया है।[53] इसका अभिप्राय यह है कि यह जन-जीवन को आनन्दमय बनाने वाला संगीत है। छन्द का अर्थ आच्छादन भी है। यह मानव को सुखों से आच्छादित रखता है अर्थात् आनन्दित करता है। अतः यह कृषि-कार्य छन्द है।[54]

कृषि से उत्पन्न अन्न ही सभी प्राणियों को शक्ति सामर्थ्य और आनन्द प्रदान करता है। संसार के सकलभूत अन्न से ही समुद्भूत होते हैं तथा अन्न से ही जीवन धारण करते हैं। अन्न समस्त जीवधारियों का जीवन है। मनुष्य की आवश्यकताओं में अन्न का अन्यतम स्थान है। अन्न के महत्त्व को जानकर ही तैत्तिरीयोपनिषद्कार ने अन्न की निन्दा न करने को कहा है।[55]

ब्राह्मण ग्रन्थों से भी कृषि के महत्त्व का पता चलता है। *शतपथ ब्राह्मण* में कहा गया है कि हल के फाल उत्तम रीति से भूमि को जोतें और योग्य रीति से कृषक बैलों को चलाएं।[56] यहाँ भूमि की सुव्यवस्थित जुताई के लिए कृषक को सुझाव दिया गया है। *शतपथ ब्राह्मण* का एक अध्याय जुताई से सम्बन्धित कर्मों का वर्णन करता है। *शतपथ ब्राह्मण* में भी कृषि देवता क्षेत्रपति की उपासना का उल्लेख मिलता है[57] किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसमें कृषि देवता क्षेत्रपति को मित्र-वरुण तथा आदित्य जैसे महान् देवों के साथ हवि देने के विधान को वर्णित किया गया है जो क्रमशः कृषि के महत्त्व का परिचायक

---

[47] सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥ – *यजुर्वेद* 12.67

[48] सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये विद्वांसस्ते कवयस्ते सीरं च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते पृथग्धीरा देवेषु सुम्नयेति यज्ञो वै सुम्नं धीरा देवेषु यज्ञं तन्वाना इत्येतत्। – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 7.2.2.4

[49] सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। – *यजुर्वेद* 18.7

[50] शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मै॥ – *यजुर्वेद* 12.69

[51] *तैत्तिरीयसंहिता* 4.3.7.2.

[52] वर्चसे त्वा, ओजसे त्वा, बलाय त्वा। – वही 4.3.7.3

[53] कृषि: छन्दः। – वही 4.3.7.1

[54] कपिलदेव द्विवेदी, 1988, *अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन*, पृ० 126.

[55] अन्नं न निन्द्यात्, प्राणो वा अन्नम्, शरीरमन्नादम्। – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 7

[56] सीतां कृषति शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैरिति शुनं शुनमिति (9) घृतेन सीता मधुना समज्यतामिति (10) — *शतपथ ब्राह्मण* 7.2.2.9-10

[57] क्षैत्रपत्यश्चरुः। – *शतपथ ब्राह्मण* 5.5.2.7

है। *पञ्चविंश ब्राह्मण* के अनुसार कृषि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति व्रात्य दोष से युक्त होते हैं वे कृषि, व्यापार एवं अनुष्ठानादि कार्य में अनधिकृत होते हैं[58] और उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता था। *तैत्तिरीय ब्राह्मण* में आजीविका के साधन को उप-जीवा नाम दिया गया है।[59]

एक मन्त्र में कृषक के लिए "कार्षीवण" शब्द का प्रयोग किया गया है। वैदिक कालीन कृषि की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख *तैत्तिरीयोपनिषद्* में भी मिलता है जहाँ अन्न को ब्रह्म,[60] अन्न को प्राण कहा गया है।[61] अन्न से ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न से ही मनुष्यों का जीवन चलता है। सभी अन्न से ही जीवन पाते हैं।[62] अन्न को ही ब्रह्म मानकर पूजा जाता है।[63] इससे स्पष्ट होता है कि अन्नोत्पादन के लिए तत्कालीन समाज के जन अधिक जागरूक थे तथा अधिक से अधिक अन्न उत्पादन करने में विश्वास रखते थे, यही कारण है कि उपनिषद् का वाक्य प्रसिद्ध है।[64]

यजुर्वेद में राजा के जिन चार प्रमुख कर्त्तव्यों का वर्णन मिलता है उन सब में कृषि को उन्नत करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बताया गया है। राजा के चार कर्त्तव्य हैं–

1. कृषि की उन्नति करना
2. प्रजा का कल्याण करना
3. अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना
4. प्रजा को सौविध्य प्रदान कर पुष्ट करना।[65]

यजुर्वेद में मातृभूमि को नमस्कार करते हुए, उत्तम कृषि, योगक्षेम, जगत् के कल्याण के लिए, राष्ट्र में ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए, प्रजा पालन के लिए प्रार्थना की गई है।[66]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजसूय याग के अन्तर्गत राज्याभिषेक के अवसर पर राजपुरोहित राजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे राजन्! तुम्हें यह राज्य कृषि कराने के लिए, प्रजा का कल्याण करने के लिए एवं उन्हें समृद्धशाली बनाने के लिए दिया जा रहा है,[67] इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा का मुख्य दायित्व कृषि की उन्नति व समृद्धि के लिए प्रयास करना था।

अथर्ववेद में कृषि का माहात्म्य

अथर्ववेद में वर्णन प्राप्त होता है कि पृथु वैन्य नामक राजा ने सर्वप्रथम हल से भूमि को जोतना प्रारम्भ किया था।[68] साथ ही

---

[58] हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं वणिज्याम्। –*पञ्चविंश ब्राह्मण* 17.1

[59] या संवत्सर उपजीवासीत्। – *तैत्तिरीय ब्राह्मण* 1.5.6.4

[60] अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 2

[61] अन्नं प्राणं। – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 1

[62] अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । अन्नेन जातानि जीवन्ति । – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 2

[63] योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते। – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 3.7-9, *छान्दोग्य उपनिषद्* 7.9.2

[64] अन्नं बहु कुर्वीत। – *तैत्तिरीयोपनिषद्* 9

[65] कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा। – *यजुर्वेद* 6.22

[66] इयं ते राड् यन्ताऽसि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ – *यजुर्वेद* 9.22

[67] इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तारमेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोऽसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिंलोके करोति कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति साधवे त्वेत्येवैतदाह । – *शतपथ ब्राह्मण* 5.2.1.25

[68] तां पृथी वैन्योऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। – *अथर्ववेद* 8.13.11

अथर्ववेद का यह कथन है कि भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ,[69] यह स्पष्ट करता है कि वैदिक आर्य कृषि को आर्थिक समृद्धि का आधार मानते हुए भूमि को सौभाग्य प्रदान करने वाली माता एवं द्यौ को पिता के समान देखते थे।

अथर्ववेद में कृषि के महत्त्व का पर्याप्त वर्णन मिलता है। *अथर्ववेद* के अनुसार मानव जीवन की प्रमुख आवश्यकता अन्न (भोजन) है।[70] अन्न पर मनुष्यों व सभी प्राणियों का जीवन निर्भर रहता है।[71] अतः इस समस्या के समाधान के लिए कृषि की उपज बढ़ाना, उसके सहायक तत्त्वों से अच्छे प्रकार का बीज आदि निर्माण करना आवश्यक है। कृषि का कार्य सुयोग्य व्यक्ति ही करते थे। कवि (मेधावी, क्रान्तदर्शी) और विद्वान् व्यक्ति इस कार्य को अपनाते थे और कृषि करते थे। यह कार्य सुख प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता था।[72] कृषि-कार्य गौरव का कार्य था, अतः इन्द्र और पूषा देवों को इसमें लगाया गया है।[73] *अथर्ववेद* का वर्णन है कि विराट् (ब्रह्म) मनुष्यों के पास पहुँचा। मनुष्यों ने उसे इरावती (अन्न समृद्धि) नाम से पुकारा। उन्होंने उसे दुहकर कृषि और सस्य (अन्न) प्राप्त किया। कृषि और अन्न से ही सब मनुष्यों की आजीविका का काम चलता है। यही आजीविका का साधन है। जिसने कृषि में सफलता प्राप्त कर ली है, वह आजीविका में सफल हो जाता है।[74] अतएव कृष्टराधि अर्थात् कृषि में सफल व्यक्ति को "उपजीवनीय" (सफल आजीविका वाला) कहा गया है।[75]

अथर्ववेद के दसवें काण्ड के देवता फालमणि, वनस्पति हैं, इसमें हल के फाल से बना हुआ[76] यह फालमणि से कवच जैसी रक्षा करने की प्रार्थना की गई है।[77] वहाँ मणि के धारण करने और समृद्धि प्राप्त करने का विस्तृत उल्लेख मिलता है।[78] वहाँ प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं कि जिस प्रकार हल के फाल से जुती हुई भूमि में बीज उगते हैं उसी प्रकार मेरे पास प्रजा, पशु और प्रत्येक प्रकार के अन्न उत्पन्न हों।[79] इससे कृषि की महत्ता स्वत: सिद्ध होती है। हल पूजन (शुनःसीरीय) तथा कृषि-सम्बन्धी कुछ अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विवरण भी मिलते हैं। अच्छी फसल तथा कृषि की सफलता के लिए शुनःसीर एवं सीता की स्तुति की गई है। उत्तम फसल के लिए इन्द्र से प्रार्थनाएँ की जाती थी कि वह उत्तम वृष्टि करें तथा सूर्य की प्रचुर किरणें फसल की रक्षा करें।[80] कृषि के लिए यज्ञ किए जाने का भी स्पष्ट उल्लेख *अथर्ववेद* में मिलता है। यज्ञ के द्वारा भी देवताओं से यही कामना की जाती थी कि आकाश में स्थित जल, पृथ्वी को उत्तम प्रकार से सींचे तथा फसल को पर्याप्त हवा और प्रकाश प्राप्त हो जिससे उत्तम रसयुक्त अन्न प्राप्त हो।[81] तत्कालीन समाज में लोगों की सदैव यही इच्छा रहती थी कि उनके घरों में पर्याप्त अन्न और खाद्य पदार्थों की विपुलता हो तथा कृषि से उत्पन्न होने वाला चावल और जौ मनुष्यों के लिए कल्याणकारी हो।[82]

---

[69] माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। – *अथर्ववेद* 12.1.12

[70] अन्ने समस्य यदसन् मनीषाः। – *अथर्ववेद* 20.76.4

[71] कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति। – *अथर्ववेद* 8.13.13

[72] सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ – *अथर्ववेद* 3.17.1

[73] इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। – *अथर्ववेद* 3.17.4

[74] *अथर्ववेद* 8.10.42-43

[75] कृष्टराधिरूपजीवनीयो भवति। – *अथर्ववेद* 8.13.12

[76] मणिः फालाज्जातः। – *अथर्ववेद* 10.6.2

[77] वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति। पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा।। – *अथर्ववेद* 10.6.1

[78] *अथर्ववेद* 10.6.6-35

[79] यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु॥ – *अथर्ववेद* 10.6.33

[80] प्र नभस्व पृथिवि ॥ प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः। – *अथर्ववेद* 8.19.1-2

[81] *अथर्ववेद* 3.17.5-7

[82] *अथर्ववेद* 7.60.5-6, 8.2.18-19

कृषि की महत्ता की दृष्टि से *अथर्ववेद* के कुछ मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं– पृथिवी को गाय के समान दुधारू कहा गया है। इसके सहस्र स्तन हैं, जिनसे वह अन्न, औषधियाँ आदि के माध्यम से बिना किसी भेदभाव के अनेक प्रकार की भाषा और विचार वाली समस्त प्रजा का पोषण करती है।[83]

अथर्ववेद के अनुसार जिस भूमि पर देव-निर्मित नगर हैं, जिसके खेतों में जन कृषि करते हैं, धन-धान्य, मणि-माणिक्य, फल-फूल, मेवा सबकुछ जिसके गर्भ में है, प्रजापति परमात्मा हम सभी के लिए उस भूमि को रमणीय एवं उपभोग के योग्य बनाए।[84]

वेद के अनुसार जिस भूमि की चारों दिशाए उन्मुक्त हैं, जिसमें कृषक अन्न पैदा करते हैं और जो गतिशील प्राणधारियों का विविध प्रकार से धारण-पोषण करती हैं, वह भूमि हमारे लिए गौ तथा अन्न प्रदान करे।[85]

अथर्ववेद के अनुसार हल को संयुक्त कर, जुओं को फैलाकर बने हुए हल से ही कृषि भूमि पर चलाकर खेत में बीज बोओ जिससे अन्न की उपज हमारे लिए भरपूर हो। हँसुआ (दराँती) भी परिपक्व धान्य को हमारे निकट लाएं।[86]

अथर्ववेद के अनुसार वज्र के समान कठोर, चलाने में सुखकारक लकड़ी के मूठ वाला हल गौ-बैल,भेड़-बकरी, शीघ्रगामी रथ के घोड़े आदि को उत्तम घास देकर पोषित करता है। हल के निचले भाग में लोहे का कठोर फाल लगाया जाए और उसे पकड़ने के लिए लकड़ी की मूठ लगाई जाए, जिससे यह हल चलाते समय सुखकारक हो। यह हल सभी प्राणियों को उत्तम अन्नादि देकर पुष्ट करता है।[87]

घी और शहद से उत्तम प्रकार से सिञ्चित की हुई, और जुती हुई भूमि सभी देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हो। हे जुती हुई भूमि! घी से सिञ्चित हुई आप हमें चारों ओर से दूध के सदृश मधुर गुणों से युक्त करो।[88] अर्थात् जब भूमि घी तथा शहद से उत्तम रीति से सिञ्चित होती है और जल, वायु आदि देवों की अनुकूलता उसको मिलती है तब वह हमें मधुर रस युक्त उत्तम धान्य और फल प्रदान करती है।

अथर्ववेद के तृतीय मण्डल के अनुसार किसान बैल और हल से आनन्दपूर्वक खेती करे, हल से सुखपूर्वक जुताई करे।[89] सभी कार्य आनन्द से इसलिए करो ताकि उससे आगे भी आनन्द ही उत्पन्न हो सके।

अथर्ववेद के अनुसार हल और फाल (हल का निचला भाग) हवि से सन्तुष्ट होते हुए इसके लिए उत्तम फल से युक्त वनस्पतियाँ दे। इस मन्त्र में हल और फाल के साथ मनुष्यों के कल्याण का सम्बन्ध स्पष्टतापूर्वक बताया गया है।[90]

अथर्ववेद के अनुसार जो तू खाता है और जो तू पीता है, वह धान्य कृषि का ही दूध (अंशभूत) है। जो भक्ष्य और अभक्ष्य तेरा अन्न है वह सब, मैं विषरहित करता हूँ[91]। दामोदर सातवलेकर के अनुसार जो कुछ मनुष्य खाते हैं वह भूमि

---

[83] जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ – *अथर्ववेद* 12.1.45

[84] यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ – *अथर्ववेद* 12.1.43

[85] यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्मामन्नं कृष्टय संबभूवुः। या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ – *अथर्ववेद* 12.1.4

[86] युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्। विराजः श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ – *अथर्ववेद* 3.17.2

[87] लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु। उद्विपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम्॥ – *अथर्ववेद* 3.17.3

[88] घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः। सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना॥ – *अथर्ववेद* 3.17.9

[89] शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ – *अथर्ववेद* 3.17.6

[90] शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमि शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।। – *अथर्ववेद* 3.17.5

[91] यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः। यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि॥ – *अथर्ववेद* 8.2.19

का ही दूध है। यह धान्य इसी समय खाने के काम में आए या न आए, वह सब विषरहित ही होना चाहिए अर्थात् जो भूमि से कृषि द्वारा पदार्थ प्राप्त किया जाए, वह विषरहित ही होना चाहिए। उत्पन्न होने के पश्चात् उसको ऐसा रखना चाहिए कि उससे विष उत्पन्न न हो तथा पश्चात् भोजन बनाना आदि जो क्रिया करनी हो, वह भी ऐसी उत्तम रीति से करनी चाहिए कि किसी भी प्रकार के अन्न से विष उत्पन्न न हो सके। खानपान द्वारा विष शरीर में जाता है और विविध रोग उत्पन्न होते हैं।[92]

अथर्ववेद के जिन सूक्तों के देवता वायु, सूर्य, चन्द्र, जल, त्वष्टा, औषधि, अग्नि, बृहस्पति, आदित्य, विद्युत एवं सिन्धु आदि हैं, उनमें कृषि-सम्बन्धी सङ्केत स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं।[93] *अथर्ववेद* के एक सूक्त के देवता फालमणि हैं। यह फालमणि कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न ही है।[94]

अथर्ववेद में यम, अग्नि, भूमि, इन्द्र आदि देवता कृषिकर्म से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार औषधि सूक्त तथा जहाँ-जहाँ भी वनस्पतियों का वर्णन है वे सभी कृषि से ही सम्बन्धित हैं। *अथर्ववेद* में कहा गया है कि वैवस्वत मनु शिशु थे और पृथ्वी दूध दुहने का पात्र थी, उस शक्ति का दोहन वैन्य पृथु ने किया। उसका ही दोहन करके उसने धान्य आदि को प्राप्त किया।[95] उसी कृषि और धान्य पर मनुष्य जीवित रहते हैं। *अथर्ववेद* के तीसरे काण्ड के सत्रहवें सूक्त के देवता कृषिबल (सीता) हैं। इस सूक्त में स्पष्ट रूप से विधिपूर्वक कृषिकर्म का उल्लेख प्राप्त होता है। *अथर्ववेद* के सप्तम काण्ड के 15वें सूक्त के देवता "अघ्न्याः" हैं। इसके एक मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्यों का पशुपालन अभीष्ट कार्य है।[96] घर में गौ आदि पशु सुख-समृद्धि लाने वाले होते हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध कृषि से है।[97] इस प्रकार वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिसमें प्रकारान्तर से कृषि का सङ्केत मिलता है। *बोधायनस्मृति* में कहा गया है कि अशक्त व्यक्ति को कृषि नही करनी चाहिए।[98] मानव जीवन में कृषि का नितान्त महत्त्व है। सम्पत्ति और मेधा को देने वाली कृषि ही मानव जीवन का आधार है।[99]

कृषि विशेषज्ञों को "अन्नविदः" नाम देते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम उन्होंने कृषि के नियम बनाए थे।[100] *अथर्ववेद* के अनुसार ज्ञात होता है कि राजा कृषि को विशेष रीति से बढ़ाए।[101] *अथर्ववेद* में अन्यत्र भी कहा गया है कि सरस्वती नदी के निकट देवताओं ने मनुष्यों को मधुर रसयुक्त यव दिया था, इन्द्र ने हल चलाया था और मरुद्गण कृषक बने थे।[102] यह विवरण इस बात का संकेत देता है कि वैदिक कालीन समाज में राजा के सहयोग एवं सक्रिय भागीदारी की अपेक्षा की जाती थी।[103]

---

[92] दामोदर सातवलेकर, 1923, *वेद में कृषि विद्या*, पृ० 10-11

[93] *अथर्ववेद* – वायु देवता 2.30, सूर्य देवता 1.12, 2.21, चन्द्र देवता 2.22, आपः देवता 2.23, त्वष्टा देवता 2.27, औषधि देवता 2.27, अग्नि देवता 2.28, बृहस्पति देवता 2.29, आदित्य देवता 2.32, विद्युत देवता, सिन्धु देवता 1.15

[94] *अथर्ववेद* 10.6

[95] *अथर्ववेद* 8.10.40-42

[96] इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान् समुक्षत् – *अथर्ववेद* 7.75.2

[97] अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त। इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ताम् ॥ – *अथर्ववेद* 7.82.1

[98] वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी। शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्।। – *बौधायनस्मृति* 1.5.101

[99] कृषिर्धन्वा कृषिर्मेध्या जन्तूनां जीवनं कृषिः। – *कृषि-पाराशर* 8

[100] यद् यामं चक्रुःर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया। – *अथर्ववेद* 6.116.1

[101] नो राजा नि कृषिं तनोतु। – *अथर्ववेद* 3.12.4

[102] इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ – *अथर्ववेद* 6.30.1

[103] आर० एस० शर्मा, 2008, *प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ*, पृ० 127

उपसंहार

भारत की संस्कृति कृषि प्रधान रही है। पूर्व से ही यहाँ की जलवायु, वातावरण एवं भूमि कृषिकर्म के लिए अनुकूल थी किन्तु वर्तमान में अत्यधिक मात्रा में भूमि में कृत्रिम खाद की मिलावट की जाने लगी है जिसके कारण भूमि का क्षरण होने के साथ-साथ उसकी उर्वरा-शक्ति कम होती जा रही है। इसका प्रमुख कारण मनुष्यों का कृषिकर्म को हीनकर्म समझना एवं कृषि के प्रति बढ़ती उदासीनता है। इस उदासीनता का प्रमुख कारण समुचित संसाधनों का अभाव, पशु-पालन की उपेक्षा, कृषि-कार्य में लागत अधिक लगती है और उसके विक्रय मूल्य से लाभ का कम होना।

किन्तु प्राचीन काल में कृषि-कार्य आजीविका के साथ-साथ धनागम का भी प्रमुख साधन था। तब वस्तु के साथ वस्तु का विनिमय होता था इस कारण से भी अधिक लाभ होता था। वैदिक साहित्य में कृषि का सुवैज्ञानिक विस्तार प्राप्त होता है। वेदों में कृषि से सम्बन्धित अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि वैदिक काल में कृषिकर्म अत्यन्त पवित्र माना जाता था। कृषि सुव्यवस्थित विधियों द्वारा होगी तभी हमारा जीवन सुव्यवस्थित होगा एवं समस्त रोगों का नाश हो सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ॰ कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, भदोही, उत्तर प्रदेश 2012.

अथर्ववेद, सं॰ पं॰ रामस्वरूप शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1977.

अथर्ववेद, सुबोध भाष्य, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला पारडी, बलसाड़, गुजरात, 2024.

अथर्ववेदीय-कौशिकगृह्यसूत्रम्, हिन्दी अनुवादक ठाकुर उदयनारायण सिंह, वी॰ के॰ शास्त्री, ज्योति प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगञ्ज, बनारस, 1999.

ऋग्वेद, सुबोध भाष्य, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला पारडी, बलसाड, गुजरात, 2024.

कृषि पाराशरः, प्रो॰ रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002.

छान्दोग्योपनिषद्, (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, 2003.

तैत्तिरीयब्राह्मणम् (*कृष्णयजुर्वेद*), *सायणभाष्य* सहित, आनन्दाश्रम, पूना, 1838.

निघण्टु, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशंनस, नई दिल्ली, 2015

निरुक्तम्, यास्क, श्री उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1995.

निरुक्तम्, यास्क, सं॰मं॰ मं॰ पं॰ मुकुन्द झा बक्शी, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1989.

पञ्चविंशब्राह्मण, *सायणभाष्यम्*, सम्पा॰ व प्रका॰ डॉ॰ गिरिजा प्रसाद षडङ्गी, तिरुपति, आन्ध्र प्रदेश, 2023

बोधायनस्मृति, स्मृति सन्दर्भ, कलकत्ता, 1952.

यजुर्वेद, सुबोध भाष्य, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, किल्ला पारडी, बलसाड़, गुजरात, 2024.

यजुर्वेदीय-काठकसंहिता, श्री सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, भारतमुद्रणालय, औन्धनगर, मुम्बई, वि॰सं॰ 1999.

वैदिक कृषिविज्ञान, देवेन्द्र कुमार गुप्त, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2012.

वैदिक राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था, प्रियव्रत वेदवाचस्पति, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1984.

शतपथब्राह्मणम्, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1903.

शब्दस्वरूप विमर्श

*डॉ० शशिकान्त मिश्र**

शोधपत्र सार : प्रस्तुत शोधपत्र में शब्द के वैदिक, लौकिक और सामाजिक स्वरूप पर विस्तृत विमर्श किया गया है। शब्द को श्रुति, स्वर और ब्रह्मतत्त्व आदि रूपों में प्रतिपादित करते हुए उसके प्राकट्य, शब्दब्रह्म के स्वरूप, शब्द का अनुशासन, शब्दानुशासन का प्रयोजन, शब्द और अर्थ के मध्य नित्य सम्बन्ध, धर्म एवं प्रयोग के आलोक में शब्दज्ञान, वाक् (शब्द) शक्ति के विविध पर्याय तथा स्फोट सिद्धान्त जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी विचार किया गया है। ये सभी पक्ष शब्द के बहुआयामी स्वरूप को उद्घाटित करते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि शब्द केवल संवाद का उपकरण नहीं अपितु सृष्टि, चेतना और ज्ञान का मूल आधार है।

इस प्रकार यह लेख शब्द के शास्त्रीय अनुशीलन को एक समग्र दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है।

शब्दकूट : शब्द, शब्दब्रह्म स्वरूप, प्रणव (ॐ), शब्दानुशासन, वेदाङ्ग, शब्दार्थ-नित्यता, सम्बन्ध-नित्यता, शब्द-ज्ञान, धर्म, वाक् (शब्द) शक्ति, पर्याय, स्फोट, ध्वनि, मोक्ष इत्यादि।

भारतीय दार्शनिक ज्ञान परम्परा में "शब्द" को केवल ध्वनि, सम्प्रेषण या अभिव्यक्ति का साधन नहीं माना गया अपितु उसे ब्रह्म, परमतत्त्व एवं दिव्य सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वेदाङ्गों में विशेष रूप से व्याकरणशास्त्र के अन्तर्गत शब्द की सत्ता, उसकी शुद्धता एवं उसके आध्यात्मिक स्वरूप का गहन विवेचन किया गया है। यह शास्त्र "शब्दब्रह्म" की अनुभूति का माध्यम बनकर मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर करता है।

शब्दस्वरूप

प्रणव (ॐ) ही सभी शब्दों एवं अर्थों की प्रकृति है और वह वेद है। तथा शब्दराशि वेद ही ब्रह्म है – **वेदो नारायण: साक्षात्॥**[1] शब्दानुशासन में लौकिक और वैदिक उभयविध शब्दों का अनुशासन किया गया है। लोक में शब्द और अर्थ का अभेदरूप से ही व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। अतः जिस शब्द का अनुशासन करना अभिप्रेत है उसका स्वरूप स्पष्ट करना अत्यावश्यक है। समक्ष दृश्यमान पशुविशेष "गौः" का ज्ञान होने पर उस ज्ञान के विषयरूप से भासित होने वाली जो भी वस्तु/पदार्थ हैं उनमें वह कौन सी वस्तु है जिसको शब्द कहा जाता है। यह बोध कराना इस प्रश्न का रहस्य है। यहाँ "गौः" इस ज्ञान में भासित होने वाले गोव्यक्ति, उसकी आकृति, रूप और गोत्वजाति में शब्दत्व का आपादन किया गया और यह कहकर खण्डन कर दिया गया कि ये सभी पदार्थ तो द्रव्य, क्रिया, गुण आदि से गृहीत हैं, ये शब्द नहीं हैं। शब्द के दो स्वरूप प्रतिपादित किए गए हैं। एक व्याकरण दर्शनरूपी वेदाङ्ग का स्फोटरूप शब्द है और दूसरा लोकप्रसिद्ध ध्वनिरूप शब्द है।

1. शब्द[2] वह तत्त्व है जो वैखरी ध्वनि से अभिव्यक्त होते हुए सींग, पूँछ, खुर आदि वाले पशु विशेष का वाचक होता है। पारिभाषिक रूप में इसे स्फोट कहा जाता है। यह विभु और नित्य होता है। स्फोट ही शब्दब्रह्म है जो अनादि,

* शोध सहायक, अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान, गुरुग्राम, हरियाणा। <*e-mail*:varanasiskm@gmail.com>

[1] *श्रीमद्भागवत* 6.1.40

[2] येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः। – *महाभाष्य पस्पशा०*

अक्षर और अनन्त है। स्फोट की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है –

(क) स्फुट्यते अभिव्यज्यते वैखरीध्वनिरूपवर्णैरिति स्फोटः = जो वैखरी ध्वनिरूप वर्णों से स्फुट अर्थात् व्यक्त होता है।

(ख) स्फुटति = अभिव्यक्तीभवति अर्थः अस्मादिति स्फोटः = जिससे अर्थ स्फुटित होता है अर्थात् जो अर्थ का वाचक है।

2. परन्तु स्फोट तत्त्व के शास्त्रीय स्वरूप का ज्ञान और अनुभव सभी को नहीं हो पाता, तथा लौकिक प्रक्रिया में इसकी उपयोगिता भी प्रतीत नहीं होती। इसलिए "ध्वनि"[3] को शब्द रूप में स्वीकृत किया गया है। क्योंकि लोक में अर्थबोधक ध्वनि ही शब्दरूप में प्रतिपादित है। अतः ध्वनि शब्द है। ध्वनि को उद्धृत करते हुए *काव्यप्रकाश* में आचार्य मम्मट ने भी उल्लेख किया है – **बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ॥**[4]

शब्दब्रह्म स्वरूप

सम्पूर्ण सृष्टि शब्दमय है। वाक् शक्ति के प्रभाव से ही सम्पूर्ण जगत् गतिशील है। शास्त्रों में ब्रह्म के रूप में शब्द को प्रतिपादित किया गया है। *शतपथ ब्राह्मण* में शब्द को ब्रह्म कहा गया है।[5] हे सोम्य! वाक् (शब्द) ही ब्रह्म है।[6] *शतपथ ब्राह्मण* की यह उद्घोषणा दर्शाती है कि वाक् अर्थात् ध्वनि या शब्द ही परम तत्त्व है। इस विचार को बाद में मीमांसा और वेदान्त दोनों दर्शनों में विस्तार से स्वीकार किया गया।

वाणी (शब्द) व्यवहार का कोई साधारण माध्यम नहीं है अपितु उसका नियमन करके ही ऋषिगण ब्रह्मत्व को अभिव्यक्त करते हैं। *माण्डूक्य उपनिषद्* में "**ॐ**" को ही शब्दब्रह्म कहा गया है। "**ॐ**" यह अक्षर (शब्द) ही सब कुछ है – भूत, भविष्य, वर्तमान – सब कुछ ओङ्कार में समाहित है।[7] "**ॐ**" को ही परब्रह्म का शब्द स्वरूप (शब्दब्रह्म) माना गया है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में शब्दब्रह्म का उल्लेख करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य "**ॐ**" इस एकाक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण तथा उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन और ध्यान करता हुआ अपने शरीर का त्याग करता है वह परमगति को प्राप्त हो जाता है।[8] इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द को यहाँ ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गाया है।

महर्षि पतञ्जलि भी *योगसूत्र* में कहते है कि उस तत्त्व (ईश्वर) का वाचक (प्रतिनिधि) "प्रणव" (**ॐ**) है – **तस्य वाचकः प्रणवः ॥**[9] यहाँ प्रणव = ओंकार – शब्दब्रह्म का सूक्ष्मतम रूप माना गया है। शब्दब्रह्म के सम्बन्ध में वेदों में यह स्पष्ट किया है कि सृष्टि की उत्पत्ति शब्द (वाक्) से हुई है। शब्द ही ब्रह्म का रूप है। *मैत्रायण्युपनिषद्* में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि "**ॐ**" (ओंकार) शब्दब्रह्म का परम प्रतीक है। जो व्यक्ति शब्दब्रह्म को तात्त्विक दृष्टि से जानता है, वह ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करता है।[10] इस तात्त्विक विषय को *महाभारत* में भी कहा गया है।[11] *वाक्यपदीयम्* में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि – शब्द का परिणाम

---

[3] प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तस्मात् ध्वनिः शब्दः। – *महाभाष्य पस्पशा०*

[4] *काव्यप्रकाश*, प्र० उल्लास, चतुर्थकारिका.

[5] वाग्वै ब्रह्म।। – *शतपथब्राह्मणम्* 14.4.1.23

[6] वागेव सोम्य ब्रह्म।। – *शतपथब्राह्मणम्* 10.5.4.10

[7] ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वम् ओंकार एव।। – *माण्डूक्य उपनिषद्* 1.1

[8] ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। – *श्रीमद्भगवद्गीता* 8.13

[9] *योगसूत्र* 1.27.

[10] शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।। – *मैत्रायण्युपनिषद्* 6.22

[11] द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।। – *महाभारत*, शान्तिपर्व 224.60

यह जगत् है, इस रहस्य को वेदविद् जानते हैं। सृष्टि (सर्ग) के आदि में यह विश्व वेदों अर्थात् शब्दतत्त्व से ही प्रकट हुआ।[12]

इस सृष्टि का मूल "वाक्" तत्त्व है। वही तत्त्व समस्त लोकों के रूप में उत्पन्न हुआ है। जो कुछ भी दृष्ट अमृत (आकाश आदि) अथवा मर्त्य है वह वाक् ही है, वाक् ही भोक्ता है, वही शक्ति विविध रूप से (शब्द करती) बोलती है, व्यवहार करती है। वाक् से परे कुछ भी नहीं है। इन शब्द तत्त्वों में अद्भुत और असीम शक्तियाँ विद्यमान होती हैं।

तत्त्ववेत्ताओं ने वाक्-शक्ति में सकल ब्रह्माण्ड को समाहित माना है। प्रत्यक्ष रूप से शब्दस्वरूप का ज्ञान करता हुआ व्यक्ति भी अर्थ का ज्ञान न होने से शब्द को भी नहीं जान पाता। वाक्-शक्ति के प्रयोग एवं रहस्य के विषय में *ऋग्वेद* में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है कि – एक तो वाणी को देखता हुआ भी अज्ञानता (अर्थ से अनभिज्ञ होने) के कारण नहीं देख पाता तथा दूसरा वाणी को सुनकर भी (अर्थबोध न होने के कारण) नहीं सुनता है और जो सम्यक् रूप से वाणी (शब्द) के अर्थ को जानता है, वही वाणी को सम्यक् रूप से देखता है, सुनता और समझता है। जिस प्रकार ऋतुकाल के अनन्तर पति की कामना करती हुई स्त्री वस्त्रादि से सुसज्जित अपना सर्वाङ्ग अपने पति को समर्पित कर देती है उसी प्रकार यह वाणी भी उन वाग्विदों के समक्ष अपने ज्ञानरूपी (पद, स्वर, मात्रा, प्रकृतिप्रत्ययविभाग सहित) सम्पूर्ण स्वरूप को प्रकट कर देती है।[13]

वाक् (शब्द) के उपयोग के सम्बन्ध में ध्यातव्य बात का उल्लेख करते हुए *ऋग्वेद* में कहा गया है कि – जिस प्रकार छलनी से सक्तु को छानकर व्यवहार योग्य पदार्थ को ग्रहण किया जाता है और अव्यवहार योग्य तुष पदार्थ का परित्याग होता है उसी प्रकार बुद्धिमान् श्रेष्ठ मनुष्य जिस समय अपनी बुद्धि एवं ज्ञान के सामर्थ्य से सुसंस्कृत वाणी को प्रकट करते हैं, उसी समय वे स्नेह भाव से ओत-प्रोत ज्ञानी व्यक्ति सखा होते हुए उस मित्रता के भावों को समझते हैं। इस अवस्था में उनकी वाणी में कल्याणकारक मङ्गलमयी लक्ष्मी का निवास होता है।[14]

मन्त्र-शक्ति का प्रभाव पूर्णतः "वाक्" पर ही आधारित है। इस दृष्टि से "वाक्-शक्ति" की प्रशंसा के विषय में कहा गया है – **"अस्थि वा ऋक्"**[15] – मन्त्र तो अस्थि मात्र हैं। **"प्राणो वै स्वरः"**[16] – प्राण तो स्वर हैं। *ऋग्वेद* में भी शब्द-शक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए उल्लेख प्राप्त होता है कि जब अज्ञानियों को ज्ञान से युक्त करने वाली तथा विद्वानों को आनन्दित करने वाली तेजयुक्त वाणी यज्ञों में प्रकट होती है उस समय चारों दिशाओं से अन्न तथा जल का दोहन होता है। यह दिव्य वाणी कहाँ से प्रकट हुई यह रहस्यमय है।[17]

देवताओं ने जिस दिव्य वाणी को प्रकट किया, विविध प्रकार के पशु (प्राणी) जिसका उच्चारण करते हैं। अन्न, जल, दुग्ध, घृतादिरूपी शक्ति प्रदान करने वाली तथा गौ के सदृश हर्ष प्रदान करने वाली, सम्यक् रूप से हमारे द्वारा स्तुत व अर्चित, पूजित वह वाणी अपना सान्निध्य प्रदान करे।[18]

इस प्रकार *छान्दोग्योपनिषद्* में वाक्-शक्ति की उपासना के महत्त्व के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है कि जो वाणी की

---

[12] शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः। छन्दोभ्य एवं प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।। – *वाक्यपदीयम्* 1.120

[13] उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मैतन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।। – *ऋग्वेद* 10.71.4

[14] सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।। – *ऋग्वेद* 10.71.2

[15] *शतपथब्राह्मणम्* 7.5.2.25.

[16] *ताण्ड्य ब्रा॰* 24.11.9.

[17] यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा । चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम।। – *ऋग्वेद* 8.100.10

[18] देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ।। – *ऋग्वेद* 8.100.11

ब्रह्म के रूप में उपासना करता है वह वाणी से सब कुछ इच्छानुसार ज्ञात कर लेता है (प्राप्त कर लेता है)।[19]

महाभारत में भी वेदव्यास जी कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी वाणी (वेद) का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका न कोई आदि है न अन्त, जो नित्य, शाश्वत और अविनाशी होते हुए देदीप्यमान है, उस शब्दब्रह्म का अहर्निश ऋषिगण अध्ययन, चिन्तन और मनन करते हैं। उसी से सम्पूर्ण सृष्टि की प्रक्रिया प्रचाल्यमान होती है। इस प्रकार शब्दब्रह्म का *महाभारत* में उल्लेख प्राप्त होता है।[20]

कभी क्षीण न होने वाला उत्पत्ति और विनाश से रहित अविनाशी (ब्रह्म) परमेश्वर अथवा वेद है, वही शब्द और अर्थ का मूल शब्दब्रह्म कहलाता है। जिसके द्वारा समस्त चराचर स्थावर-जङ्गम रूप इस संसार की प्रकृष्ट कार्यप्रणाली जैसे सम्पूर्ण प्राण्यप्राणि मात्र का व्यवहार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आदि नाना भेद-प्रभेदों के रूप में प्रकट हुआ करता है। आचार्य भर्तृहरि ने *वाक्यपदीयम्* का आरम्भ शब्दब्रह्म की विवेचना से ही किया है जिसमें उपरोक्त भाव परिलक्षित होता है – जो ब्रह्म उत्पत्ति और विनाश से रहित, अनादि, अनन्त और अक्षर तथा समस्त विकल्पों से अतीत है वह शब्दतत्त्वस्वरूप ही है, जहाँ से अर्थ के रूप में संसार की प्रक्रिया का उद्भव होता है।[21] क्योंकि समस्त अभिधेय पदार्थों का ज्ञान शब्दों के अनुगम से ही होता है। लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के बिना सम्भव हो क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान शब्द के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से ही प्रकाशित होता है। उपरोक्त अर्थ को स्वयं भर्तृहरि भी कहते हैं।[22]

शब्दरूप ज्योति (ज्ञान) के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए आचार्य दण्डी का भी उक्त आशयपरक ही कथन है कि शब्दज्योति ही परमोत्कृष्ट प्रकाशक तत्त्व है। यदि शब्दरूप ज्योति अपना प्रकाश न फैलाए तो यह संसार घोर अन्धकार से व्याप्त हो जाएगा। जिस प्रकार अन्धकार में व्यावहारिक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान के अभाव में सभी प्रकार के व्यवहार लुप्त हो जाएँगे।[23] यह शब्दतत्त्व ही अर्थ के रूप में विवर्तभाव को प्राप्त होता है। शब्दब्रह्म का ज्ञान ही संसार को अन्धकारमय होने से बचाता है तथा व्यवहार को यथासम्भव सञ्चालित करता है। वाग्विद् जिसे वाणी के नाम से भी सम्बोधित करते है। *अथर्ववेद* में भी लिखा है – **"यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्" ॥**[24] समस्त संसार का निर्माण करने वाली यह विराट् वाक्-शक्ति ही है। जहाँ तक ब्रह्म विस्तृत है, उतना ही वाक् विस्तृत है।[25] यह वाक् विराट है।[26] *यजुर्वेद* के भाष्य में भी उद्धृत है कि वाक् ही विश्वकर्मा ऋषि है जिसने वाक्-शक्ति द्वारा यह संसार बनाया।[27] *ताण्ड्य ब्राह्मण* में वाक् की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा गया है – **प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्तस्य वागेव स्वमासीत् वाग् द्वितीया सा ऐक्षतेमामेव वाचं विसृजा। इयं वा इदं सर्वं विभवन्त्येष्यतीति ॥**[28]

अर्थात् प्रजापति के पास एक वाक्-शक्ति ही थी। जिसको देखकर अवगमन किया कि यह वाक्-शक्ति ही सर्वसम्पन्न होकर विस्तृत हो जाएगी। अतः उन्होंने इस वाक् को विस्तृत किया और यही सर्वगुण सम्पन्न होकर व्याप्त हो गई। अर्थात्

---

[19] स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति।। – *छान्दोग्योपनिषद्* 7.2.2

[20] ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम् । अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।। – *महाभारत,* शान्तिपर्व 232. 24

[21] अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। – *वाक्यपदीयम्* 1.1

[22] न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। – *वाक्यपदीयम्* 1.123

[23] इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् । यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। – *काव्यादर्श* 1.4

[24] *अथर्व* 9.2.5

[25] यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।। – *ऋग्वेद* 10.114.8

[26] विराट् वाक्।। – *अथर्ववेद* 9.15.24

[27] वाग्वै विश्वकर्मऋषिर्वाचा हीदं सर्वं कृतम् ।। – *शु०यजुर्वेद* 13.58 भाष्य

[28] *ताण्ड्य ब्रा०* 20.14.2

इसके द्वारा सब कुछ प्राप्त हो गया।

वाक्यपदीयम् में भी भर्तृहरि ने प्रतिपादित किया है कि परा वाक् ही ज्योति रूप में परिलक्षित होती है।[29] ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए दो मार्ग हैं – एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म। शास्त्र और प्रवचन के माध्यम से शब्दब्रह्म की तथा विवेक, चिन्तन और मनन से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। यह रहस्य *अग्नि पुराण* में वर्णित है।[30]

वाक् (शब्द) शक्ति के सोपान

जिनके युक्त होने से प्राण को वाक् की संज्ञा प्राप्त होती है तथा वह विभिन्न रूपों को धारण करता है और जिनके न रहने से पुनः इस वाक् का नाम प्राण ही रह जाता है, वे वाणी के गुण के रूप में परिगणित हैं। वे प्राण अवस्था के आरम्भ से वाक् की सिद्धि पर्यन्त सात अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। वे इस प्रकार हैं – तैजसप्राण, वायु, श्वास, नाद, श्रुति, स्वर, वर्ण। इस वाक् का उपादान कारण रूप द्रव्य जब तक इस शरीर में ब्रह्मग्रन्थि स्थान में प्रकृति से स्थित रहता है तब तक यह "प्राण" इस संज्ञा से ही जाना जाता है और जब शरीर की अग्नि से विक्षुब्ध होकर वह ऊपर की ओर सञ्चरण करता हुआ बढ़ता है, तब उसे वायु के नाम से जाना जाता है। पुनः वह श्वास और नाद बनकर क्रमिक रूप से नाभि आदि स्थानों में संयुक्त होकर उनकी विशेषताओं के कारण विविधता को धारण करते हुए श्रुति और स्वर के रूप को प्राप्त करता है। वर्णरूप में रूपान्तरित होने के लिए ऊपर की ओर सञ्चरण करता हुआ वायु वक्ष, कण्ठ या भ्रूमध्य में उछलकर पुनः ऊपर उठकर सिर में कपाल के आवरण के कारण वापस लौटता हुआ मुख के छिद्र में प्रविष्ट होकर उन-उन विशेष गुणों के अनुरोध से विभिन्न रूपों को धारण करता हुआ वर्ण रूप में उच्चरित होता है। उन गुणों के अभाव में पुनः वाक् प्राणरूप में परिणत हो जाती है। इसलिए ये गुण ही वर्णों के स्वरूप सम्पादन में निमित्त होते हैं। वे गुण पाँच प्रकार के हैं – स्वर, मात्रा, स्थानकरण, बल तथा अनुप्रदान। आचार्यों और ऋषियों का उपदेश है कि वायु वाक् की प्रकृति है, वायु ही मूर्च्छित होकर श्वास होता है, श्वास ही नाद में परिणत होता है यह शाकटायन का कथन है। इस काय (शरीर) में यह वायु मूर्च्छित होता है, वह रव विशेष को प्राप्त करके श्वास बनता है, फिर वह श्वास सिर में उपस्थित होकर बिना द्वार के आकाश में नाद का रूप धारण करता है पुनः वह नाद जिह्वा के अग्र भाग से नियन्त्रित होकर वर्णों की अभिव्यक्ति का कारण बनता है।

पाणिनीयशिक्षा ग्रन्थ में भी कहा गया है कि आत्मा बुद्धि से विशिष्ट अर्थों को प्राप्त करके प्रकट करने के लिए मन को प्रेरित करता है, पुनः मन कायाग्नि को प्रेरित करता है और वह वायु को गति प्रदान करता है, वह वायु उर (हृदय) में विचरण करते हुए प्रातः सवन के योग्य गायत्री छन्द का आश्रय लेने वाले मन्द्र स्वर को उत्पन्न करता है। मध्यम स्वर को त्रिष्टुप् छन्द से अनुगत माध्यन्दिन सवन के लिए कण्ठ में उत्पन्न करता है पुनः तृतीय सवन के लिए जगती छन्द में अनुगत सिर में नाद उत्पन्न करता है और वह उठकर मूर्धा में टकराकर मुख में प्रविष्ट होने पर विभिन्न स्थानों में आघात होने के कारण वर्णों को उत्पन्न करता है। उन वर्णों का विभाग या भेद पाँच प्रकार का है – स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न तथा अनुप्रदान, इस विषय को निपुणता से जानो, यह वाग्विदों का कथन है।[31]

---

[29] अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥ – *वाक्यपदीयम्* 1.167

[30] आगमोक्तं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तथोच्यते ।।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम्। द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये ब्रह्म शब्दपरञ्च यत् ।। – *अग्नि पुराण* 379.7-8

[31] आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्। प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम्।।
कण्ठे माध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम्। तारं तार्तीयसवनं शीर्षण्यं जागतानुगम्।।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः। वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।।

इस वाक् शक्ति के चार चरण हैं – परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से प्रथम तीन अन्तःकरणरूपी गुहा में निहित रहती हैं। चतुर्थ वैखरी वाक् को ही मनुष्य बोलने में प्रयोग करते हैं। इस शब्द शक्ति का वर्णन *ऋग्वेद* में भी किया गया है।[32]

उपरोक्त विषय को ही *योगकुण्डल्युपनिषद्* में वाक् के उद्भव और विकास को प्रकाशित करते हुए लिखा गया है कि परा में अङ्कुरित होकर वाक् पश्यन्ती में पत्र एवं शाखाओं से युक्त होती है।[33] मध्यमा में वह पुष्पान्वित होकर वैखरी में विकसित और फलीभूत हो जाती है। जिस क्रम से वाक्-शक्ति का विकास होता है उसके विपरीत क्रम से उसका लय भी हो जाता है।[34] भर्तृहरि ने वाक् की त्रिधा गति को उद्धृत किया है जिसमें परा को पश्यन्ती में ही अन्तर्भूत माना है। इनके अनुसार वाक्यस्फोट ही "परा-पश्यन्ती" वाक् का विषय है। विभिन्न तीर्थभेद (स्थानभेद) से युक्त वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती ये त्रयी वाक् परम पद को प्राप्त करने का अद्भुत और उत्कृष्ट (परम) साधन (पद) है।[35] वाक् तत्त्व के विभिन्न स्थान का प्रतिपादन करते हुए *परमलघुमञ्जूषा* में नागेशभट्ट लिखते हैं –

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥[36]

नागेशदर्शित उक्त **"परा" वाक्** को भर्तृहरि ने "परा-पश्यन्ती" के नाम से स्वीकार किया है।[37]

पाणिनिसूत्र **"एकः पूर्वपरयोः"**[38] के "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" इस भाष्य में सम्यग् ज्ञानपूर्वक वाक्यस्फोट को ही परम पुरुषार्थ प्राप्ति का साधक कहा गया है। वाक्यस्फोटात्मक शब्दतत्त्वरूपी ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला यह व्याकरणरूपी वेदाङ्ग मुमुक्षुओं के लिए तथा शब्दब्रह्म से आत्म-साक्षात्कार कराने हेतु सहज और सरल राजमार्ग माना गया है।[39] भर्तृहरि ने इसका प्रतिपादन किया है।

घट, कुण्डल आदि विकार जिस प्रकार क्रमशः मृत्तिका, सुवर्ण इत्यादि तत्तत्प्रकृति में ही अन्वित होते हुए दिखाई देते हैं उसी प्रकार रूपादि विषय की प्रकृति भी शब्दतत्त्व ही है। इसलिए शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है। उक्त आशयपरक ही यह श्रुतिवाक्य है –

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति॥[40]

वाक्-शक्ति को ही अग्नि भी कहा गया है। यह अग्नि सर्वत्र तेजस्विता, ऊर्जा, प्रखरता एवं आभा उत्पन्न करती है। इसीलिए वाक् अग्नि भी है। *ऐतरेयारण्यक* में वर्णन प्राप्त होता है कि अग्नि वाक्-शक्ति बनकर मुख में प्रविष्ट हो गई।[41] *बृहदारण्यकोपनिषद्*

स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः। इति वर्णविदः प्राहुर्निपुणं तन्निबोधत।। – *पाणिनीयशिक्षा* 2.6-10

32 चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। – *ऋग्वेद* 1.164.45

33 परायामङ्कुरीभूय पश्यन्तां द्विदलीकृता।। – *योगकुण्डल्युपनिषद्* 3.18

34 मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता। पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत्।। – *योगकुण्डल्युपनिषद्* 3.19

35 वैखर्याः मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्याः वाचः परं पदम्।। – *वाक्यपदीयम्* 1.159

36 *परमलघुमञ्जूषा,* स्फोटविचारः, पृ॰ ५३ (नाग पब्लिशर्स, दिल्ली 2004)

37 अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।। – *वाक्यपदीयम्* 1.167

38 *पा॰सू॰* 6.1.84

39 इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् । इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।। – *वाक्यपदीयम्* 1.16

40 *छान्दोग्योपनिषद्* 6.1.4

41 अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः … ।। – *ऐतरेयारण्यक* 2.4.2

में वाक्-शक्ति को मृत्यु से परे देदीप्यमान अग्नि के रूप में प्रतिपादित किया गया है–

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्। सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्। सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते॥[42]

वाणी के दो विभाग हैं – एक जिसका प्रयोग जिह्वा की सहायता से सामान्य मनुष्य अपने दैनिक व्यवहार में करता है। दूसरा वह है जिसका प्रयोग देवगण करते हैं। "अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः"।

शब्दब्रह्म के विषय में *तैत्तिरीय ब्राह्मण* में वाक् की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है–

वागक्षरं प्रथमजाऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः॥[43]

वाक् (शब्द) और वाणी की शक्ति, उसकी महत्ता, दैवीय प्रभाव और उसके सम्यक् उच्चारण को दर्शाते हुए *शतपथ ब्राह्मण* में कहा गया है -

ते ह वाचमूचुः। त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायद्यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं वदति तदात्मने तेऽविदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥[44]

मैं (वाक्) वसुओं की सङ्गमनी शक्ति हूँ, यज्ञ में प्रथम पूजनीय हूँ, देवताओं ने मुझे अनेक रूपों में व्याप्त किया है। इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति में शब्द की प्रभुता को दर्शाते हुए *ऋग्वेद* में उल्लेख प्राप्त होता है –

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरीस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥[45]

मैं (वाक्) स्वयं ही देवताओं और मनुष्यों के लिए वाणी को अभिव्यक्त करती हूँ। जिसको मैं चाहती हूँ, उसी को महान ब्रह्मज्ञानी, ऋषि और मेधावी बनाती हूँ। इस प्रकार *ऋग्वेद* में वर्णन प्राप्त होता है –

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥[46]

यहाँ वाक् को ही शब्दब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है ।

मैं (वाक्) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों और समस्त देवताओं के साथ विचरण करती हूँ। मैं ही इन्द्र, अग्नि, अश्विनी-कुमारों में स्थित हूँ। इस प्रकार वाक् सूक्त में ब्रह्म को ही वाक् कहा है–

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥[47]

यहाँ शब्दब्रह्म की सर्वव्यापकता को स्पष्ट किया गया है। ब्रह्म स्वयं शब्द के रूप में प्रकट होता है – जिसे वाक् कहा गया।

---

[42] *बृहदारण्यकोपनिषद्* 1.3.12.

[43] *तैत्तिरीयब्राह्मणम्* 2.8.8.

[44] *शतपथब्राह्मणम्* 14.4.1.3.

[45] *ऋग्वेद* 10.125.3.

[46] *ऋग्वेद* 10.125.5.

[47] *ऋग्वेद* 10.125.1.

शब्द (वाक्) शक्ति का पर्याय

वाक् के 57 पर्यायों का *निघण्टु* शास्त्र में वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है – 1. श्लोकः, 2. धारा, 3. इला, 4. गौः, 5. गान्धर्वी, 6. गौरी, 7. गभीरा, 8. गम्भीरा, 9. मन्द्रा, 10. मन्द्राजिनी, 11. वाशी, 12. वाणी, 13. वाणीची, 14. वाणः, 15. पविः, 16. भारती, 17. धमनिः, 18. नालीः, 19. मेलिः, 20. मेना, 21. सूर्या, 22. सरस्वती, 23. निवित्, 24. स्वाहा, 25. वाग्नुः, 26. उपब्दिः, 27. मायुः, 28. काकुत्, 29. जिह्वा, 30. घोषः, 31. स्वरः, 32. शब्दः, 33. स्वनः, 34. ऋक्, 35. होत्रा, 36. गीः, 37. गाथा, 38. गणः, 39. धेनाः, 40. ग्नाः, 41. विपा, 42. नना, 43. कशा, 44. धिषणाः, 45. नौः, 46. अक्षरम्, 47. मही, 48. अदितिः, 49. शची, 50. वाक्, 51. अनुष्टुप्, 52. धेनुः, 53. वल्गुः, 54. गल्दा, 55. सरः, 56. सुपर्णी, 57. बेकुरा।[48]

अमरकोष में भी शब्द के 17 पर्यायों का वर्णन प्राप्त होता है – 1. शब्द, 2. निनाद, 3. निनद, 4. ध्वनि, 5. ध्वान, 6. रव, 7. स्वन, 8. स्वान, 9. निर्घोष, 10. निर्ह्राद, 11. नाद, 12. निस्वान, 13. निस्वन, 14. आरव, 15. आराव, 16. संराव, 17. विराव।

> शब्दे निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः। स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः। आरवारावसंराववविरावा॥[49]

शब्दानुशासन के प्रयोजन

महाभाष्य में शब्दानुशासन के मुख्य और आनुषङ्गिक प्रयोजनों का विभाजन किया गया है। मुख्य प्रयोजन[50] पाँच हैं – रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह। यद्यपि आनुषङ्गिक प्रयोजनों की संख्या तेरह (13) है। मुख्य प्रयोजन का विवेचन इस प्रकार किया गया है –

1. ***रक्षा*** – व्याकरण के अध्ययनकर्ता को लौकिक और वैदिक शब्दों के बीच अन्तर का ज्ञान होता है। वह शब्दों के शुद्ध रूप को पहचानता है और इस प्रकार कभी भी भ्रमित नहीं होता। इसके परिणामस्वरूप वह वैदिक शब्दों की रक्षा करने में सक्षम होता है।
2. ***ऊह*** – प्रकृति याग में सभी विधियाँ स्पष्ट रूप से उपदिष्ट होती हैं, यद्यपि विकृति याग में नूतन विधियों (अंश) का उल्लेख होता है। इसलिए इन दोनों में प्रकृति याग के अनुरूप लिङ्ग, विभक्ति और प्रकृति आदि में अपेक्षित परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।[51]
3. ***आगम*** = वेदवचन। – यह प्रयोजन फल नहीं अपितु प्रयोजन = प्रयोजक है।[52] वेदवचन से व्याकरणाध्ययन में प्रवृत्ति सूचित होती है – ब्राह्मण को बिना किसी विशिष्ट उद्देश्य के छह अङ्गों सहित वेद का अध्ययन और ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[53] "मुखं व्याकरणं स्मृतम्" के अनुसार व्याकरण सबसे महत्त्वपूर्ण है।[54]

---

[48] *निघण्टुः* 1.11

[49] *अमरकोषः*, प्र० काण्डः शब्दादिवर्गः 22

[50] रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। – *महाभाष्य*, पस्पशा०

[51] प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या। – *व्या० महाभाष्य*, पस्पशा०, प्रदीपे कैयटः

[52] आगमः प्रयोजनः प्रवर्तको नित्यकर्मतां व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति । प्रयोजनशब्देन च फलं प्रयोजकश्चोच्यते। – *व्या० महाभाष्य*, पस्पशा०, प्रदीपे कैयटः

[53] ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। –श्रुति (*व्या० महाभाष्य*, पस्पशा०)

[54] सन्देहस्य प्रागभावोऽत्र द्रष्टव्यः, न तु प्रध्वंसाभावः। नहि वैयाकरणस्य संशय उत्पद्य विनश्यति, इतरस्यैव तदुत्पादात्। – *व्या० महाभाष्य*,

4. ***लघु*** – व्याकरण के अध्ययन से शब्दों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। अतः लाघव से अनेक शब्दों का ज्ञान हो जाता है। जो व्यक्ति अधिक शब्दों का ज्ञाता होता है, वह अध्यापन आदि में सफलता और यश प्राप्त कर सकता है।

5. ***असन्देह*** – सन्देह न होना – वैयाकरण को कभी भी सन्देह नहीं होता।[55] स्वरादि का ज्ञान रखने के कारण अर्थ निर्णय में वह समर्थ होता है। स्वरों का सम्यक् ज्ञान व्याकरणाध्ययन से ही सम्भव है। जैसे "स्थूलपृषतीम्" में वैयाकरण पूर्वपद (स्थूल) का प्रकृति स्वर (अन्तोदात्त) देखकर बहुव्रीहि का ही निर्णय करता है। कर्मधारय का सन्देह नहीं करता। आनुषङ्गिक तेरह प्रयोजनों को भी *पातञ्जल-महाभाष्य* में देखना चाहिए।

शब्दानुशासन का स्वरूप

प्रश्न यह है कि क्या हमें शुद्ध शब्दों और अशुद्ध शब्दों में से किसी एक या दोनों के प्रयोग का अनुशासन करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि दोनों का अनुशासन आवश्यक नहीं है, क्योंकि जब हम किसी एक का नियमन करते हैं, तो उसके विपरीत का ज्ञान स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। जैसे गुरु ने उपदेश दिया कि "धर्म का आचरण करना चाहिए"। इस वाक्य के श्रवण करते ही इसके विपरीत अर्थ का ज्ञान हो जाता है कि "अधर्म का आचरण नहीं करना चाहिए"। "**धर्मं चर**"[56]। "सत्य बोलना चाहिए"– इस वाक्य को श्रवण करते ही इसके विपरीत अर्थ – "झूठ नहीं बोलना चाहिए", इसका ज्ञान हो जाता है। "**सत्यं वद**"[57] ॥

इसी प्रकार की स्थिति यहाँ भी देखने को मिलती है। यदि यह बताया जाए कि "गौः" एक शुद्ध/साधु (संस्कृत) शब्द है, तो इसका अप्रत्यक्ष अर्थ यह निकलता है कि गावी, गोणी, गोता आदि शब्द अशुद्ध/असाधु या अपशब्द हैं। इसके विपरीत यदि यह कहा जाए कि गावी, गोणी, गोता जैसे शब्द अपशब्द हैं, तो उससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि "गौः" शुद्ध/साधु (संस्कृत) शब्द है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शब्द और अपशब्द के बारे में पृथक्-पृथक् उपदेश किया जाए। किसी एक का निर्देश (सकारात्मक या नकारात्मक) पर्याप्त होता है। यद्यपि संस्कृत के शुद्ध शब्द सीमित संख्या में होते हैं, उन्हें सिखाना अपेक्षाकृत सरल और अल्प श्रमसाध्य है। अपशब्दों की संख्या अधिक है, अतः उनका अनुशासन करना अधिक परिश्रम की अपेक्षा करता है। अतः केवल शुद्ध शब्दों का अनुशासन करना अधिक युक्तिसङ्गत और लाघवमूलक है।[58] शब्दों के अनुशासन की दो पद्धतियाँ हो सकती हैं –

1. प्रत्येक शब्द को पढ़ा जाए और उसका पृथक्-पृथक् अनुशासन किया जाए।
2. कुछ सामान्य नियम (सूत्र) बनाए जाएं और उनके अन्तर्गत विशेष नियमों (अपवादों) की रचना करके शेष शब्दों का नियमन किया जाए।

इनमें प्रथम विधि – प्रत्येक शब्द को पढ़कर (प्रतिपदपाठ करके) उसका अनुशासन करना, प्रायः असम्भव है।[59]

पस्पशा॰, प्रदीपे कैयटः

55 पूर्वपदप्रकृतिस्वराद् बहुव्रीह्यर्थावसाय इत्यर्थः। – *व्या॰महाभाष्य*, पस्पशा॰, प्रदीपे कैयटः

56 *तैत्तिरीयोपनिषद्* 1.11.1

57 *तैत्तिरीयोपनिषद्* 1.11.1

58 लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। – *महाभाष्य*, पस्पशा॰

59 अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। –*महाभाष्य*, पस्पशा॰

उदाहरणस्वरूप जब देवराज इन्द्र ने देवगुरु बृहस्पति से सभी शब्दों का अध्ययन करना चाहा, तब बृहस्पति ने देवताओं के एक हज़ार वर्षों तक उन्हें प्रत्येक पद का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया, फिर भी वे पूर्ण नहीं हो पाए।[60]

आधुनिक मनुष्य तो अधिक से अधिक सौ वर्ष तक ही जीवित रह पाता है और विद्या की सम्पूर्णता के लिए केवल अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता – उसे चार अवस्थाएं पार करनी पड़ती हैं – (1) गुरुमुख से अध्ययन, (2) अधीत विषय का स्वयम् अभ्यास, चिन्तन, (3) अध्यापन और (4) यागादि स्थलों पर अपने ज्ञान का व्यावहारिक रूप में प्रदर्शन।[61] परन्तु आज का मनुष्य केवल शब्द पढ़ता ही रह जाएगा, तो शेष तीन अवस्थाएँ कभी प्राप्त ही नहीं हो सकेंगी। इसलिए कहा भी गया है कि **"अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः स्वल्पश्च कालो बहुविघ्नता च। यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥"**[62] अतः कुछ सामान्य सूत्र जैसे – " कर्मण्यण् "[63] और कुछ इसके अपवाद सूत्र जैसे ''आतोऽनुपसर्गे कः''[64] बनाने चाहिए। इसी रीति से सभी शब्दों का अनुशासन सरल, सहज, व्यवस्थित और लाघवपूर्वक सम्भव है।

शब्दार्थ एवं सम्बन्ध की नित्यता

वैयाकरण आचार्य शब्दनित्यतावाद के पक्षधर हैं। आचार्य व्याडि द्वारा रचित *सङ्ग्रह* नामक एक लक्षश्लोकात्मक ग्रन्थ,[65] जो वर्तमान में अनुपलब्ध है, इसमें शब्दनित्य एवं अनित्यवाद – दोनों के गुण–दोषों का विश्लेषण करते हुए निष्कर्षतः व्याकरणशास्त्र का परम उद्देश्य साधुत्वबोध प्रतिष्ठित किया गया है। फलतः नित्य–अनित्य उभय पक्षों में व्याकरण की उपयोगिता अविचलित रहती है।

आचार्य पाणिनि ने भी शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध – इन तीनों की नित्यता को स्वीकार करके अपने व्याकरणशास्त्र की रचना की है। स्फोटरूप शब्द नित्य माना गया है। कार्यशब्दवादी नैयायिक आदि भी प्रवाहनित्यता से शब्द की नित्यता को स्वीकार कर लेते हैं। अर्थ भी जातिरूपत्व अथवा प्रवाहनित्यत्व के कारण नित्य है। अतः जब शब्द और अर्थ दोनों नित्य हैं, तो उनके सम्बन्ध की नित्यता भी स्वतः स्पष्ट है।[66] पाणिनि शब्दार्थ सम्बन्ध के निर्माता नहीं, प्रत्युत सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्ध के स्मारक हैं – जैसा कि कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक में स्पष्ट किया है – **"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे"**।[67]

यह "सिद्ध" शब्द नित्य एवं अनित्य – दोनों प्रकार के पदार्थों का वाचक है। जैसे – सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशम् आदि में सिद्ध शब्द नित्य अर्थ में प्रयुक्त होता है; यद्यपि सिद्धः सूपः, सिद्धः ओदनः सिद्धा यवागू आदि में यह कार्यरूप अनित्य वस्तुओं/पदार्थों का वाचक है।

वार्तिकस्थ "सिद्ध" शब्द को नित्यवाचक प्रमाणित करने हेतु निम्नलिखित प्रमुख तर्क प्रस्तुत किए गए हैं–

---

[60] एवं हि श्रूयते – बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो, न चान्तं जगाम। – *महाभाष्य,* पस्पशा०

[61] चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। – *महाभाष्य,* पस्पशा०

[62] *चाणक्यनीतिः* 15.10

[63] *पा०सू०* 3.2.1

[64] *पा०सू०* 3.2.3

[65] सङ्ग्रहः-व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। – *महाभाष्य,* पस्पशा०, उद्योते नागेशः

[66] तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा। कार्यशब्दिकानामपि प्रवाहनित्यतया। अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता, प्रवाहनित्यतया वा। सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता। – *महाभाष्य,* पस्पशा०, कैयट

[67] *कात्यायन वार्तिक* 1, *महाभाष्य,* पस्पश०

1. व्याडि-कृत *सङ्ग्रह* ग्रन्थ में "किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्धः?" इत्यादि प्रसङ्गों में "सिद्ध" शब्द का प्रयोग कार्य (अनित्य) के विरोधी रूप में हुआ है, जिससे "सिद्ध" का नित्यार्थक पर्याय शब्द सिद्ध होता है। अतः वार्तिक में भी उसे नित्यवाचक मानना समीचीन है।
2. कुत्रचित् "एव" आदि शब्द का द्वितीय पद वाक्य में न होते हुए भी अर्थ के अनुसार उसका निश्चयात्मक भाव स्वीकार कर लिया जाता है; जैसे "अब्भक्षः, वायु भक्षः" इस वाक्य में "अप एव भक्षयति", "वायुमेव भक्षयति" यह अर्थ स्वतः ही स्पष्ट होता है। उसी प्रकार इस वार्त्तिक में भी "एव" शब्द नहीं होने पर उसका निश्चयात्मक भाव समझ लेना चाहिए – "सिद्धे एव, न तु साध्ये अनित्ये"।
3. जिस प्रकार "देवदत्त", "सत्यभामा" आदि नामों में "दत्त" या "सत्या" का प्रयोग तब भी होता है जब उनके पूर्व एवं पर पद (जैसे देव या भामा) का लोप हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी "अत्यन्तसिद्ध" शब्द में से "अत्यन्त" पद लुप्त है और केवल "सिद्ध" पद शेष है। अतः यहाँ जो अर्थ लिया जाना चाहिए वह "अत्यन्तसिद्ध" है – अर्थात् वह जो तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) में सदा सिद्ध (स्थायी) है। वही यहाँ अभिप्रेत है।
4. किसी विषय में केवल सन्देह होने मात्र से उसे गलत या प्रमाणहीन नहीं ठहराया जा सकता, अपितु विद्वानों की उचित व्याख्या देखकर ही सही निर्णय लेना चाहिए।[68] यहाँ "सिद्ध" शब्द को भी "नित्य" के अर्थ में ही समझा जाना चाहिए। यद्यपि सिद्ध शब्द के स्थान पर "नित्ये" शब्द का पाठ भी हो सकता था, फिर भी "सिद्ध" शब्द का प्रयोग करने से दो लाभ हैं –
   i. यह वाक्य मङ्गलाचरण के रूप में भी कार्य करता है।
   ii. "सिद्ध" शब्द की व्याख्या द्वारा उसका "नित्य" अर्थ स्पष्ट करना सम्भव है।[69] यद्यपि यह प्रथम वार्त्तिक है और मङ्गलाचरण शास्त्रविहित है। इसलिए कात्यायन ने "नित्य" के स्थान पर "सिद्ध" का प्रयोग किया है।

इस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण का निर्माण, यह मानते हुए किया है कि – शब्द, अर्थ, और उनके मध्य का सम्बन्ध नित्य (सदैव एक समान) है। उन्होंने नूतन शब्दों की रचना नहीं की, अपितु लोकप्रचलित शब्दों के आधार पर नियम बनाए। यही व्याकरणशास्त्र का सिद्धान्त है। शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता का निर्णय लोक व्यवहार से प्रमाणित होता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति शब्द प्रयोग के लिए वैयाकरण से अनुमति नहीं माँगता, वह स्वतः प्रयोग करता है। इसलिए अर्थ जानने के लिए जो शब्द उपयोग में आता है, उसी में व्याकरणशास्त्र यह धर्मनियम करता है कि केवल साधु शब्द (शुद्ध संस्कृत) का प्रयोग होना चाहिए, अपशब्द का नहीं।

धर्मनियम की निम्न तीन व्युत्पत्तियाँ भाष्य में हैं उनका तात्पर्य इस प्रकार है – (1) धर्म = प्रत्यवायपरिहार के लिए नियम। (2) धर्मरूप नियम। (3) धर्मप्रयोज्य नियम।[70] यह धर्मनियम व्याकरण में भी उसी प्रकार लागू होता है जैसे अन्य लौकिक या वैदिक विषयों में।

प्रत्येक स्थान पर नियमानुसार कार्य करना ही धर्मसाधन होता है। इसलिए यद्यपि अर्थ दोनों (साधु शब्द और अपशब्द)

---

[68] व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्। – *महाभाष्य*, पस्पशा॰ (परिभाषा)

[69] पश्यति त्वाचार्यो मंगलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। – *महाभाष्य*, पस्पशा॰

[70] धर्माय नियमः धर्मनियमः। धर्मार्थो वा नियमः धर्मनियमः। धर्म-प्रयोजनो वा नियमः-धर्मनियमः। – *महाभाष्य*, पस्पशा॰

से मिल जाए, फिर भी व्याकरणशास्त्र यह आदेश देता है कि केवल साधु शब्द से ही अर्थ प्राप्त करना उचित है, क्योंकि वही कल्याणकारी होता है।[71]

वाक्यपदीयम् में भी शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध की नित्यता के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है –

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥[72]

शब्दों के ज्ञान अथवा प्रयोग में धर्म

"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः, सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति"[73] – यह श्रुति मनोरथपूर्ति का बोध कराती है। परन्तु समस्या यह है कि किसी शब्द के योग्य प्रयोग से उसके सम्यक् ज्ञान की प्रतीति होती है और सुप्रयोग स्वयं सम्यक् ज्ञान पर आधारित होता है। ऐसे में प्रश्न उठता है – धर्म का आधार ज्ञान है, प्रयोग है अथवा दोनों हैं?

यदि केवल ज्ञान को ही धर्मप्राप्ति का साधन माना जाए, तो यही तर्क अधर्म के लिए भी लागू होगा।[74] क्योंकि जिस प्रकार उत्तम शब्दों का ज्ञान धर्मप्राप्ति कराता है, उसी प्रकार अपशब्दों का ज्ञान अधर्म की ओर भी ले जा सकता है। वास्तव में अधर्म अधिक प्राप्त होता है क्योंकि अपशब्दों की संख्या अधिक है। इसके अतिरिक्त वैदिक आख्यान[75] भी यही प्रमाणित करते हैं कि प्रयोग ही धर्म अथवा अधर्म का जनक होता है केवल ज्ञान नहीं। अतः प्रयोग में धर्मप्राप्ति माननी चाहिए। यदि शब्दों के प्रयोग में ही धर्मप्राप्ति मानी जाती, तो व्याकरणादि अध्ययन और ज्ञान के बिना भी जो व्यक्ति (संस्कृत) शब्दों का प्रयोग करेगा उसे भी धर्म की प्राप्ति होगी।[76] अतः व्याकरण अध्ययन का परिश्रम व्यर्थ होने लगेगा। अतः धर्म का जनक केवल प्रयोग को ही नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार अन्य वैदिक अनुष्ठानों में ज्ञानपूर्वक प्रयोग ही धर्म का जनक होता है।[77] अथवा वैदिक शब्द (मन्त्र) नियमपूर्वक पढ़े जाने पर ही धर्मादिफल के जनक होते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी यह समझना उचित है कि व्याकरण के अनुसार ज्ञानपूर्वक किया गया शब्द प्रयोग ही धर्म का कारण बनता है। इसलिए यह स्वीकार करना तर्कसङ्गत है कि धर्म की प्राप्ति का कारण केवल सम्यक् ज्ञान ही है। अपशब्द का ज्ञान अधर्म का जनक होता है। अतः शब्द से जिसका विधान या निषेध नहीं किया जाता वह धर्म या अधर्म किसी का जनक नहीं माना जाता।[78] अपशब्दों का ज्ञान, यद्यपि अनिवार्य है।[79] अतः वह दोषाधायक नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार कुआँ खोदने वाला व्यक्ति कुआँ खोदते समय धूल कीचड़ आदि से लिप्त हो जाता है, परन्तु बाद में उसी कुएँ से निकलने वाले जल से अपने शरीर को स्वच्छ कर

---

71 एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देनापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति। – *महाभाष्य*, पस्पशा०

72 *वाक्यपदीयम्* 1.23

73 एकः पूर्वपरयोः – *पा० सू०* 6.1.84 *व्या० महाभाष्य*

74 ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः । –*का० वा०* 6; *महाभाष्य*, पस्पशा०

75 आचारे नियमः। –*का० वा०* 7; *महाभाष्य*, पस्पशा०

76 प्रयोगे सर्वलोकस्य । – *का० वा०* 8; *महाभाष्य*, पस्पशा०

77 शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन। – *का० वा०* 9; *महाभाष्य* पस्पशा०

78 यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धम्, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। – *महाभाष्य*, पस्पशा०

79 अभ्युपायो वाऽपशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। – *का० वा०*, *महाभाष्य*, पस्पशा०

उस मलिनता को दूर कर लेता है, पवित्र (स्वच्छ) हो जाता है।[80] उसी प्रकार साधु शब्दों के ज्ञान से प्राप्त धर्म, अपशब्द ज्ञान से उत्पन्न सम्भावित अधर्म का क्षय कर देता है। वैदिक प्रयोग का विधि-निषेध यज्ञकर्म के विशेष सन्दर्भ में लागू होता है।[81] और वहीं पर अपशब्द का प्रयोग करना अधर्म का जनक होता है। सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त अपशब्द यदि अर्थ को स्पष्ट करते हैं, तो वे अधर्मजनक नहीं कहे जा सकते। यही कारण है कि असुर, यज्ञ में अनुचित (अशुद्ध) उच्चारण के कारण असफल (पराजित) हुए थे।[82]

अतः निष्कर्ष यह है कि शब्द का सम्यक् ज्ञान ही धर्म एवं ब्रह्मप्राप्ति का मूल कारण है।

उपसंहार

प्रणव ही सभी शब्दों एवं अर्थों की प्रकृति है और वह वेद है। तथा शब्दराशि वेद ही ब्रह्म है। शब्दानुशासन में लौकिक और वैदिक उभयविध शब्दों का अनुशासन किया गया है। लोक में शब्द और अर्थ का अभेद रूप से ही व्यवहार दृष्टिगोचर होता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शब्द को केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं अपितु एक दिव्य सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदाङ्गों में व्याकरणशास्त्र को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो न केवल भाषिक शुद्धता का मार्गदर्शक है अपितु शब्दब्रह्म की अनुभूति का साधन भी है। "शब्द एव ब्रह्म" – इस वैदिक दृष्टिकोण में शब्द को ब्रह्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यही कारण है कि मोक्ष की आकाङ्क्षा रखने वाले साधकों के लिए शब्दशास्त्र एक सहज और सुलभ साधना का मार्ग बन जाता है।

सम्पूर्ण सृष्टि शब्दमय है और वाक्-शक्ति के प्रभाव से ही सम्पूर्ण जगत् गतिशील है। शास्त्रों में ब्रह्म के रूप में शब्द को प्रतिपादित किया गया है।

प्रस्तुत लेख में शब्द के स्वरूप पर गहन वैचारिक विमर्श प्रस्तुत किया गया है, जिसमें वैदिक, लौकिक और सामाजिक दृष्टि से शब्द की सत्ता का मूल्याङ्कन किया गया है। शब्द को अग्नि, वायु, प्राण, नाद, श्रुति, स्वर, वर्ण, स्फोट तथा ब्रह्म के विभिन्न रूपों में देखा गया है। इसमें इस विषय पर भी विमर्श किया गया है कि शब्द का प्राकट्य कैसे हुआ, उसका स्वरूप क्या है? तथा उसके विभेद और उत्कर्ष का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। शब्द का सम्यक् ज्ञान ही धर्मप्राप्ति और ब्रह्मप्राप्ति का मूल कारण है। इसमें केवल भाषिक चिन्तन न होकर शब्द के आध्यात्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक पक्षों का भी सम्यक् विश्लेषण किया गया है, तथा पाठकों को शब्द की सूक्ष्मतम गहराईयों तक ले जाने का लघु प्रयास किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अग्नि पुराण, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 2019.

अथर्ववेद संहिता, सम्पादक शंकर पाण्डुरंग पण्डित, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2021.

अमरकोषः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2016.

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः, पाणिनीयशिक्षा-लिङ्गानुशासनसहित, श्रीनारायण मिश्र, चौखाम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली.

---

[80] कूपखानकवदेतद् भविष्यति। – *महाभाष्य*, पस्पशा० (लोकोक्ति)

[81] याज्ञे कर्मणि स नियमः, अन्यत्रानियमः। – *महाभाष्य*, पस्पशा०

[82] दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।। – *महाभाष्य* 1.1.1, (पस्पशा०)

ईशादि नौ उपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2075.

उपनिषत्संग्रहः, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, 2017.

उपनिषत्सञ्चयनम् (योगकुण्डल्युपनिषद्), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2021.

उपनिषदां समुच्चयः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलीः, पुणे, 2022.

ऋग्वेद संहिता (मूलमात्र), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 2019.

ऐतरेयारण्यक, श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेतम्, आनन्दाश्रम, पुणे, ख्रिस्ताब्द 1898.

काव्यादर्श, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2019.

चाणक्यनीतिः (शाखासम्प्रदायः), विश्वेश्वरानन्द-संस्थानम्, होशियारपुर, 1967.

छान्दोग्योपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2013.

ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्, जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस, 1936.

तैत्तिरीय उपनिषद् (ईशादि नौ उपनिषद्), शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2075.

तैत्तिरीयब्राह्मणम् (कृष्णयजुर्वेद), सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम संस्था, पुणे, 2008.

निरुक्तम् /निघण्टुः, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2016.

परमलघुमञ्जूषा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2004.

पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्, भाष्यप्रदीपेन समुल्लसितम्, नवाह्निकरूपः प्रथमखण्डः, श्रीभार्गव शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1987.

पाणिनीयशिक्षा, अर्चना व्याख्यासम्वलिता, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2022.

बृहदारण्यकोपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2058.

महाभारत, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पुणे, 1954.

माण्डूक्य उपनिषद्, शाङ्करभाष्यसमेता (सहित), आनन्दाश्रम, पुणे, ख्रिस्ताब्द 1984.

योगसूत्र, तत्त्ववैशारदीयोगवार्तिकव्यासभाष्यसमेतम्, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 6, 2021.

वाक्यपदीयम्, परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2013.

व्याकरणमहाभाष्यम्, प्रकाशव्याख्यानोपेतम् पस्पशाह्निकम्, डॉ० जयशङ्करलाल त्रिपाठी, ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1979.

शतपथब्राह्मणम्, एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, कलकत्ता, 1903-11.

शुक्लयजुर्वेद, माध्यन्दिनीयसंहिता, पं० वेणीराम शर्मा गौड़, चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 2021.

श्रीमद्भगवद्गीता, श्लोकार्थसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2080.

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्, अन्वितार्थ प्रकाशिकाख्यव्याख्या सहित, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1987/2005.

आधुनिक सन्दर्भ में वैदिक यज्ञों की प्रासङ्गिकता

*विश्वनाथ माहात**

शोधपत्र सार : भारतीय संस्कृति और सभ्यता का मूल आधार "यज्ञ" है। प्राचीन वैदिक काल से मानव और यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध चला आ रहा है। वैदिक साहित्य एवं उसके परवर्ती ग्रन्थों में यज्ञों की विधियों एवं लाभों का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। वैदिक वाङ्मय में यज्ञ को "श्रेष्ठतम कर्म"[1] कहा गया है। अतः यज्ञ केवल एक धार्मिक कर्मकाण्ड या अग्नि में आहुति देने की प्रक्रिया मात्र नहीं है, अपितु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ और महत्त्व अत्यन्त व्यापक है। वर्तमान समय में जब विश्व पर्यावरण प्रदूषण, मानसिक तनाव, महामारियों और सामाजिक विखण्डन जैसी गम्भीर समस्याओं से जूझ रहा है, तब वैदिक यज्ञ की वैज्ञानिकता और दार्शनिक प्रासङ्गिकता पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। यह शोधपत्र यज्ञों में व्यवहृत समिधा के साथ यज्ञ की वैज्ञानिकता क्या है, यज्ञ में किस रूप से विज्ञान समाहित है? यज्ञ मानव जीवन के लिए उपादेय कैसे हैं ? इन विषयों को दृष्टिगत कर एक सूक्ष्म अनुशीलन करने का प्रयास इस शोधपत्र में किया गया है। यज्ञ को केवल एक पूजा-विधि न मानकर, उसे एक "पर्यावरणीय एवं चिकित्सा विज्ञान" के रूप में स्थापित किया गया है। कुछ स्थानों पर पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करने के लिए आङ्ग्ल भाषा (English) के वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

कूटशब्द : यज्ञ, परमाणु, मानव, जीवाणु, शक्ति, तत्त्वदर्शन, हवन, अग्निहोत्र, पर्यावरण, समिधा, कुण्ड, विश्वभ्रातृत्व।

भूमिका

यज्ञ सम्पूर्ण विश्व के लिए एक अद्भुत वरदान है। **"स्वर्गकामो यजेत"** अर्थात् इस जीवन में यदि हमें स्वर्ग अर्थात् सुख-शान्ति विशेष की वाञ्छा है तो हमें यज्ञ को अपनाना होगा। अतः स्वर्ग-प्राप्ति का साधन एकमात्र यज्ञ है। वैदिक आचार संहिता के प्रतिष्ठापक महर्षि मनु के अनुसार उन अनन्त यज्ञों (अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ (अथिति यज्ञ)) में से प्रत्येक यज्ञ गृहस्थ द्वारा अवश्य करणीय हैं।[2] जो शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक उन्नति का सम्पूर्ण साधन है। मन्त्रों में निहित ध्वनि ब्रह्माण्डीय ऊर्जा को यज्ञ की सहायता से सक्रिय और विस्तारित करती है। *यजुर्वेद* में वैश्विक कल्याण के लिए आध्यात्मिक और वैज्ञानिक प्रयोगों के रूप में यज्ञ करने के सिद्धान्त वर्णित हैं और आध्यात्मिक स्तरों पर रुग्ण मानवों के उपचार के लिए मन्त्रों की ध्वनि चिकित्सा पहलुओं पर भी विचार हुआ है। *सामवेद* के मन्त्रों का सङ्गीतमय पाठ करने से अधिक ध्यान केन्द्रित होता है, जिसे ध्वनि की सर्वव्यापी सूक्ष्म ऊर्जा के ब्रह्माण्डीय विकिरण के माध्यम से आन्तरिक भावनाओं की सतह पर मानसिक आहुति की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया गया है। ऋषियों ने यज्ञ को इस विश्व की सृष्टि का आधारबिन्दु कहा है – **"अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः"** ।[3]

परमेश्वर प्रजापति ने भी इस संसार को यज्ञ से ही उत्पन्न किया है। यज्ञ वाञ्छित फलों की पूर्ति का साधन और मुक्ति

---

* शोध सहायक, अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान, गुरुग्राम। <*e-mail*: biswanath.mahata14@gmail.com>

[1] यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म – *शतपथब्राह्मण* 1.7.1.5

[2] पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः। स गृहेऽपि वसिन्नत्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। – *मनुस्मृति* 3.71

[3] *अथर्ववेद* 9.15.14 (अथर्ववेद - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ एवं श्रीराम शर्मा आचार्य।)

का भी एकमात्र साधन है। इसका स्पष्टीकरण *श्रीमद्भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं किया है यथा –

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥[4]

कहा गया है कि यज्ञ से ही इस सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है। इसका वर्णन "पुरुष सूक्त" के चौदहवें मन्त्र में प्राप्त होता है –

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः ॥[5]

अर्थात् परमात्मा जब सृष्टि का प्रारम्भ करता है तभी ऋतुचक्र भी प्रारम्भ हो जाता है। ये पूरी सृष्टि यज्ञ-रूपी कुण्ड के समान होती है। जिसमें वसन्त ऋतु घृत, ग्रीष्म ऋतु लकड़ी (समिधा) और शीत ऋतु हवन सामग्री के रूप में प्रस्तुत होती है। शरद् और ग्रीष्म ऋतु से विविध प्रकार की वायु उत्पन्न होती है और उनकी गतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अतः यज्ञ मानव के लिए इस दृष्टि से समस्त ऋतुओं को, समस्त वातावरण व प्रकृति को अपने अनुरूप बना लेने की एक श्रेष्ठतम प्रक्रिया है।

यज्ञ की परिभाषा

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का प्रारम्भ ही "यज्ञ" के विवरण के साथ किया गया है।[6] अन्य वेदों और वेद शाखाओं में भी स्थान-स्थान पर यज्ञों का वर्णन किया गया है। अतः यज्ञ एक विद्या, कला, अनन्त ज्ञान का भण्डार, अनन्त विद्याओं का आगार है। यज्ञ एक व्यापक शब्द है। यह यज्ञ शब्द *ऋग्वेद* में 580 बार, *यजुर्वेद* में 243 बार, *सामवेद* में 63 बार एवं *अथर्ववेद* में 298 बार अर्थात् कुल मिलाकर चारों वेदों में यज्ञ शब्द 1,184 बार आया है।[7] *निघण्टु* के अनुसार यज्ञ को विभिन्न नामों से जाना जाता है यथा – वेन, अध्वर, मेध, विदथ, अग्निहोत्र, देवता, मख, विष्णु, इन्दु, धर्म आदि प्रमुख हैं।

"यज्ञ" शब्द "यज्" धातु के साथ "नङ्" प्रत्यय जोड़कर बना है। इस "यज्" धातु के तीन अर्थ हैं – (1) देव-पूजा, (2) संङ्गतिकरण, (3) दान। देव-पूजा का अर्थ है परिष्कृत व्यक्तित्व, दैवी सद्गुण। सङ्गतिकरण या संगठन अर्थात् एकता, सहकारिता, सम्बद्धता। मिलजुलकर संगठित हो जाना। जैसे यज्ञ में घी और हवन आदि सामग्री के सभी पदार्थ मिलजुलकर संगठित हो जाते हैं और यज्ञ कुण्ड में भस्म होकर वायुमण्डल को शुद्ध करते हैं। ऐसे ही यज्ञ वेदी में पति–पत्नी, पुत्र–पुत्री, बन्धु–बान्धव सब मिलकर यज्ञ करने के लिए एकसाथ संगठित होते हैं और आपस में एक-दूसरे का सहयोग करने की भावना को बढ़ाते हैं, यही है सङ्गतिकरण। तीसरा अर्थ दान अर्थात् समाजपरायणता विश्व कौटुम्बिकता, उदारता, सहायता। यजमान यज्ञ करते समय घी तथा हवन सामग्री का दान करके देवता बन जाता है, क्योंकि जो देता है वह देवता है, इसलिए यजमान देवता बन जाता है, यही है दान का अर्थ। इन तीनों प्रवृत्तियों से व्यक्ति को समाज में उत्कर्ष मिलता है।

यज्ञ में व्यवहृत द्रव्य का वैज्ञानिक पर्यालोचन

यज्ञ में प्रयुक्त की जाने वाली समिधा, हवन सामग्री शरीर और वातावरण दोनों को परिपुष्ट करती है। यज्ञ में प्रयोग होने वाली वस्तु चाहे वह यज्ञवेदी हो, यज्ञकुण्ड, यज्ञपात्र, यज्ञ समिधाएं हों, यज्ञ की सभी सामग्री के अन्दर विज्ञान है। यज्ञ में

---

[4] *श्रीमद्भगवद्गीता* 3.10

[5] *ऋग्वेद, पुरुषसूक्त* 10.90.6

[6] अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ऋग्वेद १.१.१

[7] डॉ॰ जगदीशप्रसाद सम्पादित *यज्ञ और विज्ञान*, पृ॰ 8, वैदिक प्रकाशन, मेरठ, 1997.

प्रयुक्त की जाने वाली लकड़ी को वेदी या अग्निकुण्ड के आकार के अनुसार अलग-अलग लम्बाई की छोटी-छोटी लकड़ियों में काटा जाता है, जिन्हें समिधा कहा जाता है। यज्ञ में प्रज्वलित अग्नि के लिए प्रत्येक लकड़ियों से समिधा नहीं बनाई जा सकती। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ के लिए आम, पीपल, चन्दन, तगर, पलाश, शमी, बड़, गूलर, बिल्व, बट आदि की समिधाओं का विधान किया है। इसमें भी चन्दन, पलाश, बेल, अगर और आम की लकड़ी उत्तम मानी गई है। पाश्चात्य देशों में शाहबलूत, बादाम, लैवेण्डर की लकड़ी भी समिधा के रूप में प्रयुक्त होती है। हमें इस बात पर बल देना चाहिए कि अग्निहोत्र में आहुतियों के रूप में डाली गई सामग्री को केवल जलाना नहीं है बल्कि उन्हें वाष्पीकृत करना है, अर्थात् उन्हें केवल उस सीमा तक गर्म करना है, जिससे वे वायु की गुणवत्ता में परिवर्तन करें। हवन में उपयोग की जाने वाली मुख्य लकड़ियाँ निम्नलिखित हैं –

यज्ञ में उपयोग की जाने वाली अनुशंसित लकड़ियाँ

स्थानीय नाम (Vernacular Name)	वानस्पतिक नाम (Botanical Name)	परिवार (Family)
1. आम (Mango)	मैङ्गिफेरा इण्डिका (*Mangifera indica*)	एनाकार्डिएसी (Anacardiaceae)
2. पीपल (Pīpal)	फाइकस रिलिजिओसा (*Ficus religiosa*)	मोरेसी (Moraceae)
3. चन्दन (Sandalwood)	सैण्टालम एल्बम (*Santalum album*)	सन्तालेसी (Santalaceae)
4. तगर (Tagar wood)	वेलेरियाना वॉल्ची (*Valeriana wallchii*)	वेलेरियानेसी (Valerianaceae)
5. ढाक या पलाश (Ḍhāka or Palāśa)	ब्यूटिया फ्रोण्डोसा (*Butea Frondosa*)	फैबेसी या लेग्यूमिनोसी (Fabaceae or Leguminosae)
6. बेल (Bilva)	एगल मार्मेलोस (*Aegle Marmelos*)	रूटासी (Rutaceae)
7. गूलर (Gūlar (wild fig))	फिकस ग्लोमेरेटा (*Ficus Glomerata*)	मोरेसी (Moraceae)
8. अगर/औध या गहरू (Agarwood)	एक्विलरिया मैलाकेंसिस (*Aquilaria Malaccensis*)	थाइमेलियासी (Thymelaeaceae)
9. शमी (Śamī)	प्रोपोसिस सिनेरिया (*Proposis cineraria*)	फैबेसी या लेग्यूमिनोसी (Fabaceae or Leguminosae)
10. देवदार (Deodār (Cedar))	सेड्रस लिबानी (*Cedrys Libani*)	पिनेसी (Pinaceae)
11. बट/बरगद (Bargad (Banyan))	फिकस बङ्गालेन्सिस (*Ficus bengalensis*)	मोरेसी (Moraceae)
12. बेर (Ber)	जिजिफस मॉरिटियाना (*Ziziphus Mauritiana*)	राम्नेसी (Rhamnaceae)

अग्निहोत्र द्वारा इन समिधाओं की गुणवत्ता (quality) एवं प्रभाव (effect) में अधिक वृद्धि हो जाती है। यज्ञ की समिधाओं में आम, पीपल, चन्दन, तगर, पलाश, वट, गूलर, चन्दन, देवदारु, शाल, खैर, काकप्रिय, बड़, पिलखन, पीतदारु,

शमी, बिल्व आदि को उत्तम माना गया है। इसकी संक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित है –

आम (Mango) – आम के वृक्ष का वैज्ञानिक नाम मैङ्गिफेरा इण्डिका (Mangifera Indica) है। आम की लकड़ी जलाने से जीवाणुरोधी फ़ॉर्मिक एल्डिहाइड (CH_2O) नामक गैस निकलती है, जिससे वातावरण शुद्ध होता है। नकारात्मक ऊर्जा दूर होती है, और मानसिक शान्ति मिलती है। इसमें पेण्टागैलोयल ग्लूकोज (PGG), पॉलीफेनोलिक्स (Polyphenolics), फ्लेवोनोइड्स (Flavonoids) आदि सक्रिय उपादान रहते हैं जो हमारे मानव शरीर पर GABA (Gamma-Aminobutyric Acid) स्तर की वृद्धि करते हैं।[8]

पीपल (Pipal) – पीपल एक औषधि वृक्ष है, इस पेड़ का वैज्ञानिक नाम *फाइकस रिलिजिओसा* (*Ficus religiosa)* है। इसका उपयोग डायबिटीज (diabetes) और हाई यूरिक एसिड (uric acid) जैसी गम्भीर बीमारियों को नियन्त्रित करने में किया जा सकता है। पीपल की पुरानी, सूखी लकड़ी से बने गिलास में रखा पानी पीने से व्यक्ति मेधावी होता है। इससे उबालकर ठण्डा किया गया पानी भी शारीरिक गर्मी और पित्त से सम्बन्धित बीमारियों में लाभकारी होता है। इसके बीजों का चूर्ण श्वास रोग में लाभ दायक है।[9]

चन्दन (Sandal) – चन्दन देखने में ऊपर से सफेद, गाँठदार, काटने में लाल, पीसने में पीला तथा स्वाद में कड़वा होता है। चन्दन का वैज्ञानिक नाम *सैण्टालम एल्बम (Santalum album)* है। चन्दन की लकड़ी में सैण्डलॉल (sandalol) जैसे सुगन्धित यौगिक होते हैं। जब लकड़ी जलती है, तो इन यौगिकों से भरी भाप हवा में फैल जाती है, जिससे हमें चन्दन की खास, मधुर और मनमोहक खुशबू महसूस होती है। यह यौगिक शरीर के लिए कफ़, तृषा, पित्त, रुधिर विकार और दाहनाशक में काम करता है। ट्राइसाइक्लिक α-सैण्टालॉल (Tricyclic α-santalol) और बाइसाइक्लिक β-सैंटालॉल (β-santalol) चन्दन के तेल में पाए जाने वाले दो मुख्य सेस्क्यूटरपीन एल्कोहल होते हैं जो त्वचा के लिए, अनिन्द्रा जनित समस्या एवं इत्र में उपयोग होते हैं। सफेद चन्दन का तेल सुजाक (आतशक) में लाभदायक है। चन्दन की लकड़ी के बने सन्दूकों में रखी हुई वस्तुओं में कीट या दीमक नहीं लगता। यज्ञ में प्रायः इसका चूर्ण ही डाला जाता है।

तगर (Tagar Wood) – तगर अनिद्रा और साइकोलॉजिकल स्ट्रेस को ठीक करने के लिए प्राचीन काल से प्रयोग किया जाता रहा है। इसमें पाया जाने वाला वेलेरियन (valerian) एक सक्रिय उपादान है, जो माँसपेशियों की ऐंठन (antispasmodic), पीड़ा आदि का शमन (sedative), मिर्गी रोधी (anticonvulsant) औषधियों के रूप में काम करता है।[10] तगर का वैज्ञानिक नाम *वेलेरियाना वलिची (Valeriana wallchii)* है।

ढ़ाक या पलाश (Ḍhāka or Palāśa) – पलाश जलने में सरल होती है। महर्षि चरक के अनुसार उपनयन विधि के समय पलाश की लकड़ियों से हवन करने का विधान है और पलाश पत्रों की चम्मच में घी भरकर आहुतियाँ दी जाती हैं।

---

[8] GABA (Gamma-Aminobutyric Acid) working in the brain and nervous system to reduce neuronal excitability and create a calming effect by inhibiting nerve cell activity. – https://en.wikipedia.org/wiki/GABA

[9] Rutuja Sonawane, Utkarsha Shivsharan, A. Shruti, 2023, *Ficus Religiosa (Peepal): A Phytochemical and Pharmacological Review*.

[10] https://www.astromantra.com/tagar–wood–benefits/?srsltid=AfmBOorjf57auMbf2sCepwpBA0BnEaQ_uAjwprg_HR5yzgyTOB–bRWqD

वृक्षायुर्वेदः ग्रन्थ में वैद्य विद्यावरेण्य सुरपाल ने कहा है –

पलाशशाखिनः सप्त रोपयेदेकमेव वा।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति मोदते(पूज्यते?) चामरैः सह(चामरोत्तमः) ॥[11]

अर्थात् जो पलाश या केसूला के सात पेड़ों को रोपता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और वहाँ देवताओं के साथ प्रसन्नता से रहता है।

पलाश के बीजों को शहद में मिलाकर आँत के कीड़े निकालने की औषधि बनाई जाती है। इसके पत्ते फोड़े-फुंसियों को नष्ट करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार पलाश के बीज में बहुत सक्रिय पदार्थ रहते हैं यथा – फाइटोस्टेरोलिन (phytosterolin), β-सिटोस्टेरॉल (β-sitosterol) और इसके ग्लाइकोसाइड (glycoside), एल्ब्यूमिनॉइड्स (albuminoids), कार्बोहाइड्रेट (carbohydrate), वसायुक्त पदार्थ (fatty matter), रङ्ग पदार्थ (colouring matter), काउच (caoutchoue) 0.7–5.1 प्रतिशत आदि होते हैं।[12]

बेल (Bilva) – ऋग्वेदोक्त श्रीसूक्त में लक्ष्मी से ही बिल्व की उत्पत्ति बताई गई है यथा – **"वनस्पतिस्तववृक्षोऽथ बिल्व।"**[13] *वामन पुराण* में बिल्व में लक्ष्मी का निवास कहा गया है।[14] वैद्याचार्य सुश्रुत के अनुसार बिल्वफल कच्चा ही अधिक गुणयुक्त होता है, इसको पाचकाग्नि व बल का वर्द्धक, पित्त व वात का नाशक कहा गया है।[15] पका हुआ बेल स्वाद में मधुर होता है। पचने में भारी, विदाहजनक, विष्टम्भकारक, दोषजनक तथा दुर्गन्धित वायु उत्पन्न करता है। हवन के समय बेल की लकड़ी से वायुमण्डल में औषधीय गुण उत्पन्न होते हैं, जो कई रोगों जैसे सांस-सम्बन्धी और पाचन-सम्बन्धी समस्याओं से मुक्ति दिलाते हैं।

गूलर (Gūlara/Wild Fig) – मोरेसी (Moraceae) प्रजाति के अन्तर्गत गूलर एक औषधीय पेड़ है। यह एण्टी-डायबिटिक, एण्टी-बैक्टीरियल और एण्टी-इंफ्लेमेटरी जैसे कई गुणों से भरपूर है, जिससे कफ़, पित्त, रक्त विकार ठीक रहता है। हड्डी को जोड़ने में तथा वर्ण (रङ्ग) को उत्तम करने लिए गूलर अत्यन्त उपयोगी है।

अगरवुड/औध या गहरू (Agarwood) – अगरवुड या गहरू एक सुगन्धित रालयुक्त लकड़ी है। धूप, इत्र और औषधियों में इसका उपयोग विशिष्ट सुगन्ध के लिए किया जाता है। अगरवुड को औध या गहरू के नाम से जाना जाता है। थाइमेलियासी (Thymelaeaceae) परिवार के अन्तर्गत इस पेड़ का व्यावसायिक मूल्य बहुत अधिक है। इसका वैज्ञानिक नाम *एक्विलरिया मैलाकेंसिस (Aquilaria malaccensis)* है। अगरवुड को जलाने से धुआँ या पाउडर विभिन्न फङ्गल (controlling various fungal pathogens) रोगजनकों को नियन्त्रित करने में सक्षम है। विश्व स्तर पर इसे औषधीय गुणों के लिए जाना जाता है। अगरू से कई रासायनिक यौगिकों की पहचान की गई है जैसे क्रोमोन (chromone), टेरपीनोइड्स (terpenoids), फ्लेवोनोइड्स (flavonoids), बेंजोफेनोंस (benzophenones), लिग्नान (lignans), बेंजीनॉइड

---

11 *वृक्षायुर्वेदः*, श्लोक 17

12 Easy Ayurveda Hospital – https://www.easyayurveda.com/2012/12/07/palasha–butea–monosperma–medicinal–qualities–ayurveda–details/

13 श्रीसूक्त 6

14 बिल्वो लक्ष्माः करेऽभवत् – 17.8

15 *सुश्रुत*० सूत्र० 46.208

(benzenoid derivates), फेनोलिक यौगिक (phenolic compounds), ट्राइटरपीन, स्टेरॉयड इत्यादि और वे रोगाणुरोधी, विषाणुरोधी, कैंसररोधी, ट्यूमररोधी, सूजनरोधी, एण्टीऑक्सीडेण्ट, एंजाइम अवरोध, भूख कम करने वाला, अवसादरोधी, मोटापारोधी और अतिसंवेदनशीलतारोधी गुणों से युक्त सम्भावित और उल्लेखनीय औषधीय यौगिकों के रूप में पाए जाते हैं। क्रोमोन और टेरपीनोइड्स (sesquiterpenoids/सेस्क्विटेरपीनोइड्स) रुचि के यौगिक हैं जो सम्भावित रूप से उनकी जैव सक्रियता, औषधीय मूल्य और औषधीय गुणों के लिए जाने जाते हैं।[16]

शमी (Śamī)–

शमी तिक्ता कटुःशीता कषाया रेचनी लघुः ॥
कफकासभ्रमश्बासकुष्ठार्शः कृमिजित् स्मृता ॥[17]

कटु, तिक्त, कड़वा, अनुष्ण, कषाय स्वाद विशिष्ट शमी वृक्ष को शुभ पादप माना जाता है। इस वृक्ष को अंग्रेजी में खेजरी ट्री अथवा समी ट्री कहते हैं और इसका वानस्पतिक नाम *प्रोपोसिस सिनेरिया* (*Proposis cineria*) है। इस पौधे का मुख्य उपयोगी भाग छाल है। इस वृक्ष में शामिल हैं हाइड्रॉक्सीट्रिप्टामाइन (hydroxytryptamine), एपिजेनिन (apigenin), आइसोरहैमनेटिन (isorhamnetin), डाइग्लूकोसाइड (D-glucoside), अरेबिनोज़ (arabinose), क्वेरसेटिन (quercetin), टैनिन और ट्रिप्टामाइन। इसकी लकड़ी की राख में 31 प्रतिशत घुलनशील पोटेशियम लवण की पोटाश के स्रोत के रूप में उपयोग किया जाता है। स्टेम में उर्सोलिक एसिड, कैम्पेस्ट्रल के ग्लाइकोसाइड, स्टिग्मास्टेरॉल, बी-सिटोस्टेरॉल इत्यादि। कफ़, खाँसी, जुक़ाम, अस्थमा, ब्रोंकाइटिस, कुष्ठ रोग, अर्श, अस्थमा और पुरानी श्वसन-सम्बन्धी बीमारियाँ, भ्रम, चक्कर आना, कृमि संक्रमण, रक्तपित्त अर्थात् रक्तस्राव सम्बन्धी विकार जैसे नाक से खून आना, भारी मासिक धर्म आदि में बहुत उपयोगी है।[18]

देवदार (deodāra/cedāra), वट/बरगद (Bargad/Banyan), बेर (Ber) – ये तीनों बहुत उपयोगी होते हैं। देवदार वृक्ष कफ़रोधी, खाँसी और अस्थमा से मुक्ति दिलाने में सहयोग करता है, वट/बरगद का दूध अत्यन्त बलवर्द्धक है। बेर विटामिन और खनिजों से भरपूर होता है, इसलिए इसके फल, पत्र, छाल से पाचन क्षमता वृद्धि, रोगप्रतिरोध क्षमता वृद्धि, अनिद्राजनित रोग में काम करते हैं।

---

[16] H. W. Yuan, J.P. Zhao, Y.B. Liu, Y.X. Qiu, Q.L. Xie, M.J. Li, I.A. Khan, and W. Wang, 2018, “Advance in studies on chemical constituents, pharmacology, and quality control of Aquilaria sinensis”, *Digit. Chin. Med.* 1: 316-30. doi: 10.1016/S2589-3777(19)30057-6.

[17] *भावप्रकाशनिघण्टु* वटादिवर्गः – 73

[18] शमी रूक्षा कषाया च रक्तपित्तातिसारजित् । तत्फलं तु गुरु स्वादु तिक्तोष्णं केशनाशनम् ॥ (धन्वन्तरिनिघण्टुः, आम्रादिवर्गः – 30)

यज्ञ में व्यवहृत हवन सामग्री

यज्ञ से उत्पन्न धूम जीवाणुरोधी भी होती है। हवन में उपयोग की जाने वाली मुख्य हवन सामग्री निम्नलिखित हैं –

स्थानीय नाम (Vernacular name)	*वानस्पतिक नाम (Botanical Name)*	*परिवार (Family)*
जौ (Barley)	होर्डियम वल्गारे (*Hordeum Vulgare*)	ग्रैमिनेई (Gramineae)
तिल (Til/Sesame)	सेसमम इंडिकम (*Sesamum indicum*)	पेडालियोसी (Pedalioceae)
चावल (Rice)	ओरिज़ा सैटिवा लिन (*Oryza sativa Linn*)	ग्रैमिनेई (Gramineae)
मखाना (Makhānā)	यूरियाल फेरोक्स (*Euryale ferox*)	निम्फियासी (Nymphacaceae)
बादाम (Almond)	प्रूनस इओमुनिस (*Prunus eommunis*)	रोजेसी (Rosaceae)
नारियल (Coconut)	कोकोस न्यूसीफेरा (*Cocos nucifera*)	एरेकेसी (Arecaceae)
किशमिश (Kiśamiśa)	विटिस विनिफेरा (*Vitis vinifera*)	विटेसी (Vitaceae)
कपूर (Karpūra) English Camphor	सिनामोमम क्याम्फोरा (*Cinnamomum camphora*)	लॉरेशी (Lauraceae)
लौंग (Lauṅga/Cloves)	सिज़ीगियम एरोमैटिकम (*Syzygium aromaticum*)	मायर्टेसी (Myrtaceae)
तेजपत्र (Teja Patra)	सिनामोमम मैक्रोकार्पम (*Cinnamomum macrocarpum*)	लॉरेशी (Lauraceae)
केसर (Kesara/Saffron)	क्रोकस सैटिवस एल० (*Crocus sativus* L.)	इरिडेसी (Iridaceae)
नागकेसर (NāgaKesara)	मेसुआ फेरेया (*Mesua ferrea*)	कैलोफिलेसी (Calophyllaceae)
जायफल (Jāyaphala)	मिरिस्टिका फ्रैग्रेंस (*Myristica fragranus*)	मिरिस्टिकेसी (Myristicaceae)
देवदार (Devadāra)	सेड्रस देवदार (*Cedrus deodara*)	कोनिफ़ेरालेज़ (Coniferaceae)
अगरु (Agaru)	एक्विलरिया मैलाकेंसिस (*Aquilaria malaccensis*)	थाइमेलियासी (Thymelaeaceae)
इन्द्रायण (Indrāyaṇa)	सिट्रुलस कोलोसिंथिस (*Citrullus colocynthis*)	कुकुर्बिटेसी (Cucurbitaceae)
जटामांसी (Jaṭāmāṁsī)	नार्डोस्टैचिस जटामांसी (*Nardostachys jatamansi*)	हनीसकल (Honeysuckle)
चान्दनी तगर (Cāndanī Tagar)	एर्वाटामिया देवरिकाटा (*Ervatamia Devarricata*)	एपोसिनेसी (Apocynaceae)
पीपल (Pīpal)	फाइकस रिलिजिओसा (Ficus religiosa)	मोरेसी (Moraceae)
पिस्ता (Pistā)	पिस्तासिया वेरा (*Pistacia vera*)	एनाकार्डिएसी (Anacardiaceae)
ताम्बूल (Pān pattā)	ज़ैंथोक्सिलम आर्मेटम (*Zanthoxylum armatum*)	रूटासी (Rutaceae)

अश्वगन्धा (Aśvagandhā)	विथानिया सोम्नीफेरा (*Withania somnifera*)	सोलनेसी (Solonaceae)
नागरमोथा (Nägaramothä)	साइपरस स्कारियोसस (*Cyperus scariosus*)	साइपरेसी (Cyperaceae)
कुलञ्जन (Kulañjana)	अल्पिनिया गैलांगा (*Alpinia galanga*)	जिंजिबर्सी (Zingiberceae)
शक्कर (Śakkara)	सुक्रोज (*Sucrose*)	–
तुलसी (Tulsī)	ओसीमम टेनुइफ़्लोरम (*Ocimum tenui florum*)	लैमिएसी (Lamiaceac)

अन्यान्य – दूध, केला, सेब, नाशपाती, नारियल तेल आदि।

हवन सामग्री के विभिन्न सक्रिय उपादान एवं उसका वाष्पीकृत घटकों से मानव शरीर पर प्रभाव –

स्थानीय नाम (Vernacular Name)	*सक्रिय उपादान (Active Component)*	*मानव शरीर पर प्रभाव (Effects on Human body)*
केसर	क्रोसेटिन (Crocetin)	उच्च रक्तचापरोधी, कफ़रोधी, एण्टीऑक्सीडेण्ट, अवसादरोधी
नागरमोथा	साइपेरोन (Cyperone)	सूजनरोधी, ज्वरनाशक (anti-inflammatory, anti-pyretic)
किशमिश	कार्बोहाइड्रेट, प्राकृतिक शर्करा, फाइबर, और कई विटामिन और खनिज (जैसे पोटैशियम, आयरन, और मैग्नीशियम)	पाचन सुधार, ऊर्जा बढ़ाना, एनीमिया से बचाव, हड्डियों को मजबूत बनाना
कपूर	मेन्थॉल, थाइमोल, सैलिसिलिक एसिड, फिनोल, कैम्फेरोल, बोर्नियोल और पाइनीन	फेफड़ों, मस्तिष्क के स्नायु पर
नारियल	मीडियम-चेन ट्राइग्लिसराइड्स (MCTs), एंजाइम, शर्करा और विटामिन होते हैं।	सेरोटोनिन के स्तर को बढ़ाता है (increase serotonin level), वजन घटाने में सहयोग करना, त्वचा और बालों को स्वस्थ रखना, हड्डियों और मांसपेशियों को मजबूत बनाना
तुलसी	यूजेनॉल (Eugenol), कैम्फीन (Camphene), लिनालूल (Linalool),	फेफड़े और मस्तिष्क पर ।
अश्वगन्धा	विथानोलाइड्स (विथानोलाइड्स) और एल्कलॉइड (एल्कलॉइड)	हार्मोन सन्तुलन, इम्यूनिटी बूस्टर, हार्ट, पर तथा मस्तिष्क पर।
तिल	सेसमिन, सेसमोलिन, टोकोफेरोल, फाइटोस्टेरॉल और फेनोलिक यौगिक	एण्टीऑक्सीडेण्ट, antioxidant, antimicrobial, anti–inflammatory, कैंसररोधी

बादाम	फैटी एसिड (मुख्यरूप से मोनोअनसैचुरेटेड औरपॉलीअनसैचुरेटेड), विटामिन ई (टोकोफेरॉल), प्रोटीन, फाइबर, और विभिन्न प्रकार के खनिज और फेनोलिक यौगिक शामिल हैं।	ब्लड शुगर सन्तुलन, बाल (विटामिन ई), हड्डियों (कैल्शियम, फास्फोरस और मैग्नीशियम), पाचन में सहयोग करता है। तन्त्र (फाइबर उपस्थिति), मस्तिष्क (विटामिन ई, ओमेगा-3 फैटी एसिड)

लौंग, तेजपत्र, जायफल, नागकेसर, पिस्ता, ताम्बूल, कुलङ्गन, दूध, केला, सेब, नाशपाती, नारियल तेल आदि हवन सामग्रियों में उपस्थित यूजेनॉल, गैलिक एसिड, फ्लेवोनोइड्स, हाइड्रॉक्सीबेंज़ोइक एसिड, यूकेलिप्टोल, टेरपिनिल एसीटेट, मिथाइल यूजेनॉल, लिनालूल, प्रोटीन, फाइबर, विटामिन आदि यौगिक पदार्थ मानव शरीर में विभिन्न अङ्गों यथा त्वचा, स्नायु, मस्तिष्क तथा पञ्चेन्द्रिय से सम्बन्धित दुःसाध्य व्याधियों को दूर करने की क्षमता रखते हैं।

हवन सामग्री को अग्नि में जलाने से उसके गुण वायु में व्याप्त हो जाते हैं, जिससे वह अधिक शक्तिशाली औषध बन जाती है। जिस प्रकार एलोपेथी, आयुर्वेद और होम्योपैथी चिकित्सा प्रणालियों में औषधियों को सूक्ष्म रूप में बदलकर, उन्हें अधिक शक्तिशाली, प्रभावोत्पादक बनाया जाता है, उसी प्रकार हवन द्वारा, विभिन्न औषधीय पदार्थों को यज्ञ की अग्नि में डालकर, उन पदार्थों को सूक्ष्म रूप में परिणत कर, कई गुना अधिक व्यापक और शक्तिशाली कर दिया जाता है। जब वही वायु श्वसन द्वारा हमारे फेफड़ों में पहुँचती है, तब वह रक्त को शुद्ध करती है और स्वास्थ्य-लाभ पहुंचाती है। इसलिए वैज्ञानिक भी यज्ञ की महत्ता को स्वीकार करने लगे हैं।

यज्ञ में अग्नि की वैज्ञानिकता

आधुनिक विज्ञान और मानव जीवन की दृष्टि से अग्नि बहुमूल्य और आवश्यक पदार्थ है। अग्नि से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा (energy) से संसार के सभी काम चलते हैं। *यजुर्वेद* का कथन है कि विद्वानों ने अग्नि को उपयोगिता की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान दिया है। यथा –

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठः।[19]

ऋग्वेद ने अग्नि को ऊर्जा का सम्राट् कहा है। यथा –

त्वामग्ने मनीषिणः सम्राजम् चर्षणीनाम्।[20]

अथर्वा ऋषि ने सर्वप्रथम अरणि नामक वृक्ष (अग्निमन्था/*agnimanthā*)[21] की लकड़ियों को रगड़कर अग्नि का आविष्कार किया था। *ऋग्वेद* और *यजुर्वेद* में इसका विस्तृत उल्लेख है। *यजुर्वेद* के अनुसार अथर्वा ऋषि ने मन्थन (घर्षण/friction) द्वारा अग्नि उत्पन्न की और यज्ञ में इस अग्नि का प्रयोग सर्वप्रथम अथर्वा के पुत्र दधीचि ऋषि ने किया।[22] *ऋग्वेद* का कथन है

---

19 *यजु०* 3.15

20 *ऋग्वेद* 3.10.1

21 It is found in the Gangetic alley, botanical information of *agnimanthā*: Botanical name is *Clerodendrum phlomidis – Indian Materia Medica,* vol. I, p. 353.

22 अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थद् अग्ने । – *यजु०* 11.32)
तमु त्वा दध्यङ् ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः । – *यजु०* 11.33

कि अरणि नामक वृक्ष की समिधाओं में अग्नि विद्यमान है[23] और यह भी वर्णन मिलता है कि पत्थरों की रगड़ से भी अग्नि उत्पन्न होती है।[24] आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों दृष्टि से अग्नि बहुत महत्त्वपूर्ण है। अग्नि भौतिक और आध्यात्मिक जगत् के बीच सम्बन्ध रखने में सेतु का काम करती है,[25] जिससे ब्रह्माण्डीय व्यवस्था बनी रहती है और व्यक्तिगत विकास होता है। यज्ञ में व्यवहृत घृत व औषधीय समिधाओं से अग्नि पदार्थ की शक्ति को घटाता नहीं अपितु बढ़ाकर वायु के माध्यम से चारों ओर विस्तृत कर देता है। उससे निकलने वाले धुएं के साथ फॉर्मिक एल्डिहाइड गैस निकलती है जो हानिकारक जीवाणुओं को नष्ट करती है, वायुमण्डल में ऑक्सीजन का स्तर बढ़ाती है और मन्त्रोच्चारण से उत्पन्न ध्वनितरङ्ग मस्तिष्क को सन्तुलित करती है। जिससे वातावरण शुद्ध, मन शान्त और चिन्तारहित होता है। यह एक प्राकृतिक और वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

हवनकुण्ड की वैज्ञानिकता

"कुण्ड" शब्द पाणिनीय व्याकरण के अनुसार रक्षणार्थक "कुडि" अथवा मानार्थक "कुण्" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ रक्षा-स्थान, माप-नाप की वस्तु, अभिमुखकारी, दानादि-द्वारा पोषणकर्ता हवन की अग्नि का निवास-स्थान तथा जल का पात्र आदि।[26] इनमें से "हवन की अग्नि का निवास-स्थान" अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। यज्ञ-आरम्भ करने से पूर्व मण्डप-निर्माण होता है। वह कितना लम्बा-चौड़ा होगा, आकृति में कैसा होगा इस पर ध्यान रखा जाता है। ऐसा ही यज्ञ कुण्ड मण्डप का एक अन्योन्याश्रित अङ्ग ही है। इसलिए माप, आकृति पर ध्यान रखते हुए हवनकुण्ड बनाए जाते हैं। लम्बा-चौड़ा, माप-नाप आदि के सम्बन्ध में विद्वानों ने विचार किया है।[27]

हवनकुण्ड का माप, आकृति निर्णय में आध्यात्मिकता और वैज्ञानिकता का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। हवनकुण्ड देखने में नीचे से छोटा एवं ऊपर पहुँचकर बड़े आकार का हो जाता है। वस्तुतः हवनकुण्ड मानव की तरह धीरे-धीरे निम्न से उच्च, क्षुद्र से महान्, अल्प से विशाल, निराश से आशावान और उत्साहपूर्ण बनने की आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करते हैं।

अग्निहोत्र[28] नामक शीर्षक में हवनकुण्ड का वर्णन किया गया है। इनके अनुसार यज्ञकुण्ड मिट्टी या किसी धातु का बनाया जा सकता है। वर्ग-पिरेमिडी छत्रक आकार का ताँबे (copper) का बना हवनकुण्ड सर्वोत्तम माना गया है। पिरेमिड संसार के सप्त आश्चर्यों में से एक है। जिनमें प्राचीन मिश्रीय महापुरुषों के शव (ममीज़) सहस्रों वर्षों तक बिना सड़े-गले सुरक्षित रखें हैं। उनके रहस्य पर अनुसन्धान करके एक पाश्चात्य वैज्ञानिक ने *साइकिक डिस्कवरीज़ बिहाइण्ड आयरन कर्टेन* नामक पुस्तक में पिरेमिड आकार के प्रभावों का सविस्तार वर्णन किया है। उसके अनुसार, इस पिरेमिड के अन्दर विद्युत-चुम्बकीय शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, जो किसी वस्तु को सड़ने-गलने से रोकती हैं। अमेरिका की अन्तरिक्ष अनुसन्धान संस्था (नासा) के वैज्ञानिकों के अनुसार, पिरेमिड-ऊर्जा, सौर-ऊर्जा से कई गुना अधिक क्रान्तिकारी सिद्ध होगी।[29]

---

23 अरण्योर्निहितो जातवेदा। – *ऋग्वेद* 3.29.2

24 यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान। – *ऋग्वेद* 2.12.3

25 अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत् ॥ – *ऋग्वेद* 1.1.5

26 कुण्ड्यते रक्ष्यते जलं यत्र। – *शब्दकल्पद्रुम*

27 शुल्बसूत्र ग्रन्थों में यज्ञकुण्डों के बनाने की वैज्ञानिक विधि दी गई है और ज्यामिति (geometry) की दृष्टि से शुल्बसूत्रों का बहुत वैज्ञानिक महत्त्व है।

28 Sri Mahanubhav Madhavji Potdar Saheb, website- *Agnihotra,* Institute for Studies in Vedic Sciences, Akkalkot, Maharashtra.

29 Tesla Knew the Secret of the Great Pyramid: Unlimited Energy to Power the World. Link – https://youtu.be/XU49FSIx0_g?si=cjdbc4LRYM4tMbRI

परिवेश शुद्धता में यज्ञ का महत्त्व

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यज्ञ पर्यावरण प्रदूषण निराकरण का सर्वोत्तम साधन है। यज्ञ के विषय में कहा गया है कि यह सब अशुद्धियों, दोषों या प्रदूषणों को दूर करके वातावरण को पवित्र बनाता है, अतः इसे यज्ञ कहा जाता है।

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति, यदेष यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी।[30]

समिधा के लिए ऐसे वृक्षों का चयन किया गया है, जो शीघ्र जल जाते हैं और जिससे कार्बन-डाइ-आक्साइड(CO_2) की मात्रा बहुत कम निकलती है, कोयला नहीं बनता, अपितु राख ही बनती है। इनसे धुआँ भी बहुत कम निकलता है। CO_2 कम बनने से मानव शरीर तथा परिवेश पर हानि की सम्भावना नहीं रहती। यज्ञ में घृत का प्रयोग वायु प्रदूषण को दूर करने का उत्तम साधन है।[31] कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, चन्दन, जायफल, इलायची, जावित्री आदि सुगन्धित द्रव्य अग्नि में जलकर सुगन्धित वायु देते हैं और वायुमण्डल को शुद्ध करते हैं। मिष्ट पदार्थ जैसे गुड़, शक्कर, चीनी, किशमिश आदि यज्ञ में जलाने से वायुमण्डल को शुद्ध करने की असाधारण शक्ति प्राप्त होती है।

विज्ञान यह मानता है कि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता, अपितु उसका केवल रूप-परिवर्तन होता है (शक्ति का रूपान्तर)। होम-द्रव्यों को अग्नि में डालने से अग्नि द्वारा उनका विघटन होता है और वे अत्यन्त सूक्ष्म अणुरूप में हो जाते हैं। जिस प्रकार अणुबम अत्यन्त प्रभावशाली होता है, उसी प्रकार ये होम-द्रव्य सूक्ष्मरूप होकर वायुमण्डल को शुद्ध करते हैं। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जो पदार्थ जितना सूक्ष्म होता जाएगा, उतनी ही उसकी शक्ति (potency) बढ़ती जाती है। होम्योपैथी और बायोकेमिक औषधियों में यही पद्धति काम करती है।

यज्ञ में प्रयुक्त थोड़ी सी मात्रा वाले घी, शक्कर और केसर-कस्तूरी आदि से लाखों लोगों को लाभ पहुँचता है। यज्ञ में प्रयुक्त हव्य-पदार्थ अग्नि में पड़कर हल्का हो जाता है और वायु की सहायता से सर्वत्र फैल जाता है। जहाँ तक यज्ञ की सुगन्धित वायु पहुँचती है, वहाँ तक दूषित वायु नष्ट होती है और प्रदूषण का निवारण होता है।

नदी, तालाबों आदि के जल को शुद्ध करने के लिए *ऋग्वेद* और *अथर्ववेद* में यज्ञ को आवश्यक बताया गया है। यज्ञ की वायुशोधक प्रक्रिया से जल भी शुद्ध होता है।[32] विभिन्न रोगों के निवारण के लिए और वायु प्रदूषण निवारण के लिए *गोपथ ब्राह्मण* और *कौषीतकि ब्राह्मण* में भैषज्य यज्ञों का विधान है।[33]

यज्ञ के समय सस्वर मन्त्रपाठ, भजन, कीर्तन, सङ्गीत से होने वाली ध्वनि तरङ्ग शब्द प्रदूषण को बहुत अंश तक नष्ट करती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि वाणी वज्र है, इसका प्रभाव बहुत अधिक है, शब्द ही सभी रोगों और समस्याओं का समाधान है, औषधि है। वाणी या शब्द एक महान् शस्त्र है। इसका सदुपयोग करना चाहिए।[34]

मानसिक क्रिया-कलाप पर यज्ञ का प्रभाव

आधुनिक काल में केवल पर्यावरण प्रदूषण नहीं, अपितु मानसिक व्यापारों का भी प्रदूषण होता है। इससे प्रज्ञापराध अर्थात्

---

[30] *छान्दोग्योपनिषद्* 4.16.1

[31] अन्तर्दावे जुहुता स्वेतद्यातुधानक्षयणं घृतेन। आराद्रक्षांसि प्रति दहत्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि।। – *अथर्ववेद* 6.32.1

[32] सिन्धुभ्यो हव्यं घृतवत् जुहोत – ऋ० 7.47.3 ; सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः – *अथर्व*० 1.4.3

[33] भैषज्ययज्ञा वा एते यत् चातुर्मास्यानि, तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते। – *गोपथ ब्रा*० उत्तर 2.1.19;

[34] वाग् हि वज्रः। – *ऐतरेय ब्राह्मण* 4.1; वाग् उ सर्वं भेषजम्। – *ऐतरेय ब्राह्मण* 7.2.4.28; वाग् हि शस्त्रम्। – *ऐतरेय ब्राह्मण* 3.44

मानसिक निर्बलता, कुविचारों, दुर्व्यसनों में प्रवृत्ति, आत्महत्या जैसे दुर्विचारों की ओर प्रवृत्ति, मानसिक तनाव आदि रोग बढ़ते जा रहे हैं। यज्ञ ही है जो सभी प्रकार के मानसिक और बौद्धिक रोगों को दूर करके शिवसंकल्प, सद्भाव, शान्ति और नीरोगता प्रदान करता है। यह आत्म-शक्ति का विकास और इच्छा-शक्ति को प्रबुद्ध करके मानसिक विकास करता है। *सामवेद* में कहा है "**शर्मभक्षीय दैव्यम्**"[35] अर्थात् यज्ञकर्ता को दिव्य सुख या सौभाग्य मिलता है। मन को शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनाने का मुख्य उपाय यज्ञ ही है इस विषय पर *ऋग्वेद* में वर्णन मिलता है – "**यजामहे सौमनसाय देवान्**।"[36] अर्थात् हे प्रभु! हम मन को सुमन अर्थात् पवित्र और सुन्दर बनाने के लिए प्रतिदिन देवों का यजन करने वाले हों। *अथर्ववेद* में यज्ञ की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है गार्हपत्याग्नि से प्रतिदिन यज्ञ करने वाला एक आदर्श परिवार कहलाता है।[37]

घी एवं हवन सामग्री, मन्त्रोच्चार के साथ प्रज्वलित होने से एथिलिन ऑक्साइड (C_2H_4O), प्रोपिलीन ऑक्साइड (C_3H_6O), फार्मेल्डिहाइड (CH_2O) प्रभृति गैस निकलती है। गोघृत से एसिटिलीन (C_2H_2) निर्माण होता है। यह एसिटिलीन दूषित वायु को अपनी ओर खींचकर उसे शुद्ध करती है तथा यज्ञ से उत्पन्न गैसों में कई रोगों के साथ मन के तनावों को दूर करने की भी अद्भुत क्षमता है।

कृषिक्षेत्र में यज्ञ का प्रभाव

वेदों में कृषि के लिए यज्ञ का बहुत महत्त्व वर्णित है। यज्ञ को विष्णु (परमात्मा) का रूप माना गया है।[38] उसे विश्व का केन्द्र या नाभि कहा गया है।[39] यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण सृष्टिचक्र चल रहा है। यह यज्ञ प्रकृति में स्वाभाविक रूप से हो रहा है। इसमें वसन्त ऋतु घी, ग्रीष्म ऋतु समिधा और शरद ऋतु सामग्री (हवि) का कार्य कर रहा है।[40]

"**यज्ञेन कल्पन्ताम्**" कहते हुए *यजुर्वेद* के अष्टादश (18) अध्याय में वर्णित 1 से 27 मन्त्र तक यज्ञ से होने वाले लाभों का विस्तृत वर्णन है। इसमें कृषि-कार्य से सम्बन्धित निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं। यथा –

1. यज्ञ से अन्न और फल-फूल की वृद्धि।[41]
2. बीज का अङ्कुरित होना और फल धारण करना। हल जोतने से धान्य की उत्पत्ति और अधिक फसल होने में बाधक तत्त्वों का विनाश।[42]
3. यज्ञ द्वारा उत्तम कृषि और वृष्टि का होना।[43]
4. अक्षय अन्न और धान्य आदि की प्राप्ति।[44]
5. यज्ञ से जल और अग्नि की प्राप्ति। उससे कृष्टपच्य (अर्थात् कृषि के द्वारा उत्पन्न धान्य आदि) एवं अकृष्टपच्य (बिना

---

[35] *सामवेद*, उत्तरार्चिक (दैवतब्राह्मण)

[36] *ऋग्वेद* 1.76.2

[37] सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः सायं सौमनस्य दाता। – *अथर्ववेद* 19.55.3-4

[38] यज्ञो व विष्णुः। – *शतपथ ब्राह्मण* 1.1.2.13

[39] यज्ञो वै भुवनस्य नाभिः। – *तैत्ति॰ ब्रा॰* 3.9.5.5

[40] वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः। – *यजुर्वेद* 31.14

[41] वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे...। – *यजुर्वेद* 18.1

[42] सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। – *यजुर्वेद* 18.7

[43] कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पताम्। – *यजुर्वेद* 18.9

[44] अक्षितं च मेऽन्नं च मेऽत्तुच। – *यजु॰* 18.10

कृषि के ही उत्पन्न होने वाले जङ्गली चावल (नीवार), वृक्ष और वनस्पतियों की वृद्धि।[45]

6. कृषि के लिए जिस प्रकार वर्षा की आवश्यकता है उसी प्रकार वायु की भी आवश्यकता है। यज्ञ द्वारा इन्द्र (वर्षा) और मरुत् (वायु) का अनुकूल होना भी *यजुर्वेद* में स्पष्ट वर्णित है।[46]
7. कृषि के लिए उत्तम और उर्वर भूमि, पृथिवी की आन्तरिक अग्नि या ऊष्मा और सूर्य का प्रकाश आवश्यक है। यज्ञ के द्वारा अग्नि की ऊष्मा, सूर्य की ऊष्मा, सूर्य की किरणों का प्रकाश और उत्तम भूमि का प्राप्त होना। इन सभी का मन्त्रों में सङ्केत मिलता है।

ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि यज्ञ से मेघ (बादल) बनते हैं, वे मेघ आकाश में रहते हैं और वर्षा के रूप में भूमि पर लौटते हैं। आचार्य सायण ने मन्त्र का अर्थ किया है यज्ञ इन्द्र (मेघ) को बढ़ाता है, वे मेघ अन्तरिक्ष में पहुँचकर शयन करते हैं और भूमि पर वर्षा के रूप में लौटकर आते हैं। यज्ञ को वर्षा का कारण बताते हुए *यजुर्वेद*[47] में कहा गया है कि अग्निदेव इन्द्र (मेघ) को बढ़ाते हैं अर्थात् यज्ञ से मेघ बनते हैं। *श्रीमद्भगवद्गीता*[48] में भी उल्लेख है कि यज्ञ से बादल बनते हैं, बादलों से वृष्टि और वृष्टि से अन्न होते हैं और अन्न से ही प्राणिमात्र की उत्पत्ति होती है। *यजुर्वेद* में 22.26 तम मन्त्रे मेघ के निर्माण का क्रम दिया गया है।[49]

विश्वभ्रातृत्व गठन में यज्ञ की महत्ता

भारतीय संस्कृति में यज्ञ केवल कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि एक व्यापक सामाजिक और ब्रह्माण्डीय दर्शन है। यह मनुष्य के भीतर से "स्वार्थ" और "अहङ्कार" को समाप्त करके "परमार्थ" की भावना को जगाता है, जो विश्वभ्रातृत्व का प्रथम सोपान है। समाज के सभी वर्गों के लोग जाति, धर्म और ऊँच–नीच के भेदभाव को मिटाकर एक साथ बैठते हैं और यज्ञ करते हैं, जिससे समानता और एकता का सन्देश मिलता है। यज्ञ से निकलने वाली गैस केवल वातावरण को ही शुद्ध नहीं करती, बल्कि सूक्ष्म रूप से मानवीय विचारों में सकारात्मकता लाती है। जब विचार शुद्ध होते हैं, तभी विश्व में शान्ति और भ्रातृत्व स्थापित होता है।

यज्ञ का उद्देश्य केवल स्वयं की उन्नति नहीं, बल्कि "**सर्वे भवन्तु सुखिनः**" की व्यवस्था है। यह "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" की अवधारणा को पुष्ट करता है। यज्ञ में आहुति प्रदान करते समय मन्त्र के उच्चारण के बाद 'इदं न मम' का घोष किया जाता है, जो अपनी प्रिय वस्तुओं को ईश्वर और समाज के लिए त्याग करने की शिक्षा देता है। यही त्याग की भावना प्रेम और सहयोग को जन्म देती है। जो विश्व के सभी मनुष्यों को एक सूत्र में पिरोने का आधार है।

उपसंहार

वैदिक परम्पराओं का अध्ययन और विश्लेषण आधुनिक समाज के लिए मूल्यवान अन्तर्दृष्टि प्रदान करने की अनुपम शक्ति रखता है। वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण वैदिक प्रथाओं की व्याख्या और अनुप्रयोग समय के अनुसार राष्ट्र, समाज, जाति को विकसित करने के लिए भविष्य को नई दिशा दिखाएगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यज्ञ "नैनो-टेक्नोलॉजी" का एक उत्कृष्ट

---

[45] अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मे अकृष्टपच्याश्च मे। – *यजु*० 18.14

[46] इन्द्रश्च मे मरुतश्च मे। – *यजु*० 18.17

[47] देवो अग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रम् अवर्द्धयत् । – *यजुर्वेद* 28.22

[48] अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्याद् अन्नसम्भवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। – *श्रीमद्भगवद्गीता* 3.14

[49] वाताय स्वाहा, धूमाय स्वाहा, अभ्राय स्वाहा, मेघाय स्वाहा। – *यजुर्वेद* 22.26 (वेद में छोटी बूंदों के लिए "अभ्रप्रुष्" शब्द का प्रयोग है –अभ्रप्रुषो न वाचा प्रुषा वसु हविष्मन्तो न यज्ञा विजानुषः। – *ऋग्वेद* 10.77.1)

उदाहरण है, जो द्रव्यों को गैसीय अवस्था में बदलकर वायुमण्डल को विषाणुमुक्त करता है। यह आज के "ग्लोबल वार्मिंग (global warming)" और "इको-बैलेन्स (eco system)" की समस्याओं का सूक्ष्म व प्रभावी समाधान प्रस्तुत करता है। यज्ञ की प्राचीन परम्परा को आधुनिक विज्ञान और मानवतावादी दृष्टिकोण के साथ जोड़कर हम एक स्वस्थ, प्रदूषणमुक्त और विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित नवीन समाज का निर्माण कर सकते हैं। यह यज्ञ परम्परा एक शाश्वत परम्परा है। जो आज भी मानवता के कल्याण के लिए पूर्णतः प्रासङ्गिक है, भविष्य की सुरक्षा का आधार भी है। *श्रीमद्भगवद्गीता* के अनुसार –

अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥[50]

अर्थात् अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं, अन्न बादल से पानी गिरने पर सम्भव होता है तथा यज्ञ से बादल, पर्जन्य बनता है और यज्ञ कर्म से समुद्भूत होता है। इसलिए यज्ञ कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए।

सहायक ग्रन्थ-सूची

आचार्य, श्रीराम शर्मा, 1998, *यज्ञ का ज्ञान विज्ञान*, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा।

आर्य, दीपचन्द (सम्पादित), 2008, *महर्षि दयानन्द सरस्वती रचित सत्यार्थ प्रकाश*, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 69 संस्करण, दिल्ली।

गुप्ता, सुभाषचन्द्र, 2007, *हवन-यज्ञ द्वारा रोग उपचार*, सरस्वती साहित्य संस्थान, दिल्ली।

चुनेकर, कृष्णचन्द्र, पाण्डेय, गङ्गासहाय, 2002, *श्रीमद्भावमिश्र प्रणीत भावप्रकाशनिघण्टु*, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी।

जुगनू, कृष्ण, 2021, *महर्षिपराशर रचित गुल्मावृक्षायुर्वेद*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, पञ्चम संस्करण।

जुगनू, कृष्ण, 2021, *सुरपालमुनि रचित वृक्षायुर्वेद*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, पञ्चम संस्करण।

द्विवेदी, कपिलदेव, 2000, *वेदों में विज्ञान*, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही), उत्तर प्रदेश।

प्रसाद, जगदीश, 1997, *यज्ञ और विज्ञान*, वैदिक प्रकाशन, पल्लवपुरम, मेरठ।

सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, 2024, *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्याय मण्डल, बलसाड, गुजरात।

सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, 2024, *अथर्ववेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्याय मण्डल, बलसाड, गुजरात।

सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर, 2024, *यजुर्वेद का सुबोध भाष्य*, स्वाध्याय मण्डल, बलसाड, गुजरात।

Blatter, E. & Walter S. Millard, 1997, Some Beautiful Indian Trees, 2nd edu, Bombay Natural His-tory Society, Oxford University Press.

https://en.wikipedia.org/wiki/GABA

https://www.easyayurveda.com/2012/12/07/palasha–butea–monosperma–medicinal–qualities–ayurveda–details/

https://youtube./XU49FSIx0_g?si=cjdbc4LRYM4tMbRI

Nadkarni, K.M., 2019, Indian Materia Medica (vol.I), Popular Prakashan, Mumbai.

Sandjo, Louis, Agarwood: The Fragrant Molecules of a Wounded Tree, e-book.

Verma, Ram, 2005, Vedas the Source of Ultimate Science, Nag Publishers, New Delhi.

[50] *श्रीमद्भगवद्गीता* 3.14

Yuan, H.W., J.P. Zhao, Y.B. Liu, Y.X. Qiu, Q.L. Xie, M.J. Li, L.A. Khan, W. Wang, 2018, "Advance in studies on chemical constituents, pharmacology, and quality control of Aquilaria sinensis", Digit. Chin. Med., 1: 316-30. Doi: 10.1016/S2589-3777(19)30057-6

वैदिक साहित्य में आयुध तथा निर्माण तकनीकी

*डॉ० विजय कुमार शर्मा**

शोधपत्र सार : प्रस्तुत शोध-लेख भारत की सुनहरी स्मृति एवं उत्कृष्ट उपलब्धियों को स्मरण कर आयुध निर्माण के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता को प्रेरित करने का लघु प्रयास है। जिसमें जिन आयुधों का वैदिक ऋषियों एवं देवताओं ने अपनी तप-शक्ति से लोकहित को ध्यान में रखकर निर्माण किया था। इस शोध-लेख के द्वारा वेदों में वर्णित उन्हीं आयुधों के प्रकार एवं निर्माण तकनीकी के विषय का प्रतिपादन किया गया है।

वेद भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पोषक व संरक्षक हैं, जिनमें प्राणि-मात्र का कल्याण निहित है। भारतीय संस्कृति एक हाथ में शस्त्र तथा दूसरे हाथ में शास्त्र का सन्देश देती है। वेदों में ऋषि-मुनियों द्वारा दुष्ट-जनों के संहार करने हेतु आयुध-निर्माण पद्धति को विकसित करने का अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है। मध्यकाल और आधुनिक काल में भारत में रही दुष्प्रवृत्तिशील ताकतों ने आयुधनिर्माण के क्षेत्र में पर-निर्भरता के अवगुणों को विकसित किया। भारतीय संस्कृति में सदैव "सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग्भवेत्॥" का सिद्धान्त विद्यमान रहा है, परन्तु साथ ही साथ प्रत्येक काल में इस सिद्धान्त के विपरीत स्वभाव वाले लोग भी हुए हैं, जो पर–दु:ख एवं पर-अधिकार में सुख का अनुभव करते हैं। ऐसी दुष्प्रवृत्ति वालों से आत्म-रक्षा एवं राष्ट्र-रक्षा हेतु आयुधों की आवश्यकता पड़ती रही है। वैदिक वाङ्मय में अनेकों आयुधों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनका प्रयोग वैदिक-देवताओं एवं आर्य-योद्धाओं द्वारा सदैव लोकहित में किया जाता था। उन आयुधों की निर्माण तकनीकी साधारण थी, परन्तु वे असीमित शक्तियों से युक्त थे, क्योंकि उन आयुधों का सञ्चालन मन्त्र-शक्ति पर आधारित था, जिनका वैदिक ऋषियों एवं देवताओं ने अपनी तप-शक्ति से लोकहित को ध्यान में रखकर निर्माण किया था। प्रस्तुत शोध-लेख द्वारा वेदों में वर्णित उन्हीं आयुधों के प्रकार एवं निर्माण तकनीकी के विषय का प्रतिपादन तथा भारत की सुनहरी स्मृति एवं विशिष्ट एवं अद्भुत उपलब्धियों को स्मरण कर आयुध-निर्माण के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता को प्रेरित करने का लघु प्रयास है। नि:सन्देह आज भारत में संसाधनों का अभाव नहीं है, तथापि सृजनात्मक आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने की आज भी आवश्यकता है।

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए सदैव प्रयासरत रहता है। इसी तीव्र इच्छा ने मनुष्य को आयुधों के आविष्कार करने हेतु प्रेरित किया। स्व-संरक्षण तथा मानवीय संस्कृति की सुदीर्घ एवं सुरक्षित विकास यात्रा में आयुधों का विशेष योगदान रहा है। पाषाण काल में आदि-मानव ने स्वयं से शक्तिशाली एवं हिंसक पशुओं से सुरक्षा हेतु आयुधों के रूप में विखण्डित प्रस्तरों का प्रयोग किया। मानवीय सभ्यता के उषाकालीन आदि-मानव की प्रकृति पर यह प्रथम विजय थी। तत्कालीन मानव की सुरक्षा एवं क्षुधा पूर्ति के लिए अश्मायुधों का निर्माण एक क्रान्तिकारी आविष्कार था।

मानवीय बुद्धि एवं प्राविधिक सञ्चेतना जिस प्रकार अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने तथा विविध प्रकार के आयुधों का निर्माणकर्ता एवं प्रयोगकर्ता बना, वह उसके तकनीकी ज्ञान को प्रकट करता है।

द्रुत गति से अपने विकास पथ पर अग्रसर मानव ने आयुधों की स्थूलता की जगह सूक्ष्मता पर ध्यान दिया, जिससे उनकी कार्यक्षमता और अधिक प्रभावी हुई। वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य विजिगीषु एवं बलाधृत

* सहायक आचार्य, वेद विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी। <*e-mail*: vksharma2512@gmail.com>

थे। उनकी राजनीति शक्तिवाद पर आधारित थी। वैदिक कालीन साम्राज्य, स्वराज्य, वैराज्य, जनराज्य आदि शासन की व्यवस्था समस्त तन्त्र से सञ्चालित होती थी। इसीलिए वेदों में युद्धों का अधिकाधिक वर्णन मिलता है। जिन युद्धों में विविध प्रकार के आयुधों का प्रयोग किया जाता था, उन आयुधों की शक्ति एवं संहारक क्षमता सम्बद्ध देवता एवं उसकी मन्त्र-शक्ति पर आधृत होती थी।

वेदों में वर्णित आयुध मन्त्र-शक्ति द्वारा आज से उत्कृष्ट परिणाम देते थे, यह कहना थोड़ा कठिन होता है क्योंकि आज के समय में विश्व के तमाम आयुध भण्डार दुनिया को सैकड़ों बार समाप्त करने की क्षमता रखते हैं, परन्तु प्राचीन शास्त्र एवं पुरातात्त्विक प्रमाण इस तथ्य को उजागर करते हैं कि वैदिक आयुध ही उत्कृष्ट परिणाम देने वाले थे। वैदिक आयुध निर्माण संसाधनों से अधिक साधना पर निर्भर थे। आयुधों का उपयोग दुर्बलों की रक्षा व दुष्टों के दमन के लिए किया जाता था, वर्तमान की भाँति हथियारों का ऐसा भण्डार एकत्र नहीं किया जाता था जो आम-जन के लिए अहितकर हो।

आयुध साधन

अश्म (प्रस्तर)

प्राचीन भारतीय आयुधों के क्रमिक विकास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि-मानव द्वारा प्रयुक्त अश्म-साधन की परम्परा का प्रचलन वैदिक काल तक निरन्तर विद्यमान था –

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः॥[1]

वेदों में अश्म (पाषाण) को आयुध की कोटि में परिगणित किया गया है। अनेक ऋचाओं में अश्मायुधों द्वारा शत्रुओं का हनन करने का वर्णन प्राप्त होता है –

इन्दासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम्॥[2]

ऋग्वेद में अश्म का प्रयोग आयुध साधन के रूप में किए जाने का उल्लेख अनेक मन्त्रों में है, अश्म द्वारा राक्षसों को नष्ट करने की प्रार्थना की गई है –

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा॥[3]

अश्मायुध से सुरक्षित रहने के लिए वेदों के एक मन्त्र में वर्णन आया है –

आरे ३सावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत्। आरे अश्मा यमस्यथ॥[4]

वेद में यम को अश्मा (पाषाण) फेंकने वाला बताया गया है –

---

[1] ऋग्वेद 7.104.1

[2] ऋग्वेद 7.104.5

[3] ऋग्वेद 7.104.7

[4] अथर्ववेद 1.26.1

आरे सा वः सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरुः। आरे अश्मा यमस्यथ ॥[5]

वैदिक साहित्य में वर्णित विभिन्न सन्दर्भों से स्पष्ट है कि अश्म का उपयोग आयुध के रूप में तथा आयुध निर्माण के लिए किया जाता था।

अयस

अश्मायुध के निर्माता आर्यों द्वारा अपनी अन्वेषणीय मेधा से धातुओं की खोज वैदिक काल में ही कर ली गई थी। सभ्यता के परिवर्तनकारी कारकों में धातुओं का स्थान सर्वोपरि है। *ऋग्वेद* में उल्लिखित "अयस" को विद्वानों का एक वर्ग लौह स्वीकार करता है, जबकि दूसरा वर्ग उसे ताम्र मानता है। *ऋग्वेद* में ताम्र शब्द का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ऐसे सन्दर्भ प्राप्त हैं, जिनसे ताम्र का अर्थ द्योतित होता है। वैदिक शस्त्रास्त्र साधनों में लोहित–अयस तथा कृष्ण-अयस को विद्वानों ने क्रमशः ताम्र तथा लौह धातु का अर्थ ग्रहण किया है जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य ताम्र एवं लौह धातु का प्रयोग आयुध साधन के रूप में किया करते थे।

त्रपु

वैदिक आर्य त्रपु धातु से बहुत परिचित नहीं थे, परन्तु उत्तर वैदिक काल में इसका ज्ञान हो गया था। *अथर्ववेद* में त्रपु धातु के शीघ्र प्रगलन का संकेत प्राप्त होता है –

पार्थिवादिव्याः पशवआरण्या उत ये मृगा।
शकुन्तानपक्षिणो ब्रूमस्ते   नो मुञ्चत्वं हसः ॥[6]

ताम्र एवं लौह धातु में इसका सम्मिश्रण शीघ्र और सरल होता है। त्रपु एक कोमल, दुर्बल एवं श्वेत रंग धातु है। अधिकांशतया ताम्रधातु के साथ इसका प्रयोग किया जाता है जिससे कांस्य नामक नवीन मिश्रित धातु तैयार होती है जो अधिक कठोर व दृढ होती है। इसके अतिरिक्त उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों की धातु सूची में त्रपु धातु की भी गणना की गई है –

बृहस्पतेसवितर्बोधयेनं संशितंञ्चित्सन्तरासंशिशाधि ।
वर्धयैनम्महतेसौभगायविश्वएनमनुमदन्तुदेवाः ॥[7]

अतः उत्तर वैदिक काल में त्रपु एवं ताम्र धातु के सम्मिश्रण से निर्मित कांस्य धातु का निर्माण तथा लौह धातु से निर्मित शस्त्रास्त्रों का भी प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

शीशा

आयुधों में मिश्रित धातुओं से निर्मित "शीशा" नामक धातु का विशेष योगदान रहा है। शीशा कोमल, लचीला एवं तन्य धातु है। ताम्र के साथ शीशा मिश्रित करने से निम्न स्तर का कांस्य निर्मित होता है। वैदिक साहित्य में शीशे के विविध वर्णन से परिज्ञान होता है कि वैदिक आर्य शीशे का नियमित प्रयोग करते थे –

---

[5] *ऋग्वेद* 1.172.1,

[6] *अथर्व०* 11.8.8,

[7] *वाजसनेयी संहिता* 27.08,

सीसायाध्याह वरुण: सीसायाग्निरुपावति।
सीसं म इन्द्र: प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम्॥[8]

शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए शीशे के प्रयोग का वर्णन *अथर्ववेद* में मिलता है –

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिण:। अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्या:॥
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥[9]

उपर्युक्त सन्दर्भों एवं अन्वेषण से स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य प्रस्तर एवं धातुओं का प्रयोग विविध प्रकार के आयुध-निर्माण में करते थे। इसके अलावा काष्ठ एवं अस्थि का भी व्यापक प्रयोग होता था –

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत:। जघान नवतीर्नव॥[10]

प्रमुख आयुध एवं निर्माण तकनीकी

शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने तथा अपनी सुरक्षा हेतु वैदिक काल में आर्यों द्वारा अनेक प्रकार के आयुधों का निर्माण किया जाता था। कतिपय प्रमुख आयुधों का स्वरूप निम्नलिखित है –

धनुष

आयुधों में वैदिक युग का एक सर्वप्रिय एवं प्रचलित आयुध “धनुष” था, जिसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता अद्यावधि विद्यमान है। उस युग में आर्यों का यह परम प्रिय एवं उपयोगी आयुध माना गया है। आचार्य यास्क ने धनुष शब्द की व्युत्पत्ति “धन्व” धातु से माना है, जिसका अर्थ वध करना है –

> रथे तिष्ठन् नयति वाजिन: पुरस्तात् सतो, यत्र यत्र कामयते। सुषारथि: कल्याणसारथि:। अभीशूनां महिमानं पूजयामि मन: पश्चात् सन्तोऽनुयछन्ति रश्मय:। धनुर्धन्वतेर्गतिकर्मण:, वधकर्मणो वा, धन्वन्त्यस्मादिषव:। तस्यैषाभवति॥[11]

उन्होंने अपने *निघण्टु* में धनुष के छत्तीस पर्यायवाची पदों का उल्लेख किया है, जिनमें ज्या, इषु, धनु आदि विशेष उल्लेखनीय हैं[12]।

“इषु” शब्द का अर्थ है – “इष्यते हिंस्यते अनेन” अर्थात् जिसके द्वारा हिंसा (वध) की जाती है। अथवा धनुष वह आयुध है जो अपनी ज्या (डोरी) से संयुक्त होकर बाणों के प्रक्षेपण से युद्ध में शत्रुओं का वध करता है –

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्रा: समदो जयेम।
धनु: शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वा: प्रदिशो जयेम॥[13]

---

8 *अथर्व०* 1.16.2
9 *अथर्व०* 1.16.3-4
10 *सामवेद* 2.7.5
11 *निरुक्त* 9.11-12
12 *निघण्टु* 9.2,
13 *ऋग्वेद* 6.75.2

वैदिक काल में धनुष का निर्माण विशेषतया काष्ठ की एकल पट्टिका से किया जाता था –

वृक्षेवृक्षे नियता मीमयद्गौस्ततौ वय: प्र पतान् पूरुषाद: ।
अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत् ॥[14]

कतिपय विद्वानों के अनुसार धनुष निर्माण हेतु सामान्यतया प्राचीन काल में पशु शृंग का प्रयोग किया जाता था। विष्णु के धनुष को शार्ङ्ग कहा गया है, जो स्पष्टत: सङ्केत करता है कि शृंग से धनुष का निर्माण किया जाता था।[15] सामान्यत: धनुष निर्माण प्रविधि में सर्वप्रथम काष्ठ दण्ड के मध्य में हस्तक बनाया जाता था। तत्पश्चात् मध्य से दोनों छोरों में वक्रता लाने के लिए ज्या (डोरी) से आबद्ध कर दिया जाता था। धनुष के दोनों सिरों को प्रत्यञ्चा से आबद्ध करने के लिए उन पर कांटेदार संरचना बनाई जाती थी –

आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्रराय विष्णु: सुकृते सुकृत्तर: ।
वेधा अजिन्वात् त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत् ॥[16]

सुष्टुभो वां वृषण्वसू रथे वाणीच्याहिता ।
उत वां ककुहो मृग: पृक्ष: कृणोति वापुषो माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥[17]

जिससे धनुष की ध्वनि, गति और प्रक्षेपण में कुशलता की वृद्धि होती थी।

बाण

वेदों में बाण को इषु, शल्य, शर, सायक आदि नामों से सम्बोधित किया गया है –

यज्ञैरिषू: संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहान: ॥[18]

अर्हन् निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥[19]

विशेष नुकीले बाण को वैदिक साहित्य में शल्या की संज्ञा दी गई है। शल्य के अग्रभाग को शल्य-मुख और शल्य-मुख के अग्रभाग में जो नुकीला भाग होता है, उसे शल्य-दन्त कहा गया है। बाण का यह नुकीला अग्रभाग शत्रु के शरीर का वेधन करता था। शल्यों के इन अग्रभागों से सुरक्षित रहने के लिए वेदों में प्रार्थनाएं मिलती हैं। यथा – हे अनेक तुणीरधारी इन्द्र! धनुष का विस्तार करके बाणों के अग्रभागों को निकालकर हमारे लिए प्रसन्न मन वाले हों।

आयुधों में धनुष के बाण का विशेष महत्त्व था। *ऋग्वेद* के शस्त्र-सज्जा से सम्बन्धित सूक्त में दो प्रकार के शृंग-युक्त एवं धातुयुक्त सिर वाले बाणों का उल्लेख मिलता है –

---

14 *ऋग्वेद* 10.27.22
15 *धनुर्वेद संहिता* 44–45
16 *ऋग्वेद* 1.156.5
17 *ऋग्वेद* 5.75.4
18 *ऋग्वेद* 10.87.4
19 *ऋग्वेद* 2.33.10

आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम्।
इदं पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नम: ॥[20]

बाण का अग्र भागशृंग एवं धातु दोनों से बनाया जाता था, जबकि उसका दण्ड भाग काष्ठ अथवा लोहे से बनाया जाता था। दण्ड की लम्बाई लगभग तीन फुट तक होती थी –

ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र नवष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनय: ॥[21]

वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्। यद् यामं यान्ति वायुभि: ॥[22]

बाण में विभिन्न पक्षियों के पंख लगाने का भी चलन था इसीलिए वेदों में बाण को "सुपर्ण" नाम से भी सम्बोधित किया गया है, जिसमें सुपर्ण नामक पक्षी का पंख लगा रहता है –

सुपर्ण वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभि: संनद्धा पतति प्रसूता।
यत्रा नर: सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषव: शर्म यंसन् ॥[23]

वेदों में बाणों के चलाने, उनके द्वारा शत्रुओं के शरीर का वेधन करने, तथा शत्रु पर बाण-वर्षा करने के अत्यन्त रोचक एवं सजीव वर्णन मिलते हैं। जैसे – बाण का नुकीला अग्रभाग वेध्य प्राणी की खोज करने वाला होता है। ताँत की डोरी से प्रेरित बाण गिरता है, जहाँ मनुष्य विशेष प्रकार से इधर-उधर दौडते हैं, वहाँ हमारे लिए सुख प्रदान करें –

यत्र बाणा: संपतन्ति कुमारा विशिखा इव।
तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिरदिति: शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥[24]

तुणीर

धनुर्धारी योद्धाओं को बाण रखने के लिए एक विशेष प्रकार का खोले (पात्र) निर्माण किया जाता था। वेदों में उसको तुणीर अथवा इषुधि के नाम से वर्णन मिलता है – **इषुधि रिषूणां निधानम्।** (*निरुक्त*), अर्थात् तरकस जिसमें बाण रखे (स्थापित किए) जाते हैं। धनुर्धारी योद्धा इस तुणीर को अपनी पीठ पर बाँधकर लटकाए रखते थे, जिससे सुविधापूर्वक उसमें वे बाण रख सकते थे। वेदों में तुणीर को बाणों का पिता बताया गया है –

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधि: सङ्का: पृतनाश्च सर्वा: पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूत: ॥[25]

---

20 *ऋग्वेद* 6.75.15
21 *ऋग्वेद* 2.24.8
22 *ऋग्वेद* 8.7.4
23 *ऋग्वेद* 6.75.11
24 *ऋग्वेद* 6.75.17
25 *ऋग्वेद* 6.75.5

अर्थात् यह तुणीर बहुत से बाणों का पिता (रक्षक) है, इस तुणीर में बहुत बाण रखे रहते हैं। यह उनकी रक्षा करता है। इस तुणीर के बहुत से पुत्र (बाण) हैं। यह युद्ध को भाँपकर खोलने पर मानो पुंख की दीप्ति से हंसता है, या चीं-चीं करता है। पीठ पर बँधा हुआ बाणों को छोड़ता हुआ युद्धों को और समस्त सेनाओं को जीत लेता है।

इषु शब्द उभयलिङ्ग है, अत: बह्वीनाम् भी आ गया और बहु: भी। चिश्चा यह हँसनार्थक है अथवा शब्दानुकरणम् चिश्चा यह चीं-चीं शब्द का अनुकरण है।

वज्र

आयुधों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं वेदों में बहुश: वर्णित आयुध "वज्र" है। *निघण्टु* में वज्र के अठारह पर्यायवाची पदों का उल्लेख मिलता है, जिनमें विद्युत, नमोहेति, सृक, अर्क, वध, कुत्स, कुलिश, सायक आदि प्रमुख हैं –

दिद्युन्नेमि: नमो हेति: पवि: वज्र: सृक: वध:।
कुत्सोऽर्क: कुलिश: तुञ्ज: तिग्मो मेनिश्च सायक: ॥

स्वाधीति: परशुश्चापि वज्रस्यादष्टादशो गण: ॥[26]

"वज्र" शब्द की व्युत्पत्ति वृज धातु से हुई है, जिसका अर्थ है – वह आयुध जो प्राणी को प्राणों से पृथक् कर देता है – वर्जयति वियोजयति प्राणै: प्राणिन: इति वज्रमुच्यते।[27] वज्र एक सुदृढ़ अस्त्र था जो प्रहार करने पर शत्रु को निश्चिततः नष्ट कर देता था। वेदों में विविध प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के वज्रों का उल्लेख मिलता है। ये अस्त्र एवं शस्त्र विविध रूपों में होते थे, जिसकी पुष्टि वैदिक साहित्य के वज्र-सम्बन्धी विविध सन्दर्भों से होती है। इन्द्र ने अपने बलवान् एवं भयंकर शत्रु का वध भी इसी अस्त्र के द्वारा किया था, वह इन्द्र का विशेष आयुध था। इसीलिए इन्द्र को वेदों में वज्रिन्, वज्रवातु आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है –

गोत्रभिदङ्गोविदंवज्रबाहुञ्जयन्तमज्मप्रमृणन्तमोजसा।[28]
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या नि: शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥[29]

वैदिक युग में वज्र का निर्माण विविध धातुओं से किया जाता था। *ऋग्वेद* के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि वज्र के निर्माण में अयस का उपयोग किया जाता था –

जघन्वाँ उ हरिभि: संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नप:।
अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसमधारयो दिव्या सूर्यं दृशे ॥[30]

स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये गिरेर्भृष्टिर्न भ्राजते तुजा शव:।
येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूषु रामयन्नि दामनि ॥[31]

---

26 *निघण्टु* 2.51

27 *निरुक्त* 3.2

28 *वाजसनेयी संहिता* 17.38

29 *ऋग्वेद* 1.80.1

30 *ऋग्वेद* 1.52.8

31 *ऋग्वेद* 1.56.3

इन्द्रस्य वज्र आयसो निमिश्ल इन्द्रस्य बाह्वोर्भूयिष्ठमोज:।
शीर्षन्निन्द्रस्य क्रतवो निरेक आसन्नेषन्त श्रुत्या उपाके॥[32]

वज्र निर्माण हेतु हिरण्य के प्रयोग का भी बहुश: उल्लेख मिलता है –

अध ते विश्वमनु हासदिष्ट्य आपो निम्नेव सवना हविष्मत:।
यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्र: श्नथिता हिरण्यय:॥[33]

स्पर्धन्ते वा उ देवहूये अत्र येषु ध्वजेषु दिद्यव: पतन्ति।
युवं तां इन्द्रावरुणावमित्रान् हतं पराच: शर्वा विषूच:॥[34]

आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पति:॥[35]

त्वष्टा ने लौह धातु से वज्र का निर्माण किया था।[36]

त्वष्टा द्वारा निर्मित वज्र सुवर्ण के समान प्रकाशमान बतलाया गया है –

यो मे हिरण्यसंदृशो दश राज्ञो अमंहत।[37]

अस्थि से भी वज्र का निर्माण किया जाता था। इन्द्र ने वृत्रासुर के वध के लिए दधीचि की अस्थियों द्वारा वज्र का निर्माण किया था –

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुत:। जघान नवतीर्नव॥[38]

वज्र के निर्माणकर्ताओं में त्वष्टा का विशिष्ट स्थान था। युद्ध के लिए वज्र का निर्माण मुड़े हुए तथा बिना मुड़े दोनों विधियों से इस प्रकार किया जाता था कि शत्रु का हनन किया जा सके। उसके निर्माण में अग्नि का प्रयोग किया जाता था। वज्र मुख भाग की ओर भारी होता था और उसमें दाहिनी ओर तार का प्रयोग किया जाता था[39] निरन्तर प्रयोग से जब वज्र की तीक्ष्णता समाप्त हो जाती थी तब उसकी वृद्धि के लिए शाणन किया जाता था–

दिवश्चिदस्य वरिमा वि पप्रथ इन्द्रं न मह्ना पृथिवी चन प्रति।
भीमस्तुविष्माञ्चर्षणिभ्य आतप: शिशीते वज्रं तेजसे न वंसग:॥[40]

वज्र के विविध प्रकार एवं प्रयोगों का विवरण वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में संकेत मिलता है कि इन्द्र ने हाथ में चतुष्कोणीय

---

32 *ऋग्वेद* 8.96.3
33 *ऋग्वेद* 1.57.2
34 *ऋग्वेद* 7.85.2
35 *ऋग्वेद* 10.23.3
36 *ऋग्वेद* 3.38.10
37 *ऋग्वेद* 8.5.38
38 *ऋग्वेद* 1.84.13
39 *शत०ब्रा०* 8.5.1.13
40 *ऋग्वेद* 1.55.1

वज्र धारण कर परुष्णी नदी के युद्ध में विजय प्राप्त की थी –

अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम्।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजाना: पिपिष इन्द्रशत्रु: ॥[41]

अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान।
वृष्णो वध्रि: प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्त: ॥[42]

नास्मै विद्युन्न तन्यतु: सिषेध न यां मिहमकिरद् ध्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद् युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥[43]

परशु

वैदिक साहित्य में एक आयुध के रूप में परशु का उल्लेख किया गया है, परशु शब्द की व्युत्पत्ति "शृ" धातु से हुई है। "शृ" धातु हिंसा के अर्थ को प्रकट करता है। यास्क ने "शृ" धातु से कुचलना या शमन करना अर्थ किया है।

ऋग्वेद में त्वष्टा नामक देवता के हाथ में आयस परशु धारण करने का उल्लेख प्राप्त होता है –

वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुवि: ।[44]
वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते ॥[45]

वैदिक काल तक परशु का प्रयोग बहु-प्रयोजनीय था –

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भसदश्वो न यमसान आसा।
विजेहमान: परशुर्न जिह्वां द्रविर्न द्रावयति दारु धक्षत ॥[46]

परशु का प्रयोग आयुध के अतिरिक्त किसी वस्तु को काटने के लिए भी किया जाता था। परशु का निर्माण प्राय: लोहे से किया जाता था –

त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभत् पात्रा देवपानानि शंतमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पति: ॥[47]

वैदिक युग के पश्चात् भी युद्ध के लिए परशु विशेषत: उपयोगी समझा जाता था। भगवान् परशुराम का यह सर्वप्रिय आयुध कहा गया है।

---

41 *ऋग्वेद* 1.32.6
42 *ऋग्वेद* 1.32.7
43 *ऋग्वेद* 1.32.13
44 *ऋग्वेद* – 8.29.3
45 *ऋग्वेद* – 8.29.4
46 *ऋग्वेद*6.3.4
47 *ऋग्वेद* 10.53.9

पाश

पाश एक प्रचलित आयुध था, जो युद्ध में शत्रुओं को आबद्ध करता था और उनका वध भी करता था। पाश को निरुक्तकार यास्क ने जाल बताया है – पाशयतेर्विपाशनात्। पाश शब्द बन्धनार्थक "पश्" धातु से बना है जो बाँधने के काम आता है। *निरुक्त* में पाश को निधा व पाश्या के नाम से भी उल्लिखित किया गया है – निधा पाश्या भवति।[48]

अथर्ववेद में पाश के छः भेद बतलाए गए हैं। इन्हें साम्य, व्याम्य, सन्देश्य, विदेश्य, दैव और मानुष पाश के नाम से सम्बोधित किया गया है–

य: समाम्यो३ वरुणोयो व्याम्यो३ य: सन्देश्यो वरुणोयो विदेश्य:। यो दैवो वरुणो यश्च मानुष:॥[49]

ऋग्वैदिक देवमण्डल के प्रमुख देवता वरुण अपने विशिष्ट आयुध पाश के साथ अनेक ऋचाओं में विवृत हैं –

उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्याम॥[50]

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥[51]

तिग्मायुधौ तिग्महेतो सुशेवौ सोमारुद्रा विह सु मृलतं न:।
प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं न: सुमनस्यमाना॥[52]

ये पाश तीन या सात लड़ियों के हैं जिनसे वे दुष्टों एवं अत्याचारियों को बाँधते हैं –

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्त:।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं य: सत्यवाद्यतितं सृजन्तु॥[53]

यजुर्वेद के रुद्राध्याय में रुद्र के आयुधों का विशद वर्णन किया गया है, जिनमें पाश को उनका प्रमुख आयुध बताया गया है।

क्षुर

क्षुर एक प्रकार का फाल वाला चाकू या छुरा होता होगा जो तीक्ष्ण धार के लिए प्रसिद्ध था –

सं न: शिशीहि भुरिजोरिव क्षुरं रास्व रायो विमोचन।
त्वे तन्न: सुवेदमुस्रियं वसु यं त्वं हिनोषि मर्त्यम्॥[54]

वेद-वर्णित क्षुर नामक आयुध का प्रथम प्रयोजन केश-कर्तन उपकरण के रूप में तथा दूसरा प्रयोजन आयुध के रूप में, जो युद्ध में शत्रु पर आक्रमण करने के लिए किया जाता था। *अथर्ववेद* में एकफलकीय अथवा द्विफलकीय लघु आयुध के रूप में उसका उल्लेख मिलता है।

---

48 *निरुक्त* 4.1
49 *अथर्ववेद* 4.16.8
50 *वाजसनेयि संहिता* 12.12
51 *ऋग्वेद* 1.25.21
52 *ऋग्वेद* 6.74.4
53 *अथर्ववेद* 4.16.6
54 *ऋग्वेद* 8.4.16

ऋष्टि:

ऋष्टि एक प्रकार का भाला होता था, जिसका वर्णन वेद में स्पष्ट उल्लिखित है[55] जिसे देवों का आयुध बतलाया गया है। *ऋग्वेद* में सात प्रकार के ऋष्टियों का सङ्केत वर्णित है –

सप्तानां सप्त ऋष्टय: सप्त द्युम्नान्येषाम्। सप्तो अधि श्रियो धिरे॥[56]

वेद में इन्द्र से ऋष्टि आयुध की शक्ति प्रदान करने की याचना की गई है तथा ऋष्टि को "अम्यक्" नाम से भी सम्बोधित किया गया है – **अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टि: ।**[57] अर्थात् हे इन्द्र! तेरी वह आत्मज्ञान को देने वाली विद्या हमें प्राप्त हो। अथवा हे इन्द्र! तेरी वह शत्रुओं की ओर जाने वाली ऋष्टि (आयुध विशेष) शक्ति हमें प्राप्त हो।

वाशी

वाशी नाम का आयुध एक प्रकार का छुरा होता था। इसका प्रयोग भी शत्रु के हनन हेतु किया जाता था –

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिण: सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिण: ॥[58]

दण्ड

दण्डो ददतेर्धारयति कर्मण: – अर्थात् धारण करने अर्थ में "दद्" धातु से दण्ड बनता है। दण्ड ही समस्त प्रजाओं को धारण करने वाला है। दण्ड से सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था स्थिर है[59] आधुनिक लाठी के स्थान में दण्ड का प्रयोग मार-पीट के लिए किया जाता है। वेदों में दण्ड की शस्त्र कोटि में गणना की गई है –

दण्डा इवेद् गोअजनास आसन्।[60]
यद्दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम्।
तस्य त्वमसि निष्कृति: सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥[61]

आचार्य यास्क ने दण्ड को रम्भ तथा पिनाक भी कहा है –

रम्भ: पिनाकमिति दण्डस्य। रम्भ आरभन्त एनम्।
''आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भे''। इत्यपि निगमो भवति।
आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम्। पिनाकं प्रतिपिनष्ट्येनेन ॥[62]

अर्थात् रम्भ और पिनाक ये दोनों नाम दण्ड के हैं। इस दण्ड का वृद्ध आदि सहारा लेते हैं, अत: इसे रम्भ कहते हैं। जिस

---

55 *ऋग्वेद* 1.168.4-5
56 *ऋग्वेद* 8.28.5
57 *ऋग्वेद* 1.169.3
58 *ऋग्वेद* 5.57.2
59 *निरुक्त* 2.1
60 *ऋग्वेद* 7.33.6
61 *अथर्ववेद* 5.5.4
62 *निरुक्त* 3.4

प्रकार वृद्ध मनुष्य दण्ड लेते हैं उसी प्रकार हम भी हे इन्द्र! तेरा सहारा लेते हैं। इस दण्ड से मार डालते हैं अत: इसे पिनाक भी कहते हैं।

वेदों में वर्णित आयुधों के ज्ञान की वर्तमान प्रासङ्गिकता

भारत एक स्वर्णिम इतिहास से सम्पन्न राष्ट्र है। भारत की धरती ने अनेकानेक बाह्याभ्यन्तर आक्रमणों को सहन किया है। यदि वैदिक मार्ग चाहे वह सामाजिक, आर्थिक या सैन्य हो, को अपनाया जाता तो हमें कभी आततायियों का दंश नहीं झेलना पड़ता। इस शोध-लेख के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि वैदिक ऋषि-मुनि किस तरह न्यूनतम संसाधनों से उत्कृष्ट आयुधों का निर्माण किया करते थे।

यद्यपि वर्तमान में हमारे पास तेजस्, अग्नि, ब्रह्मोस आदि विशिष्ट आयुध हैं, तथापि अधिकांशत: हम विदेशी तकनीकी पर निर्भर हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम वैदिक सृजनात्मकता को सीखें और मौलिक आयुध-निर्माण तकनीकी को विकसित करें। वैदिक आयुध पर्यावरण हितैषी हुआ करते थे, परन्तु वर्तमान के आयुध पर्यावरण के लिए गम्भीर सङ्कट उत्पन्न करने वाले हैं। हम परमाणु बम, हाईड्रोजन बम के साये में जीते हैं। अर्थात् आज का आयुध विनाश को जन्म देता है, जबकि वैदिक आयुध तकनीकी सुरक्षा और सद्भावना का भाव स्थापित करता था। यद्यपि भारत आज भी हज़ारों वर्षों की शान्ति और सहिष्णुता की राह पर चल रहा है परन्तु अभी आत्मनिर्भरता एवं सृजनात्मकता के सम्बन्ध में अनेकों अध्याय लिखना शेष है।

निष्कर्ष

आयुधों के गहन अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वैदिक आयुध काष्ठ, कांस्य, लौह, प्रस्तर एवं अस्थि आदि साधनों से विनिर्मित किए जाते थे। अलग-अलग आयुधों के निर्माण हेतु तकनीकियों का प्रयोग किया जाता था। युद्धों में इन अस्त्र-शस्त्रों से मर्माङ्गों की रक्षा हेतु योद्धा विविध प्रकार के अङ्गरक्षक-आयुध जैसे वर्म एवं कवच आदि भी धारण करते थे। वेदों में युद्ध हेतु प्रस्थान करने वाले अपने यजमान राजा की रक्षा के लिए पुरोहितों द्वारा प्रार्थना करते हुए कहा है कि वर्म उसकी रक्षा करें।

वेदों में वर्णित शस्त्रास्त्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आयुध वज्र था, जिसका सम्बन्ध देवराज इन्द्र से था। वैदिक अन्य आयुधों का सम्बन्ध प्राय: अलग-अलग देवताओं से था। इससे यह सम्भावना की जा सकती है कि उन आयुधों का निर्माण एवं नियन्त्रण विशिष्ट देवताओं के अधीन रहा हो। देव-संस्कृति के अपने पृथक्-पृथक् जन-गण थे और उन जनगणों में प्रचलित आयुधों को विशिष्ट तकनीकी ज्ञान के आधार पर किया जाता रहा होगा।

वेद-वर्णित शस्त्रास्त्रों के अध्ययन से यह निष्कषित है कि वैदिक आयुधों के निर्माण की तकनीकी विकसित अवस्था में रही होगी। धातुओं के अन्वेषण से आयुध एवं उनके निर्माण की तकनीकी के क्षेत्र में जो भी परिष्कार एवं परिवर्ध्दन हुआ वह वेदों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है। सभी वैदिक पक्ष कुछ न कुछ शिक्षण देते हैं, आयुध-निर्माण पद्धति भी अलग नहीं है। यह शोध-लेख “वेदों में आयुध तथा निर्माण तकनीकी” भारत के स्वर्णिम अतीत की अत्यन्त उत्कृष्ट उपलब्धियों को याद करके आयुध निर्माण क्षेत्र में आत्मनिर्भरता को प्रेरित करने का एक प्रयास मात्र है, इसमें और उत्कृष्ट ज्ञान के अन्वेषण की सम्भावनाएं व्याप्त हैं। नि:सन्देह आज हमारे पास संसाधनों का अभाव नहीं है परन्तु आवश्यकता सृजनात्मक आत्मनिर्भरता को प्राप्त करने की है।

अनेक दृष्टि परक गायत्रीमन्त्रार्थ चिन्तन

शिवम शर्मा *

शोधपत्र सार : भारतीय ज्ञान परम्परा में वेदों का उच्चतम स्थान है। वेदों में धर्म, कर्म, ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म तथा दर्शन आदि अनेक विषयों को मन्त्रों के रूप में समाहित किया गया है। इन मन्त्रों में जप, तप, यज्ञादि विविध उपाय बताए गए हैं। मन्त्रों द्वारा की गई उपासना से जीव को इस लोक तथा परलोक में सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति होती है। इनमें विशेष रूप से गायत्री-मन्त्रोपासना के माध्यम से अभीष्ट की प्राप्ति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। विविध आयामों द्वारा नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं उपासना कर्मों में गायत्री साधना से मनुष्य को पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति होती है। गायत्री की उपासना से मेधा-शक्ति दृढ़ होती है, जिसका प्रभाव हमारे हृदय से लेकर मुखमण्डल तक द्योतित होता है। प्रातः, मध्याह्न तथा सायं – इन तीनों कालों में प्राणायाम, सूर्यार्घ्य एवं विशेषकर गायत्री-जप का अनुष्ठान करना ही "सन्ध्यावन्दन" कहलाता है। यज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठ माना गया है तथा जपों में गायत्री-जप उत्तमोत्तम है। प्रस्तुत शोध-लेख में गायत्री मन्त्र के अर्थ का तीन दृष्टियों से चिन्तन करने का प्रयास किया गया है।

शब्दकुञ्जिका : गायत्री, गायत्रीछन्द, गायत्रीदेवी, गायत्री-उपासना, गायत्री के रूप, ओङ्कार, भूर्भुवः स्वः, गायत्री मन्त्र, गुरुमन्त्र।

प्रस्तावना

सनातन संस्कृति में गंगा, गीता और गायत्री ये तीनों आस्था के प्रमुख केन्द्र माने गए हैं, जिसमें गायत्री की साधना को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। शास्त्रों में ॐ (प्रणव) को वेदों का बीज और गायत्री को वेदमाता कहा गया है। गायत्री की उपासना करने वाले साधक को आन्तरिक एवं बाह्य शक्ति की अनुभूति होती है। उसको अपने मन एवं इन्द्रियों को नियन्त्रित रखने की ऊर्जा मिलती है। गायत्री मन्त्र की महिमा का निरूपण वैदिक शास्त्रों में बहुधा किया गया है। सन्ध्योपासना को भी तभी परिपूर्ण माना जाता है, जब उसमें गायत्री मन्त्र का जप किया जाए। वेदमन्त्रों में गायत्री मन्त्र को विशेष मन्त्र माना गया है।

गायत्री मन्त्र की उपासना को तीन मुख्य दृष्टियों से समझा जा सकता है –

1. सामान्य दृष्टि से ऐसा समझा जा सकता है कि इस मन्त्र में गायत्री माता की स्तुति की गई है। संस्कृत साहित्य में गायत्री माता को वेदमाता, सरस्वती और सन्ध्यादेवी आदि रूपों में पुकारा गया है।[2] इस स्तर पर उपासक गायत्री को एक दिव्य मातृ रूप में स्मरण करता है।
2. द्वितीय दृष्टि से गायत्री मन्त्र में मुख्यतः सविता (सूर्य) देवता की उपासना है।[3] सूर्य जगत् के समस्त प्राणियों को प्रकाश, ऊर्जा और प्रेरणा प्रदान करते हैं, वैसे ही उपासक प्रार्थना करता है कि – "हमारी बुद्धि को भी शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करें"। अधिकांश साधक और जन-समुदाय सामान्यतः इसी भाव से गायत्री मन्त्र का अनुसरण करते हैं।

---

* शोध सहायक, अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान, गुरुग्राम हरियाणा। <*e-mail*: drshivamach@gmail.com>

[2] स्तुता मया वरदा वेदमाता। – *अथर्ववेद* 19.71.1

[3] *ऋग्वेद* 3.62.10-12

3. तृतीय दृष्टि में गायत्री मन्त्र से परमपिता परमेश्वर की उपासना की गई है, वही परम सत्ता जिसने समस्त ब्रह्माण्ड की रचना की है, जिसकी अनुकम्पा से ही सभी ग्रह-नक्षत्र और प्राणी अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इस दृष्टि में उपासक प्रार्थना करता है कि – "परमेश्वर हमें अपनी कृपा से सन्मार्ग पर चलने की बुद्धि (सामर्थ्य) प्रदान करें"।

गायत्री मन्त्र चारों वेदों में प्राप्त है और वेद की विभिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न स्थलों पर समुपलब्ध है –

ऋग्वेद शाकल शाखा – 3.62.10

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा – 3.35, 22.9, 30.2, 36.3

शुक्ल यजुर्वेद काण्व शाखा – 3.3.28, 36.1.3

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा – 1.5.6.12, 1.5.8.10, 4.1.11.7

कृष्ण यजुर्वेद मैत्रायणी शाखा – 4.10.77

सामवेद कौथुम शाखा – उत्तरार्चिक 13.4.3, पूर्वार्चिक 3.62.10

सामवेद जैमिनीय शाखा – 4.3.8

अथर्ववेद शौनक शाखा – 19.71.1

सामान्य दृष्टिपरक चिन्तन

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाश्शुभ्रं कपालं गदां
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥[4]

इस श्लोक में गायत्री देवी के स्वरूप का वर्णन जगन्मातृ रूप में किया गया है –

भावार्थ : मैं गायत्री देवी की उपासना करता हूँ। (वे कैसी हैं?) जिनके मोती (मुक्ता), मूंगा (विद्रुम), स्वर्ण (हेम), नीलमणि (नील), हीरे (धवल) के रंगों के पाँच मुख हैं एवं तीन नेत्र हैं। जिनका मुकुट अर्ध्दचन्द्र एवं विविध रत्नों से युक्त है। जो तत्त्व प्रतिपादक वर्णस्वरूप वाली हैं और वे अपने हाथों में वरद एवं अभय मुद्राएँ, अंकुश, चाबुक, धवल (शुभ्र) कपाल, गदा, शङ्ख, चक्र और दो कमल पुष्पों को धारण किए हुए सुशोभित हो रही हैं।

सामान्य दृष्टिकोण से विचार करने पर ज्ञात होता है कि गायत्री मन्त्र में गायत्री देवी की उपासना की गई है। वे देवीस्वरूपा साधक को अभय प्रदान करती हैं तथा इच्छानुसार वर भी देती हैं। यहाँ सर्वप्रथम **गायत्री मन्त्र** का वर्णन किया जा रहा है।

गायत्री मन्त्र का प्रारम्भ "ॐ" (प्रणव) की ध्वनि से होता है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार "ॐ" एकाक्षरात्मक रूप परब्रह्म का प्रतीक मन्त्र है। *कठोपनिषद्* में इस एकाक्षर मन्त्र को ही श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि जो पुरुष इसे जान लेता है, वह वास्तव में समस्त ज्ञान और सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है।[5] *भगवद्गीता* में भी "ॐ" को ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है और इसे ही ब्रह्म का अक्षरात्मक रूप कहा गया है।[6] यह प्रणव सबसे पहले उत्पन्न हुआ, उसके पश्चात् तीन महाव्याहृतियाँ – **भूः भुवः**

---

[4] ध्यान श्लोक – गायत्री कवच। – *देवीभागवत* 12.3.10

[5] एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ – *कठोपनिषद्* 1.2.16

[6] ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। – *श्रीमद्भगवद्गीता* 8.13

स्वः तथा आगे चलकर गायत्री मन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। वेदों के चारों महावाक्यों **प्रज्ञानं ब्रह्म** – *ऋग्वेद*, **अयमात्मा ब्रह्म** – *यजुर्वेद*, **तत्त्वमसि** – *सामवेद* तथा **अहं ब्रह्मास्मि** – *अथर्ववेद* – का सार इस गायत्री मन्त्र में निहित है।[7]

शब्दकल्पद्रुम के अनुसार गायत्री शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार बताई गई है – **गायन्तं त्रायते यस्मात् इति गायत्री** अर्थात् जो इस मन्त्र का चिन्तन (जप) करता है, गायत्री उसकी रक्षा करती है।[8] द्विजों को दीक्षा प्रदान करने में गायत्री मन्त्र का ही विधान है। यही मन्त्र गुरु अपने शिष्य के श्रोत्र में उपदेशरूप से स्थापित करता है, अतः यह मन्त्र ही "गुरुमन्त्र" कहलाता है।

पुराणों के अनुसार गायत्री स्त्रीरूपा हैं तथा वे सरस्वती देवी के सदृशतमा हैं। गायत्री सर्ववेदों की सारभूता, प्रत्यगात्मा एवं ब्रह्म के एकत्त्व की बोधिका हैं, जिनको सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया। गायत्री देवी परमात्मा के अलौकिक ज्योतिर्मय स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं।

गायत्री छन्द का परिचय

गायत्री के विषय में कहा गया है कि यह गायत्री देवी चतुर्विंशति (24) कलाओं से युक्त हैं। इसी प्रकार गायत्री मन्त्र में भी 24 अक्षर विद्यमान हैं। इस प्रकार छन्द, मन्त्र और देवी – तीनों में चतुर्विंशात्मक साम्य रूप दृष्टिगोचर होता है। वेदों में सभी मन्त्र विभिन्न छन्दों में निबद्ध हैं। सर्वानुक्रमणी में आचार्य शौनक ने छन्दों की संख्या 21 बताई है। इन छन्दों का वर्गीकरण प्रायः तीन भागों में किया गया है – ऋषिछन्द, अतिछन्द एवं कृतिछन्द। इन तीन भागों में 7-7 छन्द आते हैं, जिनमें ऋषिछन्द को प्रमुख माना जाता है।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपिङ्क्तित्रिष्टुब्जगत्यतिजगतीशक्कर्यतिशक्कर्यष्ट्यत्यष्टि धृत्यतिधृतयः।[9]

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती इन सात ऋषिछन्दों में गायत्री छन्द प्रथम है एवं सभी छन्दों में गायत्री छन्द ही प्रधानभूत छन्द है। गायत्री छन्द में आठ अक्षरों से युक्त तीन पाद होते हैं, जिस कारण इसको त्रिपदा गायत्री भी कहते हैं।[10] वेदों में गायत्री छन्द में ही अधिक मन्त्र निबद्ध हैं एवं इसी छन्द में ही देवताओं की स्तुति अधिक की गई है। *ऋग्वेद* के प्रथम मन्त्र में अग्नि देवता की स्तुति गायत्री छन्द के माध्यम से ही की गई है। *नारायणोपनिषद्* में गायत्री को छन्दश्शास्त्र की माता कहा गया है।[11] *जैमिनीय ब्राह्मण* के अनुसार गायत्री छन्द सबसे पहले उत्पन्न हुआ।[12] गायत्री छन्द प्रजापति के मुख एवं सिर से उत्पन्न हुआ।[13] *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ।[14]

बृहदारण्यकोपनिषद् में गायत्री शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि जो गायत्री की साधना करने वाले हैं, उनके गय (प्राण) की त्राण (रक्षा) करने के कारण यह गायत्री है। गायत्री ने गयों का त्राण किया था, प्राण ही गय हैं। इस कारण से इसका नाम गायत्री पड़ा,[15] अर्थात् गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली देवी हैं, गायत्री ही प्राण है। जिस प्राण में

---

[7] *गायत्री रहस्यम्*, पृ० 3

[8] *शब्दकल्पद्रुम*।

[9] *शुक्लायजुर्वेदसर्वानुक्रमणी* 4.1

[10] त्रिपदा गायत्री। – *जैमिनीय ब्राह्मण* 3.6

[11] गायत्री छन्दसां माता। – *नारदपुराण* – 6.63

[12] गायत्री वै छन्दसामग्रं जैष्ठ्यम्। – *जैमिनीय ब्राह्मण* 3.227

[13] गायत्री छन्दः (प्रजापतिः शीर्षत एव मुखतोऽसृजत)। – *जैमिनीय ब्राह्मण* 1.68

[14] गायत्री छन्दसामहम्। – *श्रीमद्भगवद्गीता* 10.35

[15] प्राणा वै गयाः। – *बृहदारण्यकोपनिषद्* 5.14.4

सम्पूर्ण देव एक हो जाते हैं तथा समस्त वेद, कर्म और फल भी जिसमें एकत्रित होते हैं, इस प्रकार वह गायत्री प्राणरूपा होने के कारण जगत् की आत्मा है।[16] गायत्री सभी विद्याओं की माता हैं, उनसे ही सारी विद्याएँ प्रादुर्भूत हुई हैं। गायत्री देवी सभी पापों को नष्ट करती हैं। पुराणों में गायत्री देवी की उपासना के लिए बहुत सारे स्तोत्रों एवं साधनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। *देवीभागवत पुराण* में सन्ध्या देवी को गायत्री देवी का रूप माना गया है एवं गायत्री देवी सच्चिदानन्द स्वरूप में इस जगत् में व्याप्त हैं।[17] गायत्री देवी ही त्रैकालिक सन्ध्या काल में हमारे पापों का शमन करती हैं। *अघनाशक स्तोत्र* में गायत्री देवी की सन्ध्या, सावित्री, सरस्वती, ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री, रक्ता, श्वेता एवं सितेतरा आदि देवियों के रूप में स्तुति की गई है –

त्वमेव सन्ध्या गायत्री सावित्रि च सरस्वती।
ब्राह्मी च वैष्णवी रौद्री रक्ता श्वेता सितेतरा॥[18]

संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि हमारे शरीर के विभिन्न अङ्गों में गायत्री देवी विराजमान रहती हैं। *शतपथ ब्राह्मण* के अनुसार गायत्री हमारे अन्दर प्राण के रूप में विराजमान रहती हैं।[19] प्राण पञ्च होते हैं एवं गायत्री देवी के मुख भी पाँच होते हैं। इसलिए हमारे शरीर में गायत्री ही श्वास-प्रश्वास (प्राण-अपान) के रूप में निःश्वसित होती हैं। हमारे शरीर में गायत्री देवी मस्तिष्क के रूप में स्थित हैं[20] अर्थात् हमारा मस्तिष्क ही गायत्री है। *कृष्ण यजुर्वेद* की मैत्रायणी शाखा में गायत्री को वाणी के रूप में बताया गया है, वाणी ही गायत्री है।[21] वाणी के द्वारा ही गुरु-मुख से वेद राशि को सुनने से शिष्यों को पुरातन काल में श्रुतियों (वेदों) का ज्ञान प्राप्त होता था। वाणी के द्वारा ही हम एक-दूसरे से संवाद कर पाते हैं। अतः वाणी के रूप में ही गायत्री सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं। हमारे शरीर का बल (रेतस्) भी गायत्री है[22] अर्थात् गायत्री द्वारा ही हमें ऊर्जा प्राप्त होती है एवं बलयुक्त भी हम उनकी ही कृपा से होते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में विभिन्न याज्ञिक प्रयोगों के माध्यम से गायत्री की महिमा का विशद वर्णन किया गया है। वहाँ गायत्री को अन्न प्रदान करने वाली पृथ्वी के स्वरूप में प्रतिष्ठित किया गया है अर्थात् गायत्री ही पृथ्वी है।[23] वैदिक साहित्य में गायत्रीछन्द को पृथ्वी का ही छन्द बताया गया है। पृथ्वी के अधिदेवता अग्नि माने गए हैं तथा संयोगवश गायत्री छन्द के देवता भी अग्नि ही हैं।[24] इस प्रकार पृथ्वी–गायत्री–अग्नि का त्रिविध सम्बन्ध वैदिक साहित्य में अत्यन्त गूढ़ रूप से प्रतिपादित है।

शतपथ ब्राह्मण में गायत्री को यज्ञस्वरूपा भी कहा गया है।[25] वेदों में वर्णित यागों में दर्श-पौर्णमास याग अत्यन्त प्रमुख याग है। इस याग के प्रमुख देवता अग्नि हैं, अग्नि देवता के निमित्त अष्टकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है – "**आग्नेयम्**

---

[16] शंकराचार्यकृत *भाष्य*, *बृहदारण्यकोपनिषद्* 5.4.4

[17] या सन्ध्या सैव गायत्री सच्चिदानन्दरूपिणी। – *देवीभागवत* 11.17.10

[18] *अघनाशकगायत्रीस्तोत्र*, श्लोक 3

[19] प्राणो गायत्रीति तद्य एव प्राणस्य महिमा यद्वीर्यं तदेतत्सहस्रं प्राणस्यैवैतद्वीर्यं यद्धयस्य चिन्वतः प्राण उत्क्रामेत्तत एवैषोऽग्निर्न चीयेतैतेनैवास्य रूपेण सहस्रमेष गायत्रीः संचितो भवति। – *शतपथ ब्राह्मण* 10.3.1.2

[20] शिरो वै गायत्री। – *मैत्रायणी संहिता* 3.3.5; *शतपथ ब्राह्मण* 8.6.2.3; *षड्विंश ब्राह्मण* 2.3

[21] वाग्वै गायत्री। – *काठक सं०* 23.5; *कपिष्ठ सं०* 36.2

[22] वीर्यं वै गायत्री। – *जैमिनीय ब्राह्मण* 1.309; *ताण्ड्य ब्राह्मण* 7.3.13; *शतपथ ब्राह्मण* 1.3.5.4

[23] अथ यदष्टाकपालो भवति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्री वा इयं पृथिवी। – *शतपथ ब्राह्मण* 5.2.3.5

[24] *ऋग्वेद* 1.1.1

[25] यज्ञो वै गायत्री। – *शतपथ ब्राह्मण* 4.2.4.20

अष्टाकपालं निर्वपति ॥"[26] अष्टकपाल की यह व्यवस्था गायत्री छन्द की संरचना से भी सामञ्जस्य रखती है, क्योंकि गायत्री तीन पादों वाला छन्द है और प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। इसी साम्यता के कारण अग्नि को आठ कपालों पर पकाए गए पुरोडाश (बाटी) की हवि अर्पित की जाती है। वेदों में वर्णित कतिपय मन्त्रों में अग्नि की स्तुति गायत्री छन्द द्वारा किए जाने का वर्णन प्राप्त होता है।

सोमयाग के सन्दर्भ में भी गायत्री का वर्णन प्राप्त होता है, सोमयाग के पाँचवें दिन सुत्या प्रयोग (सोमवल्ली को कूटकर देवताओं को सोमरस प्रदान करना) किया जाता है। इस प्रयोग में देवताओं के निमित्त सोमरस की आहुतियाँ दी जाती है, इन आहुतियों को सवनों के रूप में प्रदान किया जाता है, प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रातःसवन का प्रयोग गायत्री के माध्यम से सम्पन्न होता है।[27] इस प्रकार ब्राह्मण साहित्य में गायत्री को पृथ्वी, अग्नि, छन्द, यज्ञ और सवन – इन सभी के केन्द्रबिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जो वैदिक यज्ञ परम्परा की एकाकार संरचना को उजागर करता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि ब्रह्म ही गायत्री है।[28] *अथर्ववेद* में गायत्री मन्त्र को भिन्न रूप से दर्शाया गया है, इसमें गायत्री देवी की कल्याण करने वाली एवं ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति कराने वाली देवी के रूप में स्तुति की गई है –

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥[29]

भावार्थ : वेदमाता गायत्री अपने उपासक को दीर्घायु, आरोग्यता, सन्तति, यश, कीर्ति, गौ आदि पशुधन, धन-धान्य और ब्रह्मतेज प्रदान करती है तथा अन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराती है।

काठक संहिता में गायत्री देवी का वर्णन पक्षी के रूप में किया गया है, वह पक्षी रूप धारण करके इस मृत्युलोक से स्वर्गलोक की प्राप्ति कराती है।[30] *तैत्तिरीय ब्राह्मण* में बताया गया है कि इस ब्रह्माण्ड में जो भी पदार्थ दृश्यमान होते हैं, वे सब गायत्री के रूप में ही परिलक्षित हैं। मास, ऋतु और संवत्सर ये सभी गायत्री के स्वरूप में ही विद्यमान हैं।[31] *गोपथ ब्राह्मण* में बताया गया है कि यह जो तेज है, वह गायत्री है, यह ही पापयुक्त अन्धकार (रात्रि) को नष्ट करके तेजरूप प्रकाश से जगत् को प्रदीप्त करती है।[32] गायत्री देवी हमें प्रकाशयुक्त करती हुई दीप्तिमान, तेजयुक्त बनाती है। यह हमारे अन्तःकरण के शत्रुओं – आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्यादि का शमन करती है। *शतपथ ब्राह्मण* में गायत्री को फलदात्री माना है, यह गायत्री देवी अपने साधकों के लिए समस्त कामनाओं को पूर्ण करने के कारण श्रेष्ठ है।[33]

मनुस्मृति में गायत्री मन्त्र की महिमा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। मनु ने कहा है कि सन्ध्या समय में सावित्री (गायत्री

---

[26] *तैत्तिरीय ब्राह्मण* 1.8.4.1

[27] गायत्रीमेव तत्पुरस्तात्प्रातःसवनेऽचीक्लृपताम्। – *ऐतरेय ब्राह्मण* 3.12

[28] ब्रह्म वै गायत्री। – *ऐतरेय ब्राह्मण* 3.34

[29] *अथर्ववेद* 19.71.1

[30] गायत्री पक्षिणी भूत्वा स्वर्गं लोकमपतत्। – *काठक संहिता* 21.04; *कठ संहिता* 31.19

[31] सम्वत्सरो वै गायत्री। – *तै० सं०* 2.4.3.2

[32] तेजो वै गायत्री, तमः पाप्मा रात्रिः, तेन तेजसा (गायत्री रूपेण), तमः पाप्मानं (रात्रिरूपेण) तरन्ति। – *गोपथ ब्राह्मण* 2.5.3

[33] इयं गायत्री .... सर्वान् कामान् दोहाता । – *शतपथ ब्राह्मण* 4.2.4.21

मन्त्र) का जप करने से वही पुण्य प्राप्त होता है, जो वेदपाठ से मिलता है।[34] मनुस्मृतिकार कहते हैं कि जो इस सावित्री मन्त्र का जप करता है, वह मन्त्रजप के प्रभाव से वायु के समान अदृश्य होकर परमपिता परमेश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करता है।[35] मनु पुनः कहते हैं कि सावित्री मन्त्र से बढ़कर और कोई भी प्रभावशाली मन्त्र नहीं है। यह चान्द्रायण व्रत से भी अधिक श्रेयस्कर है।[36] शास्त्रों में गायत्री मन्त्र की उत्पत्ति के विषय में बताया जाता है कि –

सर्वेषामेव वेदानां गुह्योपनिषदां तथा।
सारभूता तु गायत्री निर्गता ब्रह्मणोमुखात्॥[37]

अर्थात् – सब वेदों और गुह्य उपनिषदों का साररूप ब्रह्माजी के मुख से गायत्री मन्त्र के रूप में प्रकट हुआ। इसी कारण सामान्यतः गायत्री मन्त्र की स्तुति माता गायत्री के प्रति की जाती है।

गायत्री रहस्यम् में लिखा है कि गायत्री की उपासना से मनुष्य को आत्म-शक्ति की प्राप्ति होती है। आत्म-शक्ति प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि आत्मनिष्ठ बन जाती है। आत्मनिष्ठ बुद्धि के विकास से मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार होता है और आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त मनुष्य परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करता है।

गायत्र्युपासनाकरणादात्मशक्तिस्तु लभ्यते।
प्राप्यते क्रमशोऽजस्य सामीप्यं परमात्मनः॥[38]

अर्थात् गायत्री की उपासना से मनुष्य को आत्म-शक्ति की प्राप्ति होती है। मनुष्य में सद्बुद्धि, सद्विचार और सद्धर्म का उदय होता है एवं सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जो गायत्री की साधु रीति से उपासना एवं निरन्तर साधना करता है गायत्री उसकी रक्षा करती है।[39] *स्कन्द पुराण* के काशीखण्ड में बताया गया है जो गायत्री की उपासना सम्यक् प्रकार से करता है, गायत्री उसको क्या-क्या नहीं देती अर्थात् सब कुछ प्रदान कराती है।[40] गायत्री की महिमा *देवीभागवत* में बताई गई है कि गायत्री जप से ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्ति मिल जाती है।[41] द्विजों को गायत्री जप से ब्रह्मवर्चस्व की प्राप्ति होती है। गायत्री के जप के समान दूसरा कोई जप नहीं है।[42]

इस प्रकार सामान्य चिन्तन के माध्यम से गायत्री देवी का वर्णन किया गया है तथा उनसे अभय-वर प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है।

मध्यम दृष्टिपरक चिन्तन

---

34 सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते। – *मनुस्मृति* 2.78

35 स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्। – *मनुस्मृति* 2.82

36 सावित्र्यास्तु परं नास्ति। – *मनुस्मृति* 2.83

37 छन्दोगपरिशिष्ट, *गायत्री पुरश्चरण*, पृ० 3.

38 *गायत्री रहस्यम्*, पृ० 29.

39 गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं। गायति च त्रायते च। – *छान्दोग्योपनिषद्* 3.12.1

40 किं किं न दद्याद्गायत्री सम्यगेवमुपासिता। – *स्कन्द पुराण*, काशीखण्ड 9.56

41 गायत्री ब्रह्महत्याप्रणाशिनी। – *देवीभागवत* 11.17.1

42 न गायत्र्या परं जप्यं न व्याहृति समं हुतम्। – शंकराचार्यकृत *गायत्री भाष्य*, पृ० 2

मध्यम दृष्टि के चिन्तन में सविता (आदित्य) देवता की महिमा का वर्णन है। गायत्री मन्त्र में मुख्यतः सविता देव को आधार बनाकर सूर्य की प्रार्थना की गई है। गायत्री मन्त्र में सविता को ही प्रेरक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः इस मन्त्र को सावित्री मन्त्र कहा जाता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्गत "गायत्र्युपासना ब्राह्मण" में गायत्री उपासना का विशेष वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि गायत्री की साधना से ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति होती है तथा जगद्रूपा, त्रिपदा गायत्री अपने तीनों पादों सहित आदित्य (सूर्य) में प्रतिष्ठित मानी गई हैं।[43]

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णन है कि सृष्टि को प्रकाशमय करने के लिए हिरण्यगर्भ से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा वह जगत् के नेत्र के रूप में द्युलोक में व्याप्त हुआ, उसी से समस्त प्राणी प्रेरणा प्राप्त कर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।[44] *शतपथ ब्राह्मण* में भी यह कहा गया है कि आदित्य ही इस सम्पूर्ण जगत् को देदीप्यमान करते हैं, अर्थात् वही समस्त प्राणियों के प्रेरणास्रोत हैं।[45] रात्रि के व्यतीत होने पर जब सूर्योदय होता है, तब सभी प्राणी अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं तथा जब सूर्य अस्ताचल की ओर गमन करते हैं, तब प्राणी अपने कार्यों को त्यागकर शिथिल हो जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है कि सविता (सूर्य) समस्त देवताओं के भी प्रेरक हैं।[46]

सूर्योपनिषद् के अनुसार सूर्य ही इस जड़-चेतन सृष्टि की आत्मा हैं। सूर्य से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है। सूर्य से ही यज्ञ, अन्न तथा आत्मा का आविर्भाव होता है।[47] इसमें यह भी प्रतिपादित किया गया है कि आदित्य से ही वायु, भूमि, जल, तेज, आकाश, दिशाएँ, देव तथा वेद उत्पन्न हुए हैं। सूर्य से ही यह ब्रह्माण्ड तप्त एवं प्रकाशित होता है तथा वही समस्त सृष्टि के कर्ता-धर्ता हैं।[48] वृक्ष और वनस्पतियाँ सूर्य की प्रेरणा से ही वृद्धि प्राप्त करती हैं और उन्हीं के प्रकाश से समस्त जगत् को ऊर्जा प्राप्त होती है। जिस प्रकार सूर्य रात्रि के अन्धकार को नष्ट करते हैं, उसी प्रकार वे हमारी बुद्धि को पापमार्ग से दूर करें। जैसे सूर्य सभी कर्मों के प्रेरक हैं, वैसे ही वे हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें। जिस प्रकार सूर्य देवता सम्पूर्ण जगत् को प्रेरणा प्रदान करते हैं, उसी प्रकार वे हमारी बुद्धि को प्रेरित करें।

गायत्री मन्त्र का मूल अर्थ इस प्रकार है –

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥[49]

शब्दार्थ – **ॐ** (प्रणव) एकाक्षर, परमात्मा का नाम, **भूः** पृथ्वीलोक, **भुवः** अन्तरिक्षलोक, **स्वः** द्युलोक, **तत्** उस, **सवितुः** सविता (सूर्य) का, **देवस्य** देव का, **वरेण्यम्** वरण करने योग्य, पूज्य, **भर्गः** तेज, **धीमहि** ध्यान करते हैं, **यः** वह सविता देव, **नः** हमारी, **धियः** बुद्धि को, **प्रचोदयात्** सत्कर्मानुष्ठान की प्रेरणा दें।

भावार्थ – प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशमान और सर्वान्तर्यामी रूप से जगत् को प्रेरित करने वाले जगत्स्रष्टा सविता देवता की हम प्रार्थना करते हैं। भर्ग अर्थात् अविद्या का नाश करने वाला तेज, अन्न और धन के आधारभूत सूर्यदेव हमारी बुद्धि को प्रेरित

---

43 शङ्कराचार्य *भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्* 5.14.4

44 चक्षो: सूर्यो अजायत। – *ऋग्वेद* 10.90.13

45 एष वै सविता य एष (सूर्यः) तपति। – *शतपथ ब्राह्मण* 3.2.3.18

46 सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृद्ध्यन्ते तत्सवितुर्वरेण्यमित्यादि। – *शतपथ ब्राह्मण* 2.3.4.39

47 सूर्य आत्मा.........सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा। – *सूर्योपनिषद्* 3

48 *सूर्योपनिषद्* 4

49 *शुक्ल यजुर्वेद* 36.3

करें। उनके प्रसाद से अन्नादि रूप फल प्राप्त होते हैं और वे हमें जीवन-निर्वाह की शक्ति प्रदान करें।

जगत् के आत्मस्वरूप सूर्यनारायण देव हमारी धियः – अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे कर्मों का निश्चय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को प्रकाशित तथा प्रेरित करें।

इस मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ भी यही है कि सूर्यदेव हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर उन्मुख करते हैं और जीवन में सही दिशा प्रदान करते हैं। ऐसा कहा गया है – "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्" अर्थात् आरोग्यता की प्राप्ति के लिए भास्कर (सूर्य) की आराधना करनी चाहिए।

शौनकाचार्य ने *बृहद्देवता* में समस्त स्थावर और जङ्गम जगत् का स्रोत सूर्य को माना है। वे लिखते हैं कि कुछ श्रेष्ठजन यह मानते हैं कि जो कुछ अतीत में था, वर्तमान में है अथवा भविष्य में होगा – और जो कुछ स्थावर-जङ्गम जगत् के रूप में विद्यमान है, उन सभी का प्रभव एवं प्रलय का कारण केवल सूर्य ही है।[50] सूर्य अपने को तीन भागों में विभक्त करके तीनों लोकों में प्रतिष्ठित हैं। वे ही अन्य सभी देवताओं को यथाक्रम अपनी किरणों से निविष्ट रखते हैं।[51] सूर्य की महिमा का वर्णन करते हुए *मैत्रायण्युपनिषद्* में परमात्मा को दो प्रकार के स्वरूपों में दर्शाया गया है, प्रथम प्राण (आत्मा) के रूप में एवं द्वितीय आदित्य के रूप में। इसमें बताया गया है कि यही दोनों सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, जिसमें सूर्य को जगत् की बाह्य आत्मा माना गया है। ये आदित्य अग्नि के रूप में आकाश में प्रतिष्ठित हैं। सूर्य को "काल" नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि यह अदृश्य होकर सर्वभूतरूपी अन्न का भक्षण करते हैं।[52] *तैत्तिरीय आरण्यक* में सूर्य को ब्रह्म के रूप में सम्बोधित किया गया है। जो प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त के समय प्रार्थना करता है, वह जीवन में सदैव शुभता और कल्याण को प्राप्त करता है।[53]

संस्कृत वाङ्मय में अनेक देवताओं का वर्णन प्राप्त होता है। उदाहरणस्वरूप, *बृहदारण्यकोपनिषद्* में तैंतीस देवताओं का उल्लेख मिलता है।[54] तथापि बुद्धिमान् जन उस परमात्मा को एक मानते हैं, जो कार्य और कारण के रूप में विविध स्वरूपों में परिलक्षित होते हैं –

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥[55]

ऋग्वेद के अनुसार वह सत् (सत्य या परमतत्त्व) एक ही है, परन्तु मेधावी जन उसे विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं। भिन्न-भिन्न कार्यों और प्रभावों के अनुसार उसी एक सत्य को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि नामों से जाना जाता है।

सायणाचार्य ने इस ऋचा की व्याख्या करते हुए *सर्वानुक्रमणी* का उद्धरण दिया है कि एक महान् आत्मा सूर्य देवता ही है।[56] विराट् पुरुष (प्रजापति) ने सूर्य को इस जगत् की आत्मा के रूप में स्थापित किया है।[57] *यजुर्वेद* में आदित्य को परमात्मा का स्वरूप बताया गया है, जो आदित्य के रूप में जगत् को प्रकाशयुक्त करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि उसी परमात्मा में व्याप्त है

---

50 भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च। अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥ – *बृहद्देवता* 1.61

51 *बृहद्देवता* 1.63.

52 द्विधा वा एव आत्मानं। – *मैत्रायण्युपनिषद्* 5.1-2

53 उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन्कुर्वन्ब्राह्मणो विद्वान्त्सकलं भद्रमश्नुतेऽसावादित्यो ब्रह्मेति। – *तैत्तिरीयारण्यक* 2.2.2

54 *बृहदारण्यकोपनिषद्* 3.9.2.

55 *ऋग्वेद* 1.164.46.

56 एकैव वा महानात्मा देवता स सूर्य इत्याचक्षते। – *सर्वानुक्रमणी* 2.14-15

57 सूर्यऽआत्माजगतस्तस्थुषश्च। – *शुक्ल यजुर्वेद* 36.24

और हम उसे कार्यभेद के कारण सूर्य-चन्द्रमा आदि के रूपों में देखते हैं। इसका प्रमाण *शुक्ल यजुर्वेद* में प्राप्त होता है –

तद् एवाग्निस् तद् आदित्यस् तद् वायुस् तद् उ चन्द्रमाः।
तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥[58]

भावार्थ – वह ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु और चन्द्रमा है। वही सम्पूर्ण संसार के मूल कारण (बीज) है। जल और प्रजापति भी उसी ब्रह्म के ही स्वरूप हैं।

इस प्रकार मध्यम दृष्टि में गायत्री मन्त्र के माध्यम से मुख्यतः सूर्यदेव की उपासना की गई है और ये सूर्यदेव बुद्धि को प्रेरित करने वाले देव माने गए हैं।

उत्तम दृष्टिगत चिन्तन

उत्तम दृष्टिपरक मन्त्र के चिन्तन में परमपिता परमेश्वर गायत्री मन्त्र के सर्वप्रमुख देव माने गए हैं, उनकी आज्ञा से ही सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य देवता अपने-अपने कार्य सम्पन्न करते हैं। व्याख्याकारों ने इस उत्तम दृष्टिपरक मन्त्र का अर्थ इस प्रकार बताया है – वे जगत्कर्ता परमेश्वर हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

हम उस अनादि परमेश्वर की उपासना करते हैं, जिन्होंने इस संसार का सृजन किया और जो सच्चिदानन्द स्वरूप त्रैकालिक सत्ता (अतीत, वर्तमान और भविष्य) में सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। वे बाह्य जगत् में परमात्मा के रूप में तथा आभ्यन्तर जगत् में आत्मा के रूप में अवस्थित हैं। मेधावी जन मानते हैं कि जगत्स्रष्टा परमात्मा एक ही हैं, वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त हैं और यह समस्त सृष्टि उन्हीं में समाहित है।[59] परब्रह्म ने सूर्य, चन्द्रमा सहित सम्पूर्ण विश्व की रचना की है तथा वही समस्त सृष्टि को नियन्त्रित करते हैं। वही परमात्मा सूर्य को प्रकाश प्रदान करते हैं, वायु को गति देते हैं और अग्नि को ऊपर उठने की शक्ति प्रदान करते हैं।

श्वेताश्वेतरोपनिषद् के अनुसार वह एक अजन्मा, नित्य, शाश्वत और त्रिगुणी है।[60] किन्तु अज्ञान के कारण मनुष्य उन्हें विभिन्न रूपों में देखते हैं। *ऋग्वेद* में इस सत्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूपों (माया) के माध्यम से की गई है। परमात्मा ने अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा अनेक रूप धारण किए और वही माया के कारण विविध स्वरूपों में परिलक्षित होते हैं।[61]

मैत्रायण्युपनिषद् में परमपिता परमेश्वर की अनेक नामों से स्तुति की गई है। वह परमात्मा एक ही है, परन्तु सत्त्व, रज एवं तम गुणों की प्रधानता से वह विष्णु, ब्रह्मा एवं महेश के रूपों के साथ अष्टवसु, एकादश रुद्र एवं द्वादश आदित्य और अन्य अगणित रूपों में उत्पन्न हुए। वही समस्त प्राणियों के अधिष्ठाता हैं तथा वही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से जगत् में आत्मा के रूप में विद्यमान हैं।[62]

गायत्री मन्त्र में आध्यात्मिक चिन्तन से ज्ञात होता है कि यह मन्त्र जीव और परब्रह्म की एकता का बोध कराता है। आदिगुरु शङ्कराचार्य ने इस मन्त्र की अत्यन्त व्यवस्थित आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार –

ॐ प्रणवरूप में परमात्मा है जो "**भूः, भुवः, स्वः**" इन तीनों लोकों में व्याप्त होकर समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। "**धियो**

[58] *शुक्ल यजुर्वेद* 32.1.
[59] ईशावास्यमिदं सर्वम्। – *शुक्ल यजुर्वेद* 40.1
[60] अजामेकाम्। – *श्वेताश्वेतरोपनिषद्* 4.5
[61] इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। – *ऋग्वेद* 6.47.18
[62] तमो वा इदमेकमास तत्पश्चात्परेणेरितं – *मैत्रायण्युपनिषद्* 5.2

यो नः प्रचोदयात्" अर्थात् वह परब्रह्म हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करते हैं। वही अन्तःकरण का प्रकाशक, समस्त जीवों का साक्षी और प्रत्यगात्मा (अन्तर्यामी परब्रह्म) है। "**तत्सवितुः**" शब्द में तत् शब्द परब्रह्म की सिद्धता (नित्य, शुद्ध, परिपूर्ण स्वरूप) को सूचित करता है। श्रीकृष्ण भगवान् *गीता* में तत् शब्द के विषय में बताते हैं कि उस परमेश्वर को **ॐ, तत्** और **सत्** इन तीन नामों से जानकर साधक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का स्मरण करता है।[63] "**सवितुः**" अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय के अधिष्ठाता परब्रह्म का बोधक है। यह द्वैतप्रपञ्च (संसार) जो भी दिखाई देता है, वह सब उसी सविता-परब्रह्म के द्वारा सञ्चालित है। साधक इन सविता रूपी परब्रह्म का अभेदरूप से ध्यान करता है। "**वरेण्यम्**" जो सबके द्वारा वरण करने योग्य (वरणीय), परिपूर्ण आनन्दस्वरूप और नित्य प्रिय है। "**भर्गः**" जिसका तेज अविद्या और दोषों को भस्म (दग्ध) कर देता है, जो केवल ज्ञान का विषय है तथा संसार के समस्त क्लेशों का नाशक है। "**देवस्य**" सभी को प्रकाशित करने वाले, उसी के प्रकाश से यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रकाशमान है।[64] अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म – जिसने सभी को उत्पन्न किया, उन्हीं का हम "**धीमहि**" अभेदरूप से चिन्तन-मनन करते और उन्हें अपनी धारणा में धारण करते हैं।[65] वही तेजोमय परब्रह्म हमें प्रतिकूल परिस्थितियों में धैर्य और सामर्थ्य प्रदान करते हैं।

उत्तम दृष्टि का तात्पर्य

उत्तम दृष्टि में गायत्री मन्त्र के माध्यम से यह बताया गया है कि –

- परमेश्वर ही इस स्थावर-जङ्गम रूप सृष्टि में व्याप्त हैं।
- वही परम प्रेरणास्रोत हैं।
- जैसे समस्त विश्व परमात्मा से प्रेरित होकर कार्य करता है, उसी प्रकार हमारी बुद्धि भी उसी परमेश्वर से प्रेरित होकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख हो।

अतः गायत्री मन्त्र में परब्रह्म की उपासना के माध्यम से यह प्रार्थना की गई है कि वही परमात्मा हमारी मेधा-बुद्धि, विवेक और धारणा को सही दिशा प्रदान करें।

उपसंहार

प्रस्तुत लेख में गायत्री मन्त्र के भावार्थ को तीन प्रकार से प्रतिपादित किया गया है, जिसमें विद्या की अधिष्ठात्री देवी गायत्री माता से विनती की गई है, सूर्य भगवान् से बुद्धि को प्रकाशित करने की याचना की गई है तथा जगत्कर्ता सच्चिदानन्दघन परमात्मा की स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमारी मेधा-शक्ति को सत्कर्मों में प्रवृत्त करें और ज्ञान एवं संस्कारों से परिपूर्ण बनाएँ।

भारतीय सभ्यता में बुद्धि को नियन्त्रित करने और उसे उच्च दिशा प्रदान करने के लिए अनेक उपाय बताए गए हैं, जिनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि साधन प्रमुख हैं, जिनका विशेष उल्लेख योग दर्शन और सांख्य दर्शन में मिलता है। श्रेष्ठ जनों का अभिवादन, माता–पिता, गुरु और वृद्धों की सेवा से भी सद्बुद्धि की प्राप्ति होती है। महापुरुषों की यही भावना रहती है कि ईश्वर प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे मङ्गलमय मार्ग पर प्रेरित करें, जहाँ सद्बुद्धि सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त हो।

---

[63] ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। – *श्रीमद्भगवद्गीता* 17.23

[64] तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। – *मुण्डकोपनिषद्* 2.2.10

[65] शंकराचार्यकृत *गायत्रीमन्त्र भाष्य*, पृ० 3-5.

हम सभी को भी ऐसी सद्बुद्धि की आवश्यकता है जिसके माध्यम से परोपकार की भावना विकसित हो, हम सभी प्राणियों की सेवा कर सकें तथा अपने प्रत्येक कर्म में दृढ़ और उचित निर्णय ले सकें।

गायत्री मन्त्र का मूल भाव भी यही है कि मनुष्य को योग्य, ज्ञानयुक्त और सदाचार से प्रकाशित सद्बुद्धि प्राप्त हो, जिससे वे जीवन में सत्य, धर्म और सत्कर्मों के मार्ग पर अग्रसर हो सकें।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेद, अथर्ववेद संहिता, सम्पादक शंकर पाण्डुरंग पण्डित, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2021.

ईशादि नौ उपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2075.

उपनिषदां समुच्चयः, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलीः, पुणे, 2022.

ऋग्वेद संहिता (मूलमात्र), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2019.

ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी, उमेशचन्द्र शर्मा, विवेक प्रकाशन, अलीगढ़, 1977.

काठक संहिता, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर संपादित, स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, किल्ला पारडी, संवत् 1998.

गायत्री मन्त्र भाष्य, स्वामी नीलकण्ठानन्द सरस्वती, इण्डो प्रिन्टिंग प्रेस, श्रीनगर, 1975.

गायत्रीरहस्यम्, पं० वेणीराम शर्मा गौड़ वेदाचार्य, चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी, 1994.

गोपथब्राह्मण, गोपथ-ब्राह्मण-भाष्यम्, श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1993.

छान्दोग्यपोनिषद्*, सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित,* गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2013.

जैमिनीय ब्राह्मण, श्रीलोकेशचन्द्रेण परिष्कृतम्, सरस्वती विहारः, नागपुरम्, संवत् 1950.

ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्, जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, बनारस, 1936.

तैत्तिरीयब्राह्मणम् (कृष्ण यजुर्वेद), सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम संस्थान, पुणे, 2008.

बृहदारण्यकोपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2058.

बृहद्देवता, सम्पादक रामकुमार राय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2019.

मत्स्यमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2076.

मनुस्मृति, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, वाराणसी, 2021.

मैत्रायणी संहिता, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर संपादित, स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, किल्ला पारडी, संवत् 1998.

शतपथब्राह्मणम्, एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, कलकत्ता, 1903-11.

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनीयसंहिता, पं० वेणीराम शर्मा गौड़, चौखम्भा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 2021.

श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2067.

श्रीमद्भगवद्गीता, श्लोकार्थसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2080.

स्कन्द पुराण, श्रीस्कन्दमहापुराणम्, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 2012.

Eternal Feminine in Sanātana and Global Civilizations
A Comparative and Dialogical Study

Arooshi Nigam, Prof. Subhash Chandra,** Dr. Avadhesh Pratap Singh****

Abstract: The concept of the "eternal feminine" has emerged in diverse civilizational contexts as both a metaphysical principle and a cultural symbol shaping visions of law, philosophy, social order, and cosmology. This paper undertakes a comparative and dialogical exploration of the feminine principle (*śakti, prakṛti, strī-tattva*) within Sanātana traditions and its resonances across world civilizations, including Greco–Roman philosophical thought, Abrahamic theological frameworks, and comparative world mythologies. By foregrounding the categories of Devī, Ardhanārīśvara, and the *puruṣārtha* scheme alongside Platonic Sophia, the Marian archetype, and Goethe's "eternal feminine", the study illuminates convergences and divergences in the representation and significance of the feminine principle across different knowledge systems. The research employs a threefold approach: textual hermeneutics through close reading of Dharmaśāstras, Purāṇas, and philosophical sources within the Indian tradition; comparative analysis by juxtaposing these with Western philosophical texts, Abrahamic scriptural interpretations, and European literary constructions; and dialogical framework, where categories are not merely placed side by side, but examined for their capacity to enrich, challenge, and transform each other. Methodologically, the study also integrates insights from legal philosophy, gender studies, and cultural hermeneutics, thereby adopting an interdisciplinary lens. The findings suggest that the "eternal feminine" functions both as a transcendent cosmological principle and as an immanent ethical–political guide, informing law, kingship, and morality across civilizations. While Sanātana philosophy tends to integrate the feminine within a cyclical and holistic cosmology, Western traditions often position it in dialogical tension with masculine principles, either as redemptive or mediating archetypes. Despite these

* Research Scholar, Department of Sanskrit, University of Delhi, Delhi, <e-mail: anigam@sanskrit.du.ac.in>

** Corresponding Author, Professor, Department of Sanskrit, University of Delhi, <e-mail: schandra@sanskrit.du.ac.in>

*** Assistant Professor, Department of Sanskrit, University of Delhi, Delhi, <e-mail: apsingh@sanskrit.du.ac.in>

differences, the enduring symbolic power of the feminine across contexts underscores its role as a unifying yet pluralistic principle. The paper concludes that the "eternal feminine" operates as a living conceptual bridge between metaphysics and lived socio-political realities, offering fertile ground for cross-cultural philosophical dialogue in both historical and contemporary settings.

Keywords: Eternal feminine, Sanātana Dharma, civilizational symbolism, comparative philosophy.

Introduction

The figure of the "eternal feminine" (*Ewig-Weibliche*), a term crystallized in Goethe's *Faust II*, has long evoked the philosophical imagination as an archetypal force representing wisdom, creativity, nurturing, and transcendence (Goethe 1994/1832). Although the designation may be modern European, the conceptual reality it indicates of a feminine principle as cosmological, ethical, and metaphysical ground, that has been foundational to the cultural self-understanding of civilizations across the world. In Sanātana traditions, the principle of Śakti is not merely ancillary but central, constituting the very dynamism of existence. This paper undertakes a dialogical and comparative exploration of this theme, placing Indic formulations in Sanskritic texts in conversation with Greco–Roman, Christian, Islamic, and modern Western cultural paradigms. The introduction is thematically arranged, comprising of Indic perspectives, Western perspectives, Cross-civilizational resonances, and finally, research gap and aim.

INDIC PERSPECTIVES: ŚAKTI, DEVĪ, AND STRĪ-TATTVA AS METAPHYSICAL GROUND

The Indic civilizational imagination has long perceived the feminine not merely as biological or social identity but as cosmic principle (*tattva*) and ontological necessity. While modern feminist readings sometimes emphasize the patriarchal limitations of Hindu law codes, a deeper hermeneutic of Sanskritic texts reveals a far more complex and integrative vision wherein the feminine emerges simultaneously as metaphysical ground, ethical force, and social regulator. Within the Indic world, the feminine cosmic principle is articulated through multiple categories: *śakti* (power, energy), *devī* (goddess), *prakṛti* (nature), *māyā* (creative potency), and *strī-tattva* (Feminine principle). These concepts cut across Vedic hymns, Upaniṣadic metaphysics, Purāṇic cosmologies, Tāntric cults, and Dharmaśāstric frameworks of law and order.

The feminine principle is not an abstract metaphysics alone but embodied in the mythic and cultic proliferation of goddesses (*devī*s) in Indian thought. Unlike monotheistic or dualist traditions, Sanātana Dharma sustains a rich and multilayered pantheon of feminine deities, each symbolizing various aspects of cosmology, society, and ethical imagination.

Lakṣmī embodies wealth, prosperity, and auspiciousness. Yet she is more than an economic Goddess; she symbolizes cosmic order (*śrī*), political legitimacy of kings (as Rājya-Lakṣmī), and household harmony. The classical injunction *yatra nāryastu pūjyante ramante tatra devatāḥ* (*Manusmṛti* 3.56) – "where women are honoured, the gods rejoice" – draws upon this perception of women as embodiment of Lakṣmī's auspicious beneficence.

Sarasvatī, the Goddess of speech, arts, and wisdom, situates the feminine an epistemic medium. Knowledge itself is conceived in feminine form, aligning with the Vedic personification of *vāk* (speech) in the *Ṛgveda*, where *Vāk* declares: "I alone make the priest, king, and seer, he whom I love I make sovereign" (*Ṛgveda* 10.125). Thus, cognitive power and social authority flow through the feminine principle.

Durgā or Kālī represents ferocity, protection, and transformative destruction. In the *Devī-Māhātmya*, Durgā slays the demon Mahiṣāsura when the male gods failed. Her victory affirms not only the supremacy of the feminine principle in cosmic crises but also positions her as the guardian of *dharma* in times of chaos.

Pārvatī or Umā represents the domestic and mediating aspect. In *kaivalya* and Upaniṣadic narratives, Umā teaches even Indra the supreme truth of *Brahman* (*Kenopaniṣad* 3-4). Thus, the feminine instructs the masculine – a reversal of didactic expectations.

Through these deities, the eternal feminine becomes culturally embedded in the daily, ethical, and ritual life of Indian civilization, spanning the roles of a nurturer, protector, benefactor, and teacher.

At the cosmological level, Śakti is not subordinate but co-equal, described as the indispensable dynamism without which *puruṣa* remains inert. It is perhaps the most central Indic concept for thinking the eternal feminine. In Purāṇic traditions, particularly in the *Devī-Māhātmya* (sixth century CE, embedded in the *Mārkaṇḍeya Purāṇa*), Śakti is elevated as Mahādevī – the supreme deity herself, from whom even Brahmā, Viṣṇu, and Śiva derive their power (Coburn 1991). The text narrates her as the cosmic creatrix,

preserver, and destroyer, embodying both fierce and benevolent dimensions. Unlike Western dualisms that often polarize feminine as "other", Indic Śakti is inherent to cosmic balance; the male principles, while nominally dominant in nomenclature, cannot function without her activating force. Similarly, the *Śvetāśvatara Upaniṣad* speaks of Māyā as the ultimate feminine power that veils and reveals *Brahman* (Radhakrishnan 1953). Far from being a mere illusory principle, *māyā* here is projected as the generative capacity, the womb of existence. Later Vedāntic discourses (especially Śaṅkara and Rāmānuja) nuanced her role differently, Śaṅkara considered *māyā* as *avidyā*, veiling *Brahman*, while Śākta thinkers reframed her as *Brahman*'s dynamic dimension.

In Tantra, this reaches its most radical articulation: Śiva without Śakti is an inert corpse (*śava*). The union of Śiva–Śakti becomes an ontological metaphor for consciousness and energy, static and dynamic, transcendent and immanent, inseparably intertwined. Here, the eternal feminine is not subordinate but a co-principle, the indispensable dynamism without which reality itself is impossible (Gupta 1974).

The Dharmaśāstric tradition, often assumed to be juridical and patriarchal, equally integrates feminine symbolism into law and order. In *Manusmṛti* 3.56, women are identified as embodiments of prosperity (*śrī*), requiring protection not only as dependents but as sacred bearers of continuity. While the text is frequently critiqued for gender hierarchies, a deeper hermeneutic uncovers a sacral recognition of the feminine as auspicious (*māṅgalya*) and essential to the performance of *dharma* (Olivelle 2004). Kingship, too, is informed by feminine principles, land as Bhū-devī, prosperity as Śrī-Lakṣmī, and justice as *dharma-patnī* of the ruler.

In the *puruṣārtha* framework of *dharma*, *artha*, *kāma*, and *mokṣa*; the feminine is often depicted as the force enabling each pursuit: as *dharma-patnī* upholding rites, as Lakṣmī guaranteeing prosperity, as Rati inspiring desire, and as Śakti or Muktidāyinī guiding liberation. Thus, the Indic thought offers not a marginal but an integrative vision of the feminine, one deeply enmeshed in cosmology, law, ethics, and livelihood.

A distinct Indic contribution to the philosophy of the feminine lies in the metaphysics of complementarity, as captured in the figure of Ardhanārīśvara, the deity who is half male and half female, merged into one body. Unlike Western dualisms that often situate femininity as secondary, subordinate, or opposing, Ardhanārīśvara demonstrates that the masculine (*puruṣa*) and feminine (*prakṛti*) principles are not binaries but ontologically inseparable. The iconography symbolizes that creation is possible only in unity. The

philosophical import here is profound: gender is not essence but relational ontology; the feminine and masculine are co-constitutive (O'Flaherty 1980).

FROM VĀK TO ŚAKTI: CONTINUITIES ACROSS TEXTUAL STRATA

One of the strengths of Indic thought is the continuity of feminine presence across textual strata:

- In the Vedic stratum, feminine appears as Vāk (speech), Uṣas (dawn Goddess), and the nourishing earth mothers.
- In the Upaniṣads, feminine appears as Umā teaching brāhmanic knowledge, or as *prakṛti* in Sāṁkhya philosophy.
- In the Purāṇas, the feminine proliferates as multiple goddesses with cosmic and social functions.
- In Tantra, the feminine is supreme, and all rituals are directed to activating Śakti within.
- In the Dhamaśāstras, it is linked with auspiciousness, ritual necessity, and legal order.

This continuity underscores that the eternal feminine in Indic civilization is not an isolated cultic strand but a deeply woven civilizational constant.

WESTERN PERSPECTIVES: FROM PLATONIC SOPHIA TO FEMINIST THEOLOGY

The conceptualizations of the eternal feminine in the Western intellectual heritage are deeply layered and historically dynamic, moving from philosophical and mythic archetypes in antiquity, through theological articulations in Christianity, literary-symbolic reconfigurations during modernity, to psychological and feminist-theological reinterpretations in the contemporary period. While there is no exact semantic equivalent to Śakti (*strī-tattva)* in the Western lexicon, categories such as Sophia (Wisdom), Mary (as theological symbol and mediator), Goethe's *Ewig-Weibliche*, Jung's *anima*, and later feminist critiques serve as dialogical touchstones. Unlike the Indic embedding of the feminine principle within the very structure of cosmology and *dharma*, Western traditions often situate the feminine in a mediatory or ambivalent position, revered and idealized, yet simultaneously circumscribed within patriarchal frameworks.

Platonic Philosophy and the Emergence of Wisdom as Feminine

In Greek philosophy, particularly in Plato's *Timaeus*, the concept of *chōra*, a "receptacle"

or a "nurse of becoming" is described in maternal terms, likened to a womb-like matrix that receives the impressions of eternal forms and gives them spatial manifestation (Plato, *Timaeus* 49a-52d). Although *chōra* is not personified as explicitly feminine in Plato's text, its subsequent reception often interpreted it as maternal substrate, associating generation, receptivity, and space with the feminine principle (Bianchi 1967).

Beyond *chōra*, the Hellenistic era expanded the notion of Sophia (wisdom). In Jewish–Hellenistic texts like *Wisdom of Solomon* and *Philo of Alexandria*, Sophia was elevated as a cosmic mediator, feminine in grammar and imagery, standing by God in the creation of the world. Already here, the feminine principle is framed not as an independent ontological ground but as a mediating aspect of divine wisdom, simultaneously divine and subordinate.

Sophia and Christian Mariology

Christian theology framed femininity ambivalently, both exalted in the Marian figure and circumscribed within patriarchal structures. Early Christian theology absorbed and reconfigured this tradition of Sophia. In several passages of the Septuagint and early Christian writings, Sophia is "begotten before all things", God's companion in creation (*Proverbs* 8:22-31). Church fathers debated Sophia's identity: for some, she was Christ himself as divine logos; for others, an eternal feminine aspect of divine nature (Johnson 2003).

By the medieval period, Sophia became tied to the cult of Virgin Mary. Virgin Mary emerged as the *mater dei*, mediating grace and redemption, resonant with Sophia and yet distinct in theological deployment (Johnson 2003). Similarly, the mystical traditions, from Hildegard of Bingen to the Sufi Ibn Arabī, spoke of divine qualities in feminine terms, frequently employing maternal metaphors for divine mercy (*raḥma*) (Nasr 2009; Schimmel 2003). Marian devotion situated Mary not only as the biological mother of Christ (*mater dei*) but also as the spiritual archetype: mediatrix, the one through whom grace flows. Unlike Śakti, who animates divinity itself, Mary remains within a derivative theological function: closer to Ardhanārīśvara in symbol than Sophia, but lacking in ontological parity. She is exalted (blessed among women) and yet circumscribed by doctrines of obedience, humility, and virginity.

Nevertheless, the Marian archetype has enduring philosophical and artistic resonance, placing the Eternal Feminine at the heart of European civilization's imagery.

The Marian cult in medieval Europe transformed social imagination, structuring ideals of purity, compassion, and nurturing love (Pelikan 1996). At the same time, her institutional incorporation paradoxically reinforced patriarchal controls over actual women, sacralizing femininity as archetype but marginalizing it socially (Ruether 1993).

The Goethean Ewig-Weibliche: Romantic Reinscription

The modern articulation of the "eternal feminine" stems from Goethe's *Faust II* (1994), where the phrase *Ewig-Weibliche zieht uns hinan* (the Eternal Feminine draws us upward) appears in the final chorus of angels. Here, Goethe fuses Christian–Marian motifs with Platonic and esoteric traditions, symbolizing the feminine as the transcendent power guiding humanity toward redemption, resolution, and integration.

Goethe's conception is neither a theological dogma nor a myth, but literary symbolism that synthesizes European inheritances. The eternal feminine becomes the unifying pull of beauty, truth, and grace – embodied in Gretchen's redeemed soul, yet rising beyond individuals into a metaphysical principle. His vision echoes Indic motifs of Śakti as guiding dynamism, and yet differs: rather than an inherent cosmological necessity, Goethe makes the feminine guiding telos, the grace toward which souls aspire (Atkins 2007).

This romantic reconfiguration influenced subsequent poets and philosophers, embedding the eternal feminine as a key trope in German Idealism and literature. Schelling and Novalis spoke of the divine nature as mother; Hegel metaphorically feminized Spirit's "other" before its reconciliation with Absolute knowing. Thus, Romanticism made the feminine central to its metaphysics of art, love, and transcendence.

Depth Psychology and the Feminine Archetype: Jung's Contribution

In the twentieth century, Carl Gustav Jung systematized the archetypal feminine within his psychology of the unconscious. For Jung, every masculine psyche bears an inner "anima", the feminine archetype representing relatedness, emotion, creativity, and guidance toward individuation. The anima mediates between the conscious ego and deeper layers of the unconscious, often appearing in dreams, symbols, and projections (Jung 1968).

In Jung's system, the anima parallels the role of the eternal feminine in Goethean symbolism: guiding, mediating, and integrating opposites within psychic life. However, Jung acknowledges the ambivalence of the archetype – appearing both as a benevolent

guide and destructive seductress – echoing the Western dualism of Madonna vs femme fatale. Compared to Indic frameworks such as Ardhanārīśvara, Jung's anima remains psychologized rather than ontological, but his theory underscores the enduring necessity of feminine symbolism in balancing and integrating human experience.

Feminist Theology and Revisions of the Eternal Feminine

From the mid-twentieth century onward, feminist theologians and philosophers challenged both the idealization and the marginalization of the feminine in Western traditions. Thinkers like Elisabeth Schüssler Fiorenza, Rosemary Radford Ruether, and Elizabeth Johnson interrogated how Mariology and Sophia symbolism, while elevating the feminine symbolically, historically functioned to subjugate women socially. Johnson (2003) calls for reclaiming Sophia as divine Wisdom, not merely as Christological allegory, but integrating women's experiences into theological anthropology.

Feminist philosophers (Irigaray 1985; Kristeva 1984) went further, reading the repression of the feminine in Western metaphysics as symptomatic of phallocentrism. For Irigaray, recovering the feminine means cultivating a "sexuate difference" where feminine subjectivity flourishes, not merely as a mystical archetype but as an embodied identity in culture and discourse. Thus, contemporary feminist thought seeks to re-inscribe the Eternal Feminine as both symbolic richness and lived empowerment, sharply contrasting its earlier symbolic idealizations.

Research Gap

Scholarship on the feminine principle in Indic and Western traditions is substantial, but often remains siloed within distinct disciplinary and cultural frameworks. Indological research has extensively explored Hindu goddesses, Śākta traditions, and the juridical–philosophical roles of women in the Dharmaśāstras and rituals (Coburn 1991; Kane 1930-62; Kinsley 1986), thereby demonstrating the centrality of Śakti, Devī, and related categories in shaping Indian religious and philosophical imagination. In parallel, Western scholarship has produced rich studies on Marian theology, named as Platonic and biblical Sophia, Goethe's *Ewig-Weibliche*, Jung's *anima*, and archetypal psychology (Johnson 2003; Jung 1968; Pelikan 1996).

Despite this depth, there remains insufficient comparative work that engages Indic notions such as Śakti, *strī-tattva*, or Ardhanārīśvara in sustained dialogue with Western conceptualizations of Sophia, Mary, or the eternal feminine in modern European thought. Existing comparative philosophy has often centred on universals such as selfhood,

freedom, or metaphysics of being, but rarely addressed the feminine as an ontological category in its own right.

A further limitation is that much scholarship treats the feminine primarily as a symbolic metaphor, whether in the exalted archetypes of Mary and Sophia, or in the mythic grandeur of Śakti and Lakṣmī, without adequately probing its status as a constitutive philosophical principle shaping metaphysics, law, cosmology, political thought, and social ethics. Even when comparative attempts are made, they too often collapse into generalized typologies (e.g. the Great Mother motif), lacking the nuance of a dialogical framework where categories interact to mutually illuminate, interrogate, and transform one another.

Research Aims

The aim of this paper is twofold:

- To conduct a rigorous comparative and dialogical study of the "eternal feminine" across Indic (Śakti, Devī, *strī-tattva,* and Ardhanārīśvara) and Western (Sophia, Mary, Goethe's Eternal Feminine, Jung's *anima* and feminist theology) traditions.
- To argue that the eternal feminine is not only a symbolic motif but a pluralistic metaphysical principle simultaneously transcendent and immanent – structuring cosmology, law, kingship, and ethics across civilizations.

By doing so, the paper seeks to reposition the "eternal feminine" as a neglected yet unifying philosophical category that bridges the metaphysical reflection and sociocultural praxis, opening fresh pathways for comparative philosophy, theology, and gender studies.

Research Objectives

1. To examine Indic formulations of the feminine principle across Vedic, Upaniṣadic, Purāṇic, Dharmaśāstric, and Tāntric frameworks, focusing on Śakti, Devī*, strī-tattva,* and Ardhanārīśvara.
2. To analyse Western articulations of the eternal feminine, including Platonic Sophia, Christian Mariology, Goethe's *Ewig-Weibliche*, Jung's *anima*, and feminist-theological reinterpretations.
3. To identify convergences and divergences between Indic and Western traditions in their philosophical, theological, and symbolic constructions of the feminine principle.

4. To construct a dialogical comparative synthesis, where categories are not merely juxtaposed but are allowed to challenge, enrich, and transform one another.
5. To demonstrate the contemporary relevance of the eternal feminine as a cross-civilizational principle capable of informing debates in ethics, law, cosmology, and gender theory.

Hypothesis

This paper hypothesizes that the eternal feminine operates as a civilizational constant across global traditions but is articulated through distinct metaphysical grammars:

- In the Indic world, the feminine is ontologically constitutive and complementary (Śakti is inseparable from *puruṣa*, Ardhanārīśvara is co-essentiality, and *strī-tattva* is embedded in *dharma*).
- In Western frameworks, the feminine is mediatory and often hierarchically ordered (Sophia as wisdom mediator, Mary as mediatrix, Goethe's eternal feminine as eschatological guide).

Despite these divergences, a dialogical encounter reveals significant convergences – fertility, causation, redemption, and guidance recur universally as feminine functions – pointing to the eternal feminine as both unifying horizon and pluralistic category. This dialogical approach thus contributes to comparative philosophy by reframing the Eternal Feminine not merely as a cultural symbol but as a philosophical principle mediating metaphysics and lived reality.

Methodology

This study adopts an "interdisciplinary and dialogical comparative methodology", combining textual hermeneutics, philosophical analysis, and cultural theory to investigate the concept of the eternal feminine across Indic and Western traditions. The overarching aim is to move beyond superficial typologies and isolated interpretations, toward a robust dialogue that reveals both convergences and divergences in conceptualizing the feminine as a metaphysical, juridical, and an ethical principle.

TEXTUAL HERMENEUTICS OF PRIMARY SOURCES

The analysis begins with a close reading of Indic primary texts, including the Upaniṣads, Dharmaśāstras (e.g. the *Manusmṛti* and *Yājñavalkyasmṛti*), and key Purāṇas such as

the *Devī-Māhātmya*. These texts reveal how the feminine principle (Śakti, Devī, *strī-tattva*) is situated within cosmology, law, and ritual praxis. The hermeneutic method involves contextualizing these sources historically and philologically, while interpreting their symbolic and normative content regarding feminine ontology and agency. In parallel, Western canonical texts are examined, including Platonic dialogues (notably *Timaeus*), patristic and medieval Christian theological writings on Sophia and Marian doctrine, Goethe's *Faust II*, and Jungian analytical psychology. Feminist theological critiques and contemporary philosophy also inform the reading. The goal is to uncover the manifold modes through which the eternal feminine is conceptualized as wisdom, grace, mediation, and psychic archetype.

COMPARATIVE PHILOSOPHICAL ANALYSIS

Rather than treating Indic and Western traditions as isolated systems or merely cataloguing similarities, this study pursues comparative philosophy grounded in "dialogical engagement". This involves placing categories – such as Śakti and Sophia, Ardhanārīśvara and Mary, *strī-tattva* and feminist theology – in direct conversation, enabling mutual critique ,and reinterpretation rather than static juxtaposition. This dialogical lens foregrounds philosophical questions concerning ontology, metaphysics, law, and ethics, exploring how the feminine principle shapes conceptions of the cosmos, social order, and human identity. The method thus privileges dynamic interaction over static comparison.

INTERDISCIPLINARY FRAMEWORK

The study integrates insights from gender studies, legal and political philosophy, and religious studies. It attends to how gendered metaphors and archetypes inform juridical codes and political ideologies in both Indic and Western contexts. Drawing on feminist critiques, the research problematizes patriarchal readings and recovers the emancipatory potential latent within feminist theological and dhārmic traditions.

THE DIALOGICAL FRAMEWORK: BEYOND EAST–WEST BINARY

A key methodological innovation is the commitment to a dialogical framework that resists reductive East–West binaries. This approach treats both Indic and Western traditions as philosophically rich and mutually generative interlocutors. It avoids essentializing either stream while acknowledging their distinct epistemic grammars and socio-historical horizons. By focusing on the dialogical capacities of feminine categories, the study seeks a pluralistic philosophical space – a "third space" where the eternal feminine emerges as a shared metaphysical principle with culturally inflected

enactments. This framework opens possibilities for contemporary ethical, legal, and political thought informed by trans-civilizational exchange.

Cross-Civilizational Resonances: Toward a Dialogical Synthesis

The recurrence of feminine archetypes across civilizations testifies to the deep universality of what Goethe encountered as the *Ewig-Weibliche*, the eternal feminine. Comparative mythology (Campbell 1969; Eliade 1958) demonstrates how archetypal figures such as Mesopotamian Ishtar, Egyptian Isis, Greek Demeter and Persephone, or Native American Earth Mothers embody creativity, fertility, transformation, and mediation between mortal and divine. These archetypes reveal an enduring human intuition: that the cosmos, morality, and social order are incomplete without the feminine principle. Yet, despite this recurrence, distinct philosophical and theological traditions have framed and coded this principle in divergent ways, giving rise to specific emphases, metaphysics, and imaginal structures.

ŚAKTI AND EWIG-WEIBLICHE: ENERGY AND TELEOLOGY

In Sanātana philosophy, Śakti is the very energy of existence, inseparable from *puruṣa*. She is both transcendent and immanent, cosmic potency as well as an embodied Goddess. By contrast, Goethe's *Ewig-Weibliche* functions less as an ontological necessity and more as a teleological guide. In *Faust II*, the eternal feminine draws the soul "heavenward", signifying the redemptive pull of beauty and grace.

This difference marks a civilizational divergence. While Indic ontology insists that without feminine dynamism (Śakti), being itself is inert (Śiva without Śakti is *śava*), the Goethean formulation suggests that without the eternal feminine, human destiny remains unrealized but not structurally impossible. Thus, one tradition grounds existence in feminine energy, while the other elevates the feminine as salvific horizon. Convergences appear in their shared function as guiding principles of transcendence: Śakti enables liberation (*mokṣa*) by animating both worldly pursuit and spiritual ascent, just as Goethe's Eternal Feminine inspires transcendental striving.

ARDHANĀRĪŚVARA AND SOPHIA–MARY: COMPLEMENTARITY VS MEDIATION

The figure of Ardhanārīśvara in Indic traditions embodies the ontological complementarity of masculine and feminine, fused within a single form. Masculinity (Śiva/*puruṣa*) and femininity (Śakti/*prakṛti*) are not separate halves confronting one another but two principles constitutively whole only in union. Gender here is not opposition but ontological co-dependence.

In the West, however, the feminine is often conceptualized as a mediatrix rather than an ontological equal. Sophia serves as divine wisdom mediating between God and creation; Mary, as *mediatrix of all graces*, stands between Christ and humanity. Both cases highlight tension between masculine transcendence and feminine mediation. Rather than being structurally integral to divinity (as in Ardhanārīśvara), the feminine serves an intermediate role – respected, exalted, yet hierarchically ordered.

This reflects a broader divergence: Indic thought internalizes gender complementarity at the level of metaphysical ontology, while Western–Christian traditions situate femininity relationally, within a vertical hierarchy between deity, humanity, and salvation. Yet both indicate that no cosmological or spiritual scheme is complete without feminine participation, whether as an equal partner or as a mediating bridge.

STRĪ-TATTVA AND FEMINIST THEOLOGY: SACRED LAW AND CRITICAL RECONSTRUCTION

The Dharmaśāstra category of *strī-tattva* integrates the feminine into law and order. The wife (*dharma-patnī*) validates and sustains ritual action, societal continuity, and kingship legitimacy. *Strī-tattva* operates as a juridical principle, embedding the feminine into normative structures of *dharma*. Despite patriarchal inflections, the underlying metaphysical framework regards woman not as marginal but as essential to *dharma* itself (Kane 1930-62).

Feminist theology offers a resonant yet critical counterpart. Figures such as Elizabeth Johnson (2003) and Rosemary Ruether (1993) emphasize that in Western theology, the archetypal exaltation of Mary or Sophia historically functioned to devalue real women. Feminist re-readings demand that the feminine be reinterpreted not merely as symbolic ideal but as a concrete theological and anthropological principle. Here arises a cross-civilizational synergy: just as *strī-tattva* insists women's integral role in sustaining sacred and civil order, feminist theologians argue for the indispensable inclusion of women's experiences in any meaningful theology. The Indic sacred embedding and the Western critical reconstruction converge in affirming feminine indispensability, though pursued through different hermeneutics.

MYTHIC ARCHETYPES AND SHARED SYMBOLISM

Beyond textual philosophies, cross-cultural patterns of Goddess figures such as Isis, Demeter-Persephone, Lakṣmī, Kālī, and Pachamama suggest shared archetypes of

fertility, nourishment, and transformation. These mythic figures embody the cyclical rhythms of nature, death, and rebirth, linking the feminine principle to agriculture, time, and social continuity.

Comparing Demeter-Persephone and Lakṣmī or Śrī is particularly revealing. Demeter, associated with harvest, loss, and return, embodies the seasonal cycle of grief and regeneration. Lakṣmī guarantees prosperity and auspiciousness, cyclically tied to ritual honour in households. Both encapsulate the feminine as guarantors of continuity, abundance, and cyclical renewal. Similarly, Isis of Egyptian lore parallels Durgā in her protective and sovereign role, each epitomizing the feminine as guardian of divine order. Thus, across civilizations, the feminine embodies the life-sustaining continuity while also mediating transformations of crisis.

Structural Parallels and Divergences

The comparative study of the eternal feminine across Indic and Western traditions reveals a complex interplay of shared motifs and contrasting philosophical structures. Despite common symbolic functions, fertility, mediation, and moral guidance, these traditions articulate the feminine principle through distinct ontological, theological, and socio-political frameworks. The following points elaborate key structural parallels and divergences that shape how femininity is conceived and enacted.

ONTOLOGY VS MEDIATION

In Indic philosophy, Śakti is conceived as ontological power, intrinsic and constitutive of reality itself. She is not a secondary or derivative force but the active *prakṛti* (creative energy) without which *puruṣa* (consciousness) remains inert. This metaphysical positioning situates the feminine principle as fundamental to being, inseparable from cosmic existence and dynamism (Gupta 1974). Śakti undergirds creation, sustenance, and dissolution, thus operationalizing a continuous cosmic energy. Conversely, in many Western traditions – especially within Christianity – the feminine is often framed as mediator between the divine and the world. Figures such as Mary and Sophia do not constitute being itself but serve as intermediaries who communicate grace or wisdom from a transcendent God to creation (Johnson 2003). Their role is relational and sacramental rather than constitutive; they facilitate divine–human interaction, positioning femininity often in a hierarchical order beneath or between masculine divine figures and humanity.

COMPLEMENTARITY VS HIERARCHY

The Ardhanārīśvara icon and concept in Indic thought vividly symbolize the ontological complementarity of masculine and feminine principles. Here, gender polarity is transcended; the masculine (Śiva) and feminine (Śakti) coexist as two inseparable halves of a unified whole. This represents a non-dual awareness, where masculine and feminine energies are equal, co-essential, and mutually constitutive, intricately entwined in the fabric of reality (O'Flaherty 1980). In contrast, Western religious and philosophical systems often maintain a hierarchical schema where the feminine is subordinated or relationally positioned. Mary, as mediatrix, occupies an exalted yet derivative role defined by obedience, intercession, and humility beneath the masculine godhead. Sophia, while revered as divine wisdom, is conceptualized more as an aspect or emanation than an equal principle. This hierarchical mediation reinforces masculinity as transcendent and femininity as intermediary, reflecting deep-seated patriarchal structures (Ruether 1993).

SOCIAL EMBEDDING VS CRITIQUE

In Indic societal structures, *strī-tattva* codifies the sacrality and indispensability of the feminine within legal and social orders. Texts like the *Manusmṛti* and *Yājñavalkyasmṛti* underscore the woman's central role in perpetuating *dharma*, performing rituals, and sustaining prosperity (*śrī*). Women are thus embedded in the very fabric of normative and cosmic order, sacralized as guardians and transmitters of social and spiritual harmony (Kane 1930-62). Western feminist theology, however, often mounts a critical response to the symbolic exaltation of feminine ideals (e.g. Marian purity) that historically coincides with the marginalization of real women's agency (Irigaray 1985; Johnson 2003). Feminist thinkers argue that idealized archetypes, while empowering symbolically, have frequently functioned to uphold exclusionary gender norms. Thus, Western feminist critique demands an authentic inclusion of women's lived experiences and agency within theological, social, and political spheres rather than mere symbolic representation.

COSMIC ENERGY VS ESCHATOLOGICAL GUIDE

Indic traditions articulate Śakti as a continuous cosmic energy, the dynamic force animating the universe at every moment – spontaneously generating, sustaining, and transforming cosmic rhythms (Coburn 1991). This eternal, immanent energy is both creative and destructive, enfolding multiplicity within unity. By contrast, Goethe's *Ewig-Weibliche* frames the eternal feminine as an eschatological and ethical guide, a

transcendent ideal that draws humanity toward spiritual fulfilment, reconciliation, and wholeness (Goethe 1994). The eternal feminine here symbolizes a future-oriented telos rather than an ongoing immanent power – she is a force pulling souls "upward" toward ultimate redemption rather than continuously energizing existence.

POLYVALENCE VS UNITY

The Indic Sanātana tradition embraces a polyvalent and pluralistic feminine – a rich pantheon of goddesses representing diverse powers and attributes: Lakṣmī (prosperity), Sarasvatī (knowledge), Durgā and Kālī (transformation and protection). This multiplicity reflects the feminine's multifaceted role in cosmology, society, and spirituality, resisting over-simplification or reduction to a single archetype (Kinsley 1986). In Western Christianity, Mariology tends toward a unified feminine ideal: the Virgin Mary embodies purity, motherhood, intercession, and grace as a singular, authoritative feminine figure (Pelikan 1996). This synthesis consolidates various feminine virtues and roles into one dominant archetype, which, while resonant and powerful, can obscure the diversity of feminine power found across other cultures and within multiple Western traditions themselves.

Toward a Dialogical Integration

Placing these traditions into dialogue highlights both civilizational constants and differential emphases. The constant lies in recognizing that cosmic, moral, and cultural orders are unsustainable without the feminine principle. Fertility, causation, guidance, and regeneration consistently recur, whether expressed as Indic Śakti, Greek Sophia, Mary, Goethe's Eternal Feminine, or Jung's anima. The divergence lies in metaphysical status: Indic thought integrates the feminine at the ontological level, while Western thought often situates her in relational–symbolic mediation.

The dialogical insight is that each can enrich the other. Indic traditions contribute the vision of ontological complementarity and inseparability, challenging dualistic hierarchies. Western traditions contribute critical theological and feminist reflexivity, challenging archetypal idealization that excludes lived gender realities. Together, they affirm the eternal feminine as not only a mythic–poetic symbol but also a civilizational–philosophical category essential for rethinking cosmology, law, and ethics in a global age.

The Practical Manifestation of the Eternal Feminine: Women as Economic Stewards and Community Builders in Ancient Indic Society

While much of the discourse on the eternal feminine in Indic traditions rightly centres on metaphysical and symbolic dimensions, Śakti as cosmic energy, Devī as embodiment of power, and *strī-tattva* as juridical and philosophical principle, it is equally important to recognize how these ideals found tangible expression in everyday life. The true potency of the feminine principle is reflected not only in religious texts and philosophical abstractions but also in the lived realities of women whose managerial roles shaped the economic, ethical, and social contours of ancient society.

The role of women as the economic stewards and managers of the household in ancient Indic society exemplifies the practical dimensions of the eternal feminine as articulated in Sanātana frameworks. Far beyond symbolic archetypes, the feminine principle manifested in the everyday acts of resource management, culinary creativity, and social organization, domains traditionally presided over by women. The absence of restaurants, processed foods, or convenience outlets meant that women ensured nutritional well-being and financial prudence through the preparation of home-cooked meals using fresh ingredients, reinforcing both family health and economic stability. Similarly, personal adornment was managed within the home, and rituals of self-care replaced the need for commercial beauty salons or parlours, reflecting an ethos of simplicity and self-reliance. Celebrations, festivals, and milestones were marked by communal gatherings at home rather than extravagant banquets, fostering robust familial bonds and intergenerational transmission of customs, while also safeguarding household resources.

Rather than being confined to domesticity in a reductive sense, these roles underscore the dynamism and centrality of the feminine principle in sustaining civilizational values, economic resilience, and social cohesion. The *strī-tattva* as delineated in Dharmaśāstra literature finds resonance not only in philosophical doctrine but also in the lived practices where women orchestrated the balance between material needs and ethical well-being. Their managerial acumen became both a pillar of household prosperity and an invisible engine of collective health and harmony, illustrating how the eternal feminine permeated not only metaphysical and symbolic registers but also the practical spheres of daily life. By foregrounding these aspects, the research demonstrates that the eternal feminine legacy is not limited to worship or myth but extends into the vital, sustaining acts of homemaking, resource stewardship, and community-building that underpinned ancient societies, a heritage with profound implications for comparative civilizational understanding and contemporary discourse on economic and ethical well-being.

Ethnographic studies of Indian village life further confirm the enduring legacy of these roles, where the management of resources, distribution of food, and organization of rituals have long remained domains of feminine expertise.

In the modern context, the advent of urbanization, nuclear families, and market economies has transformed traditional roles, often leading to a diminished recognition of women's economic contributions within the home. Nonetheless, the core values of prudence, nurturance, and community-building associated with the eternal feminine continue to inform contemporary debates on sustainable living and holistic well-being. This continuity and adaptation highlights the resilience and evolving significance of the feminine principle, not only as a metaphysical or symbolic force but as a vital agent of social and economic order across epochs and cultures.

Research Significance and Implications

This study on the eternal feminine in Sanātana and global civilizations contributes significantly to multiple fields by offering a rigorous, dialogical, and cross-civilizational perspective that has hitherto been underexplored. At the crossroads of Indology, comparative philosophy, theology, gender studies, and legal-political thought, the research advances a unified yet pluralistic understanding of the feminine principle as a vital philosophical and cultural category.

By foregrounding the feminine as an ontological and juridical principle – rather than merely a symbolic or patriarchal construct – this work challenges reductive and fragmented narratives pervasive in both Indic and Western scholarship. It reclaims Śakti, Devī, and *strī-tattva* not only as mythic or ritual figures but as active agents shaping cosmology, law, and social ethics. Similarly, it reframes Western figures such as Sophia and Mary from passive archetypes or ideals into dynamic interlocutors in metaphysical and ethical discourse. This dual recovery thickens our understanding of how femininity has functioned structurally in diverse civilizational contexts.

Philosophically, this research pushes the boundaries of comparative metaphysics by treating the eternal feminine as a living category that mediates between transcendence and immanence, metaphysics and social praxis. It thus provides a framework for rethinking old binaries – East/West, sacred/profane, masculine/feminine – opening avenues for more integrative and nuanced global philosophies.

Practically, elucidating the feminine principle's embeddedness in law, kingship, and

ethics has profound implications for contemporary debates in gender justice, political philosophy, and intercultural ethics. Recognizing the feminine as foundational to justice, prosperity, and societal harmony may inspire new models of governance and ethical leadership rooted in pluralistic wisdom traditions.

Lastly, this study's dialogical and pluralistic methodology itself exemplifies an innovative approach to comparative scholarship – one that privileges mutual enrichment over reductive synthesis, respecting difference while seeking common ground. It thus potentially informs future cross-cultural research and global philosophical dialogues beyond the immediate scope of the eternal feminine.

Conclusion

The eternal feminine emerges unmistakably as a civilizational constant, articulated through a rich plurality of vocabularies and philosophical schemas across Sanātana and global civilizations. In Indic traditions, it manifests profoundly as Śakti, the dynamic principle underpinning being itself; as Devī, a multiplicity of Goddess figures shaping ethical, cosmological, and social imagination; and as *strī-tattva*, a foundational juridical and philosophical principle indispensable to the enactment of *dharma* and legitimate rulership. Central to the Indic world view is the metaphysical insight of complementarity rather than antagonism – the masculine and feminine are co-equal, mutually constitutive, and ontologically interdependent.

Western conceptualizations, while sharing striking parallels in portraying the feminine as mediator, redeemer, or wisdom principle, tend toward viewing the feminine as mediatory and hierarchically ordered – positioned between deity and humanity, conscious and unconscious, spirit and body. From the Platonic Sophia to Christian Mariology, Goethe's Romantic *Ewig-Weibliche*, and Jung's archetypal *anima*, the feminine occupies an ambivalent space marked by simultaneous celebration and circumscription, exaltation and limitation. Feminist theology's critical reconstructions further reclaim the feminine as liberative and ontologically central, challenging patriarchal constraints while revitalizing symbolic and lived femininity.

This study's dialogical engagement foregrounds Śakti and *strī-tattva* as vital interlocutors within the global discourse on the eternal feminine, underscoring the need to transcend simplistic East–West binaries. By weaving together Indic and Western philosophies, theological traditions, and psychological insights, the paper reconceives the

eternal feminine as a pluralistic and dynamic principle – one that is neither exclusively Eastern nor Western but a shared horizon of human religio-philosophical imagination.

In doing so, the eternal feminine is revealed as both transcendent and immanent, generative and redemptive, cosmic energy, and ethical guide. It mediates between metaphysics and cultural praxis, shaping law, kingship, cosmology, and moral vision in ways that are deeply embedded and persistently transformative across civilizations. This pluralistic understanding not only enriches comparative philosophy but also opens fertile ground for ethical and intercultural dialogue in the contemporary world, inviting renewed exploration of gender, power, and spirituality that honours both difference and unity.

Acknowledgment

This work is the outcome of the research project funded by the Indian Council of Social Science Research (ICSSR) under the major project scheme 2024-25 (File No.161/2024-25/ICSSR/RP/JM/OBC, dated 19 March 2025). The authors are grateful for the financial support received from ICSSR, New Delhi.

References

Goethe, J. W. (1980). *The Eternal Feminine* New York: Frederick Ungar Publishing.

King, K. L. (1988). *The Religious Sense of the Feminine in Gnosticism* USA: Trinity Press International.

Campbell, J. (1969). *The Hero with a Thousand Faces.* New Jersey: Princeton University Press.

Coburn, T. B. (1991). *Encountering the Goddess: A Translation of the Devi-Māhātmya and a Study of Its New York Interpretation*. New York: State Univer of New York Press.

Eliade, M. (1958). *Patterns in Comparative Religion*. New York: Sheed & Ward.

Goethe, J. W. V., Salm, P. (1962). *Faust II.* New York: Bantam Books.

Gupta, S. (2003). *Lakshmi Tantras*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Irigaray, L. (1992). *Speculum of the Other Woman.* tr. Gillian C. Gill. New York: Cornell University Press.

Johnson, E. A. (2003). *Truly Our Sister: A Theology of Mary in the Communion of Saints*. New York: Continuum International Publishing Group.

Jung, C. G. (1969). *Archetypes and the Collective Unconscious.* Princeton, NJ: Princeton University Press.

Kane, P. V. (1930). *History of Dharmaśāstra* (vols 1-5). Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Kinsley, D. (1987). *Hindu Goddesses: Visions of the Divine Feminine in the Hindu Religious Tradition*. Delhi: Motilal Banarsidass.

Kristeva, J. (1984). *Revolution in Poetic Language*. New York: Columbia University Press.

Nasr, S. H. (2009). *The Garden of Truth; Knowledge, Love and Action*. San Francisco, CA: HarperOne.

O'Flaherty, W. D. (1982). *Women, Androgynes, and Other Mythical Beasts.* Chicago: University of Chicago Press.

Olivelle, P. (Trans.) (2004). *The Law Code of Manu*. New York: Hackett Publishing Company.

Pelikan, J. (1996). *Mary through the Centuries: Her Place in the History of Culture*. New Haven, CN: Yale University Press.

Plato. (2000). *Timaeus.* tr. D. Zeyl. Cambridge, MS: Hackett Publishing Company.

Radhakrishnan, S. (ed. and tr.), (1953). *The Principal Upaniṣads*. London: George Allen & Unwin.

Ruether, R. R. (1983). *Sexism and God-talk; Towards a Feminist Theology*. Boston, MA: Beacon Press.

Schimmel, A. (2003). *My Soul Is a Woman: The Feminine in Islam*. New York: Continuum International Publishing Group.

संगोष्ठी प्रतिवेदन

कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं पारम्परिक भारतीय मानसिकता*

अध्यक्ष – माननीय श्री दिनेश चन्द्र, अध्यक्ष, अ॰सिं॰वै॰शो॰सं॰, गुरुग्राम

प्रवचनकर्ता – प्रोफेसर बलराम सिंह, प्रोफेसर, डार्टमाउथ (यू॰एस॰ए॰)

मुख्यातिथि – प्रोफेसर बृजकिशोर कुठियाला, सदस्य, अ॰सिं॰वै॰शो॰सं॰, गुरुग्राम

धन्यवाद ज्ञापन – श्री दिनेश शास्त्री, सदस्य, अ॰सिं॰वै॰शो॰सं॰, गुरुग्राम

संयोजक – डॉ॰ रमेशकुमार पाण्डेय, निदेशक, अ॰सिं॰वै॰शो॰सं॰, गुरुग्राम

इस संगोष्ठी के संयोजक प्रोफेसर रमेशकुमार पाण्डेय ने शोध सहायक शशिकान्त मिश्र से मंगलाचरण के लिए निवेदन किया। मंगलाचरण के पश्चात् प्रोफेसर पाण्डेय ने ऑनलाइन संगोष्ठी में उपस्थित सभी महानुभावों का स्वागत करके मुख्य प्रवचनकर्ता बलराम सिंह का परिचय दिया। बलराम सिंह अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा मैसाच्युसेट्स विश्वविद्यालय (डार्टमाउथ, यू॰एस॰ए॰) में केमिस्ट्री के प्रोफेसर हैं। इनका नाम अमेरिका के श्रेष्ठ वैज्ञानिकों एवं भारतीय विद्याओं के विशेषज्ञों के रूप में जाना जाता है। इनके नेतृत्व में वेदान्त सम्मेलन का आयोजन लगातार पच्चीस वर्षों से हो रहा है। बलराम सिंह ने विगत वर्षों तक उसकी अध्यक्षता की है। भारतवर्ष, अमेरिका, न्यूजीलैण्ड आदि विश्व के अनेक देशों में कई बार इस सम्मेलन का आयोजन होता आ रहा है। अमेरिका में रहकर वहाँ के वैज्ञानिकों के साथ काम करते हुए इन्होंने भी भारतीय संस्कृति एवं भारतीय परम्पराओं का पालन किया। वे इसी प्रकार मर्मज्ञ विद्वानों के मध्य में निरन्तर कार्य करते हुए लोगों को प्रोत्साहित करते रहते हैं। उनकी व्यावहारिक सरलता के कारण उनसे सम्पर्क सहजता से बनाया जा सकता है। बलराम सिंह जन सहायता के लिए निरन्तर तत्पर रहते हैं और ज्ञान-विज्ञान के जटिल तथ्यों को बोधगम्य शैली में प्रस्तुत करते हैं।

विश्व हिन्दू परिषद् के संस्थापक श्रद्धेय अशोक सिंहल का स्वप्न था कि हम वेद-विद्या का प्रचार न केवल भारत में अपितु पूरे विश्व में करें। भारतवर्ष में इसके लिए समर्पित विश्वविद्यालय होना चाहिए, जहाँ इस प्रकार का अध्ययन-अध्यापन हो। विश्व हिन्दू परिषद् के अध्यक्ष माननीय दिनेशचन्द्र ने श्रद्धेय अशोक सिंहल के अवशिष्ट कार्यों को अपने हाथों में लिया और एक-एक करके उनके स्वप्नों को साकार करने का सार्थक प्रयास कर रहे हैं। उसके लिए इन्होंने एक वैदिक विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना बनाई और हरियाणा राज्य के फारुख़नगर में विश्वविद्यालय निर्माण करने के लिए भूमि का क्रय किया। विश्वविद्यालय निर्माण के प्रथम चरण में एक शोध संस्थान के निर्माण का संकल्प लेकर उन्होंने गुरुग्राम में हरियाणा सरकार के नियमानुसार चार एकड़ का एक भूखण्ड, जिसमें सरकारी भवन बना हुआ था, (पट्टा पर) लेकर उसमें अभी वैदिक विषयों पर शोधकार्य चल रहा है। अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान वर्ष 2022 में स्थापित किया गया था।

गत वर्ष 15-16 दिसम्बर 2024 में माननीय दिनेश चन्द्र की अध्यक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक सम्मेलन का आयोजन हुआ। द्विदिवसीय संगोष्ठी के 10 सत्रों में प्रायः 50-60 विद्वानों ने व्याख्यान दिया। सम्मेलन का विषय था – “कृत्रिम बुद्धिमत्ता से प्रभावित जीवन के लिए वेदों की शिक्षा”। भारत में कृत्रिम बुद्धिमत्ता को अगर सही पद्धति से नियन्त्रित नहीं किया गया तो भविष्य में कई समस्याएँ हो सकती हैं। संगोष्ठी के संयोजक प्रोफेसर बृजकिशोर कुठियाला ने विशेष रूप से अपनी राय रखी कि भारतीय मनीषा यदि चाहे तो उसको नियन्त्रित करने के लिए एक आचार संहिता का निर्माण कर

---

* अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान द्वारा आयोजित एक दिवसीय ऑनलाइन संगोष्ठी, 3 मई 2025।

सकती है, जिसका उपयोग सात्त्विक एवं सकारात्मक दृष्टिकोण के रूप में किया जा सकता है। इस विषय पर सभी विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किए। उसके पश्चात् फरवरी 2025 में एक ऑनलाइन संगोष्ठी के माध्यम से कार्यक्रम में दो विद्वानों का व्याख्यान कराया गया, जिसमें विद्वानों ने "कृत्रिम बुद्धिमत्ता के लिए वेद आधारित आचार संहिता" विषय में चर्चा की। वेद हमें मानव से महामानव बनने की प्रेरणा प्राप्त देते हैं। व्याख्यानमाला के इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए प्रोफेसर पाण्डेय ने मुख्य प्रवचनकर्ता प्रोफेसर बलराम सिंह से निवेदन किया कि हम लोगों को इस स्थिति में क्या करना चाहिए? इस प्रकार की परिस्थितियों में विश्व को वेदों का सन्देश कैसे और क्या देना चाहिए? जिससे कृत्रिम बुद्धिमत्ता को भी मार्गदर्शन मिले और जनकल्याण का कार्य हो सके। इस वक्तव्य के साथ प्रोफेसर पाण्डेय ने प्रोफेसर बलराम सिंह से अपने विचार प्रस्तुत करने का निवेदन किया ।

प्रोफेसर बलराम सिंह

प्रोफेसर बलराम सिंह ने सभी विद्वानों का अभिवादन किया और अपना वक्तव्य प्रारम्भ करते हुए कहा कि उनकी यही इच्छा है कि सभी को अपने ज्ञान के माध्यम से प्रेरित किया जाए । उन्होंने कहा कि कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का विचार एक नई धारणा है क्योंकि यह प्रगतिशील है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के माध्यम से हमें सब कुछ समय के अनुसार मिल जाता है। जो मनुष्य विचार पूर्वक इस कृत्रिम बुद्धिमत्ता का प्रयोग करते हैं वे मनुष्य प्राकृतिक रूप से उत्तम जीवन व्यतीत कर पाते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। वर्तमान की दुनियाँ कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) की है, इसलिए वर्तमान युग में सब लोग कृत्रिमता की ओर आकर्षित हो जाते हैं। हम कभी-कभी अपना आधार भूल जाते हैं, क्योंकि भारत में अधिक भिन्नता (भिन्न संस्कृतियाँ) दिखाई देती हैं, अन्य किसी देश में इतनी भिन्नता नहीं मिलती। फिजिक्स का एक नियम है जब किसी भी वस्तु में अधिक विकल्पता होती है तो वह वस्तु अधिक प्रसिद्ध होती है, जैसे – भारत के पास 48,000 से अधिक विभिन्न प्रजातियों के पौधे हैं। भारत की भूमि विश्व में सर्वश्रेष्ठ भूमि है, इसमें कुल 32,87,263 वर्ग किलोमीटर भूमि है। यह विश्व की कुल भूमि का लगभग 2.4 प्रतिशत है। भारत में विभिन्न प्रकार की भूमि है, जिसमें कृषि योग्य भूमि, वन और शहरी क्षेत्र सम्मिलित हैं। भारत में पौधों की विविधता 8 प्रतिशत है। भूमि के अनुसार यहाँ विविधता अधिक है। जिस कारण भारत में बहुत लोग निवास करते हैं, इसलिए भिन्नता भी अधिक है। भारत की भूमि सम्पूर्ण संसार में सर्वोत्कृष्ट भूमि है। प्रकृति के कारण हमारा नित्य नैमित्तिक कार्य चलता है, अतः लोगों के ऊपर प्रकृति का प्रभाव बहुत है। आजकल हम प्रकृति के अनुसार जीवन नहीं जीते लेकिन हमें प्रकृति के अनुसार जीना चाहिए। कृत्रिम जीवन जीने का अभ्यास नहीं करना चाहिए।

हमारा जीवन प्रकृति के नियमों द्वारा निर्देशित होता है। हमारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक सम्बन्ध और पर्यावरणीय स्थिति सभी प्राकृतिक नियमों से प्रभावित है। प्रकृति की संसार में काम करने की एक पद्धति है, जो प्रत्येक वस्तु को एक साथ जोड़ती है। ये नियम न केवल भौतिक संसार पर लागू होते हैं, अपितु जीवित वस्तु पर भी, जिसमें मनुष्य भी आते हैं। हमारे जीवन में प्रकृति के नियमों का महत्त्व इसलिए है, क्योंकि वे हमें एक सन्दर्भ प्रदान करते हैं और हमें यह समझाने में सहयोग करते है कि हमारा संसार कैसे काम करता है। भौतिक नियम गुरुत्वाकर्षण, प्रकाश, ऊर्जा और पदार्थ जैसे सिद्धान्तों को निर्धारित करते हैं। इन व्यवस्थाओं के कारण ही हम पृथ्वी पर जीवन निर्वाह कर पाते हैं। सूर्य का प्रकाश हमारे पास पहुँचता है और हम विभिन्न प्रकार की ऊर्जा को प्राप्त करते हैं। प्रकृति के सामाजिक नियम (कानून, नैतिकता, और धर्म) मानव समाज के कार्य को नियन्त्रित करते हैं। इन नियमों के कारण ही हम एक साथ रह पाते हैं और एक संगठित समाज का निर्माण कर पाते हैं। अन्ततः प्रकृति के नियम हमें रहने योग्य एक उत्तम जीवन जीने में सहायता करते हैं। यदि हम इन नियमों को समझते हैं, तो हम एक श्रेष्ठ संसार का निर्माण कर सकते हैं ।

हमारा सम्पूर्ण जीवन एवं चिन्तनधारा प्रकृति के नियमों के अनुसार चलती है। इसलिए हमें प्रकृति के नियमों का ज्ञान होना चाहिए । प्रकृति के साथ जो हमारा गहन सम्बन्ध है, उसी से हमारा शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक विकास होता है। प्रकृति के नियम सार्वभौमिक हैं, जिसका अर्थ है कि वे सभी स्थानों पर समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। प्रकृति के नियमों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। प्रकृति में सब कुछ परिवर्तन होता रहता है, कोई भी वस्तु स्थिर नहीं रहती। हर कार्य की एक समान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है। प्रकृति में सब कुछ सन्तुलन में है। कोई भी वस्तु अधिक अथवा कम नहीं हो सकती। प्रकृति के नियम हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। वे हमें यह समझने में सहायता करते हैं कि प्रकृति कैसे काम करती है और हम कैसे इसके साथ रह सकते हैं। विकास सिद्धान्त में यह कहा गया है कि प्राकृतिक नियमों के अनुसार रहेंगे तो हम प्राकृतिक होंगे, यदि कृत्रिमता के अनुसार रहेंगे तो कैसे होगा? भारत के पास यह निधि है, क्योंकि भारत ही वह अद्वितीय, अपरिमित, सम्भावनाओं वाला भूखण्ड है, जो दक्षिण एशिया के अन्दर आता है किन्तु 10 मिलियन वर्षों पहले यह भूखण्ड एशिया के पास ही नहीं था। 71 मिलियन वर्षों पहले यह भूखण्ड अफ्रीका के समीप था। अफ्रीका से धीरे-धीरे हटकर एशिया भूखण्ड में जुड़ गया और हिमालय में रूपान्तरित हो गया। अभी भी हिमालय प्रत्येक वर्ष एक दो मिलिमीटर बढ़ रहा है।

पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमकर 23° का एक एंगल बनाती है। यह अपनी कक्षातल से 23.5° झुकी रहती है। जब 23° घूमती है तब प्रायः 24,000/25,000 वर्षों के अन्तराल में इसका चक्कर पूरा होता है। तब उसमें पृथ्वी का कोई स्थान सूर्य की ओर रहता है और कोई स्थान सूर्य से दूर रहता है, तब ठण्ड अधिक पड़ती है, उसको मिनि आईसेस कहते हैं। इस प्रकार यह सवा लाख सालों में मेजर आइसेस बन जाती है और ठण्डी-ठण्डी हवा आने लगती है। सम्पूर्ण संसार में ठण्डी हवा इतनी बढ़ जाती है कि लोग वहाँ नहीं रह सकते, बहुत कठिनाई से रह पाते हैं। भारत में विद्यमान यह हिमालय इस अत्यधिक ठण्ड से सर्वदा हमारी रक्षा करता है। हमारे यहाँ मौसम परिवर्तन होता है, ऋतुएँ परिवर्तित होती हैं, हम प्रकृति में जी लेते हैं। इसलिए किसी न किसी भाव से हमारी सभ्यता-संस्कृति बनी रहती है। यह है भारत की परम्परा,यदि हम भारतीय परम्परा को मान्यता देंगे तो हमारी संस्कृति सबसे पृथक् होगी ।

कुछ जन मानते हैं कि गणित का ज्ञान भारत से आया है, क्या गणित ही कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का प्रमाण है? इसका उत्तर भी उन्होंने अति सरल पद्धति से दिया –

Mathematics – Mathematics is both a human-created system and a reflection of natural patterns and structures. While mathematics is a language and tool, developed by humans to understand and represent the world, its concepts and structures are also found in nature. This means that mathematics can be seen as both an artificial creation and a natural phenomenon.

Artificial Creation – Mathematics is a human construct, a system of symbols and rules used to describe and quantify the world. We define concepts like numbers, geometric shapes, and mathematical operations, and then use these to build models and theories.

Natural Phenomenon – Mathematics also exists in nature. Patterns like symmetry, spirals, and Fibonacci sequences are found throughout the natural world. From snowflakes to sunflowers to seashells. These patterns can be described and understood using mathematical concepts.

वर्तमान में सम्पूर्ण संसार गणित के ऊपर निर्भर है, क्योंकि गणित के बिना कोई प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। इस समय कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का जितना भी कार्य कम्प्यूटर में चल रहा है वह सब मैथमेटिकल एल्गोरिदम (गणितीय क्रमानुक्रमित प्रक्रिया) के माध्यम से चल रहा है, किन्तु वर्तमान में गणित के स्थान पर कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) का व्यवहार होता है। क्योंकि उसको हम प्राकृतिक नहीं कह पाते। Treza Tizkova ने एक लेख प्रस्तुत किया, जिसमें कहा है कि "Is math a Human Invention or a Natural phenomenon? Thoughts on the age-old question of 'found vs discovered'" गणित में कृत्रिमता, प्राकृतिकता या स्वाभाविकता विद्यमान है। प्रकृति में भी गणित है, क्योंकि हम प्रकृति से गणित सीखते हैं। इंजिनीयर भी नई वस्तु बनाने के लिए प्रकृति से ही प्रेरणा लेते हैं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त (10.129) में कहा गया है कि जब सृष्टि की संरचना नहीं हुई थी तब न तो सत् था, न असत्, न आकाश, न पृथ्वी, न पाताल था। उस समय केवल शून्य और अन्धकार था।[1] *ऋग्वेद* में यह भी बताया गया है कि सर्वप्रथम एक तत्त्व में (स्पन्दन) कामना की उत्पत्ति हुई और उससे सृष्टि का प्रारम्भ होता है। फिजिक्स की भाषा में जिसको क्वाण्टम कहते हैं।[2] इसका उद्देश्य प्रकृति के निर्माण खण्डों के गुणों और व्यवहारों को प्रकाश करना है। क्वाण्टम घटनाएँ हमारे चारों ओर हैं और प्रत्येक स्तर पर कार्य करती हैं। यद्यपि हम उन्हें बड़ी वस्तुओं में सरलता से पहचान नहीं पाएँगे। इससे मिथ्या धारणा बन सकती है कि क्वाण्टम घटनाएँ विचित्र या अलौकिक हैं। वास्तव में, क्वाण्टम विज्ञान भौतिकी के हमारे ज्ञान में अन्तराल को समाप्त करता है। यहाँ मैथमेटिक्स में मैथ का अर्थ Myth, the artificial vs Math, the natural है अर्थात् मिथ = मिथ्या कृत्रिम है और गणित को प्राकृतिक (स्वाभाविक) कहते हैं क्योंकि उसको हम जोड़कर, घटाकर, गुणा करके, भाग देकर के दिखा देते हैं। अब गणित में शून्य से शून्य विभाजित करते हैं तो असीमित (शून्य) उत्तर होता है। उसमें भी कृत्रिमता आती है। बौद्ध धर्म में भी शून्यता को महत्त्व दिया गया है। प्रचलित लोककथा का जो हमारा अनुमान है यहाँ प्रचलित लोककथा को मिथ्या कहते हैं। वेदान्त दर्शन अथवा वेदान्तिक विज्ञान में सत्य, असत्य और मिथ्या इन तीन की अवधारणा है।

जिस मिथ्या ज्ञान को हम सत्य मानते हैं जैसे – गणित, भौतिकी, रसायन इत्यादि जो वस्तु दिखाई देती हैं वह सत्य हैं किन्तु ये वस्तुएँ हैं जो समय के साथ और स्थान के अनुसार परिवर्तित (नष्ट) होती हैं अतः उनको मिथ्या कहा जाता है। जैसे प्रत्येक वस्तु मिलकर शून्य हो जाती है यह सत्य है कि यह कभी परिवर्तन नहीं होगा। यदि ऐसा कहते हैं कि हमारे पास अनेक अवधारणाएँ हैं जैसे – भगवान् शंकर, भगवान् विष्णु, भगवान् ब्रह्मा की अवधारणा है, वह सत्य है। क्योंकि ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है,[3] ब्रह्म नाम का कोई व्यक्ति विशेष वहाँ स्थित नहीं है, ब्रह्म सत्य की एक अवधारणा है कि वह परिवर्तित होती रहती है, यह सत्य है। विज्ञान के अनुसार यदि हम समय के साथ कुछ वस्तुएँ नहीं परिवर्तन करेंगे तो उसमें विज्ञान नहीं होगा। किसी को अधिक महत्त्व देने के बाद अगर उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हुआ तो उसमें ध्यान केन्द्रित प्रभाव दिखाई नहीं देगा। भारतीय परम्परा के अनुसार वह कृत्रिम है, इसलिए ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या के अनुसार ब्रह्म को छोड़कर

---

[1] नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। – 10.129.1-3

[2] Quantum Physics भौतिकी की वह शाखा है जो बहुत छोटे पैमाने, जैसे परमाणु और उप-परमाणु कणों (इलेक्ट्रॉन, फोटॉन) के व्यवहार का अध्ययन करती है।

[3] ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या – *विवेकचूडामणि* 20

अन्य सब मिथ्या है। यदि हमें ब्रह्म तक जाना है तो कृत्रिमता को माध्यम बना सकते हैं लेकिन कृत्रिमता हमारा अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। इस विषय पर Jogindra Kohli, MS/MBA in civil engineering Indian Institute of Technology IIT Khargpur ने लिखा है कि –

> Mathematics and mythology have been intertwined in many cultures throughout history, including in ancient Indian civilization. In Hindu mythology, there are numerous stories that involve mathematical concepts and ideas, such as the concept of infinity, the idea of cyclical time, and the use of geometric patterns in sacred art and architecture .

यह विचार सत्य का अन्वेषण करने के लिए प्रयोग किया जाता है।

इसके पश्चात् उन्होंने ब्रह्मवर्ष के विषय में बताया –

Textual Cosmology –
Age of Brahmā is 100 years.
Each year of Brahmā has 360 days and same number of nights.
Thus, total age of Brahma is 360 × 100 × 8.64 billion = 311,040 billion human years, i.e. 311.04 trillion human years.
This period is called *mahākalpa*

कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार –

Four ages on earth wich keeps circulating –

- Satya Yuga – 1.728 millions years
- Tretā Yuga – 1.296 million years
- Dvāpara Yuga – 0.864 million years
- Kali Yuga – 0.432 million years
- Total: 4.32 million human years

कुछ लोगों ने अनुसन्धान भी किया है कि इसमें चार युगों की जो आयु दी गई है, वह वास्तव में नहीं है।

1,000 such cycles forms one day of Brahmā.

So one day of Brahma is 4.32 million × 1000 = 4.32 billion human years.

In 1 day of Brahmā, there are 14 *manvantara*. Each *manvantara* is divided into 71 *mahāyuga* cycles. So total make 14 × 71= 994 × (*mahāyuga* cycles) 1 day of Brahmā contains 1,000 *mahāyuga* cycles.

उसके बाद उन्होंने वैदिक साहित्य पर अनुसन्धान करके कहा –

> According to the Vedic texts, current age of Brahmā is 50 Brahmā years and 1 Brahmā day (we are in the 1st day of 2nd half of Brahmā) and we are in the seventh *manvantara*, in the 28th turnover of its 71 *yuga* cycles. In this cycle, we are in the start Kali Yuga.

पुनः उन्होंने भौतिकी के अनुसार कहा – The total age of universe is 155.521972944 trillion human years.

लेकिन Physics के अनुसार इस संसार की आयु 13.2 अरब वर्ष (billion years) है।

इसमें कृत्रिमता आ जाती है, इस विषय को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए गणित आदि विद्याओं का सहयोग लेना पड़ता है। बहुत लोग बोलते हैं कि कलियुग चल रहा है, अभी तो इसमें से केवल पाँच हजार वर्ष ही व्यतीत हुए। बाद में पता चला है कि 428 हजार वर्ष तक हम कलियुग में रहेंगे। इसके लिए उन्होंने यह गणना की, जिसके अनुसार पूरे युग का जो चक्र है वह 3,66,000 साल का होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसे 1 मिलियन वर्ष कहते हैं। यदि इन सबको कृत्रिमता के माध्यम से स्वीकार करते हैं, तो हमारे अन्दर वह दूसरा भाव (ईश्वर आएंगे और रक्षा करेंगे) उत्पन्न हो जाता है। जबकी ईश्वरीय शक्ति हमारे भीतर ही है। हमें स्वयं को निःसहाय नहीं समझना चाहिए, इसलिए हमें शास्त्रों को भी पढ़ना चाहिए। ऐसा विचार रखना चाहिए कि आप ही स्वयं भगवान् है, अहं ब्रह्मास्मि।[4] भगवान् ने सकल गुण हमारे अन्दर ही दिए हुए हैं। जिससे समस्याएँ न हों।

उसके पश्चात् विकास की धारणा के विषय में कहा – यहाँ विकास का क्रम क्या है – अन्नमय कोश जिसे भौतिक परत कहते हैं। प्राणमय कोश वह होता है जिसे ऊर्जा कहते हैं। मनोमय कोश वह है, जिससे हमारा विकास होता है। ज्ञानमय कोश मनुष्य का होता है। उसके पश्चात् आनन्दमय कोश होता है जिसमें देवता निवास करते हैं। जैसे देवताओं का एक दिन मनुष्यों के 365 दिन (एक वर्ष) के समान माना गया है। इस प्रकार हमें इसका ज्ञान होना चाहिए, हम कृत्रिमता में न फँसे, यदि हमें देवत्व प्राप्त करना है तो हमें वास्तविकता का अभ्यास करना होगा।

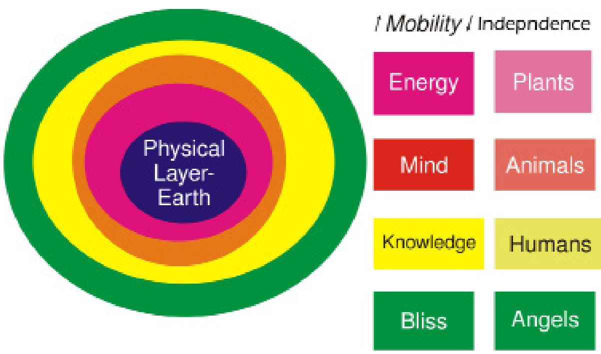

पौधों का विकास कैसे होता है? इस विषय पर भी हमें सोचना चाहिए। सब लोग सोचते हैं कि पौधे तो केवल हमारे व्यवहार के लिए हैं, हम जैसे चाहे वैसा इनके साथ व्यवहार कर सकते हैं। किन्तु यह त्रुटिपूर्ण अवधारणा है। भारतीय परम्परा में तो पौधों की भी पूजा की जाती है। पहले प्राचीन ऋषियों ने अनुभव किया था कि वृक्ष हमारे भाव समझते हैं,

---

4 *बृहदारण्यकोपनिषद्* 1.4.10

ऋषि-मुनि तो उनसे वार्तालाप भी करते थे।[5] धीरे-धीरे विज्ञान भी मान रहा है कि पौधे भी हमारे भावों को समझते हैं और परस्पर वार्तालाप करते हैं।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से एक उदाहरण है, जैसे –

Who really knows, and who can swear,
How creation came, when or where!
Even gods came after creation's day,
Who really knows, who can truly say when and how did creation start?
Did He do it? Or did He not?
Only He, up there, knows, maybe,
Or perhaps, not even He.[6]

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त का तात्पर्य है सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था। उन्होंने सृष्टि के विषय में वर्णित धारणाओं पर चर्चा की जैसे कि सृष्टि प्रारम्भ कैसे हुई? आदि धारा कैसे बनी? राधा कैसे बनी? आद्या कैसे आई? अलख निरञ्जन कैसे आया? ये सभी धारणाएँ भारतीय परम्परा में कैसे विकसित और पल्लवित हुई?

Story of Creation – Sant Mat

- A current issued forth from the feet of SOAMI. It is the prime current and the creator of the entire creation.
- The name of that ĀDI DHĀRĀ (Prime Current) is RĀDHĀ. That alone is the doer and dispenser of every activity.
- It descended and halted, and evolved the creation of *Alakha Loka*.
- When the sphere of *Alakha Loka* was formed in the above manner, the current descended, and created *Sat Loka*.
- *Sat Loka* is the *dhāma* (Abode) of *Sat Puruṣa*, and is inhabited by *haṁsa*s.
- Then, from the lower portion of Satpura (*Sat Loka*) emanated a Śyāma (Blue) current. It came down and underwent considerable expansion and ramification.
- It remained constantly engaged in the *sevā* (service) of *puruṣa* but, in worldly it was cherishing some other desire.
- "O *Sat Puruṣa*! O Merciful one and Giver of all things! Grant me the sovereignty of a separate region. And furnish me with the seed of Surat. Life here is not suited to me. Your region is not agreeable to me."

---

[5] यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ – *अथर्ववेद* 12.1.35

[6] *ऋग्वेद* 10.129.1-7

- Puruṣha replied, Get out from this place.You are a nuisance here. Go and evolve a creation for your self in the lower part of the pre-creational neutral zone. Take your seat there and rule over that dominion.
- The name of that current is Nirañjana. It has all the characteristics of Kāla.
- *Puruṣa* evolved another current with a yellow hue. Its name is Ādyā.
- By the order of *Puruṣa*. This other current was sent down. It associated with Nirañjana.
- In sunn, they came to be known as *Puruṣa* and *Prakṛti*, and in Trikuṭī, as Māyā and Brahmā. (Beezone Library)

प्रोफेसर बलराम सिंह के सहकर्मी Nilesh N. Oak (Institute of Advanced Sciences, Dartmouth, MA, USA) ने Archaeoastronomy के विषय पर काम किया । उनके अनुसार त्रेता युग का समय क्या था? त्रेता युग का समय 14,000 हज़ार साल पहले, तब भगवान् राम इस पृथ्वी पर थे और 5,000 साल पहले भगवान् श्रीकृष्ण इस भूमि पर थे। उन्होंने कहा हमारे यहाँ की हड़प्पा आदि संस्कृति प्रायः 5,000 साल पहले वर्तमान से बहुत भिन्न थी, किन्तु प्रकृति का दोहन जैसे बहुत से कारण रहे होंगे, जिनके कारण वे सभ्यताएँ नष्ट हो गईं। Plato's Symposium में विकास को पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपने अनुसार बताया है पुनः यह कब कहाँ से प्रारम्भ हुआ? इसमें भी भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार की कथाएँ वर्णित हैं जिसमें बताया गया है मछलियों से विकसित होकर मानव आया है ।65,000 साल पहले की जो सभ्यता है उसमें मध्य अफ्रीका व दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर DNA परीक्षण से यह सिद्ध किया गया है कि वह भारतीय ही हैं।

Plato's Symposium. Plato promoted a great age for the universe (deep time).

Evolution: An ancient Pagan idea by Paul James-Griffiths.

Anaximander who had evolutionary ideas Anaximander (*c*.610–546 BCE) taught that humans evolved from fish. Such evolutionary ideas were common in ancient Pagan societies such as in Greece and Rome.

यशवन्त पाठक ब्रह्माण्ड के विषय पर उत्तम कार्य कर रहे हैं। 2015 में बलराम सिंह मैसूर गए थे। वहाँ पर 46 देशों के लोग आए थे, उन्होंने पाया कि उन लोगों की प्राचीन परम्परा भारतीय परम्पराओं से मिलती-जुलती है । जिससे ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण विश्व के लोग एक हैं और भारत की यह सभ्यता-संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हुई है ।

Pagans in Europe, Arabia, Australia, Americas

- Paanus had also come to mean "of or relating to the countryside", country dweller, villager, by extension, rustic, unlearned, yokel, bumpkin, in Roman military jargon, non-combatant, civilian, unskilled soldier.
- Polytheistic.
- Animistic-spiritual essence in animals and plants.
- Nature believers.

- Goddesses.
- Fire rituals.
- Connected to Plato thoughts.
- The Venus of Aries, Depicting the Goddess Venus holding the apple of Hesperides.

Darwin Theory of Evolution: Origin of Species

- Evolution vs Creation
- Random mulations – cause?
- Adaptation to nature – natural selection, change in nature; slow and long process
- Survival of the body and gene pool.
- When did this appear during the process of life on Earth?
- Origin of life?
- Is survival selfish? What about those who give their life for others?
- What is the evolutionary advantage to selfless?

उन्होंने कहा केवल सन्तान उत्पन्न करना ही विकास नहीं होता। ओसामा बिन लादेन के 24 बच्चे थे और उनके पिता के 54 बच्चे थे। जबकी मदर टेरेसा और दलाई लामा की कोई जैविक (biological) सन्तान नहीं थी। बहुत सारी सन्तान होने से विकास का कोई सम्बन्ध नहीं है। विकास केवल शरीर का नहीं होता, विकास जीन्स का होता है। विकास का यह सिद्धान्त है चाहे कृत्रिमता के अनुसार हो, चाहे जैविक के अनुसार हो उसको समझना चाहिए। विकास सिद्धान्त में आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा कहा गया कि जिसका मस्तिष्क बड़ा होता है उसका विकास भी अधिक होता है। इसीलिए उन्होंने कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के अनुसार कहा है कि मस्तिष्क के भार को और शरीर के भार को तुलनात्मक रूप से अध्ययन किया जाए, ऐसा करने पर ज्ञात हुआ कि बाकि जीवों से छछून्दर आगे निकल गई। वैज्ञानिकों ने इसे कृत्रिम बुद्धिमत्ता (AI) के माध्यम से तीन प्रकार से प्रयोग किया। जिसकी सूची निम्न प्रकार है –

(A) Total brain weight

Shrew	**Mouse**	**Sheep**	**Chimpanzee**	**Human**	**Elephant**
0.25	0.5	100	400	1,400	5,000

(B) Brain weight as a percentage of body weight

Brain weight (g)	0.25	0.5	100	400	1,400	5,000
Bodyweight (g)	7.5	24	40,000	42,000	60,000	2,550,000
Percentage	33	2.08	0.25	0.95	2.33	0.20

(C) Encephalization factor

Brain weight (Body weight)	**Mouse**	**Shrew**	**Sheep**	**Elephant**	**Chimpanzee**	**Human**
	0.69	0.06	0.07	0.19	0.26	0.71

इस प्रकार अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य के मस्तिष्क का भार सबसे अधिक है 0.71, बाकी प्राणी पीछे रह गए हैं। हमारे अन्दर यह घमण्ड है कि मनुष्य सबसे आगे है। जबकि भारत की परम्परा में ऐसा नहीं माना जाता, यहाँ पर चींटियों की भी पूजा होती है, वृक्षों की भी पूजा होती है। यहाँ तक कि अदृश्य जीवों की भी पूजा होती है, अदृश्य वस्तुओं के लिए जब यज्ञ करते है, उसमें अदृश्य जीव-जन्तुओं को भी प्रणाम करते हैं, उनके लिए यज्ञ में आहुति भी देते हैं, अदृश्य जीवों में जीवाणु, कीटाणु, महामारी आदि आते हैं। इस प्रकार यदि देखें तो मनुष्य यहाँ पर प्रायः 2 मिलियन वर्ष से *Homo sapiens* हैं। जबकि यह जीवाणु आदि मनुष्यों से बहुत पहले से पृथ्वी पर निवास कर रहे हैं ।

Evolution of Man

- Genetic and molecular basis of natural selection – random gene mutations over a long period of time with phenotypes suitable for natural changes.
- Human existence for about 1 million years, anaerobic bacteria for over 3 billion years.
- Human genome, 3 billion bp; bacteria, 5 million bp.
- Human use 1.4 per cent bp for gene, bacteria use 80 per cent for gene.
- Humans 30,000 genes; Mouse, about 50,000 genes; Plants, about 50,000 genes; Bacteria, about 5,000 genes.
- Onion over 6×, amphibians over 30×, and whisk fern over 3000× more DNA than humans.
- Natural vs artificial living; plants, animals, and humans.
- Death resurrection and freezing.
- Human cloning vs bacteria cloning.
- According to the scientific criteria, human are the least envolved. This acknowledgement will bring humility in humans.

हम प्राकृतिक रूप से नहीं रहते, हम कृत्रिमता से रहते हैं। जबकि पेड़-पौधे, जानवर प्राकृतिक रूप से रहते हैं। इसीलिए हमारा विकास इतना अच्छा नहीं होता। इस प्रकार से यदि कोरोना महामारी में जीवाणु को देखें –

- Corona has 26 trillion times evolutionary advantage, and Bacteria have 4.6 billion fold genetic life cycle advantage over human for evolution.
- Human body में 380 trillion virus होते हैं, 100 trillion bacterial cells होते हैं और 20 trillion

human cells होते हैं।

Is Evolution Real?

- Does the current theory of evolution offer any explanation for the natural selection? No
- How to define which species will survive?
- Tiger and Whales are the fittest but they are endangered now.
- Is genetic mutation good for us? What is causing cancer? Mutation.

  Then why nature will adopt a technique which is not beneficial for us and utilize for a good purpose – evolution of the higher forms of life?
- A few examples:

  – No evolutionary relationship between Octopus and Man.

  – No evolutionary relationship between birds, insects, and bats.
- Do we have a complete evolutionary theory? No.....

F.N.C. Northrop Sterling, Professor of Philosophy and Law, Yale University के अनुसार इस तरह से विकास सत्य नहीं है इसकी कृत्रिम सृष्टि हमने की है। भौतिक विज्ञान और दर्शन के विषय में कहा गया है कि –"Philosophy as the cause of conflict Philosophy and Physics".

- The instruments of modern science derive from its theory and require a comprehension of that theory for their correct use.
- This theory rests on philosophical as well as physical, assumptions.
- "When comprehended, these philosophical assumptions generate a personal and social mentality and behaviour quite different from. At points incompatible with, the family caste and tribally centred mentality of native Asian, Middle Eastern of African people."
- Literature is a reflection of society or vice versa.
- Carl Marx – war on economy.
- Samuel Huntington – third world war on religion.

The editors of *Encyclopedia Britannica* के अनुसार पाश्चात्य संस्कृति में माना जाता है कि सृष्टि संरचना सात दिन में हुई और इसलिए सोमवार मंगलवार आदि सात दिन में इसका विभाजन कर दिया गया, यह कृत्रिम विभाजन है, किन्तु भारतीय संस्कृति में ऐसा नहीं माना जाता, यहाँ शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष आदि के अनुसार तिथि गणना होती है।

भारत के संविधान के आर्टिकल 51A में जो लिखा है यह किसी और देश के संविधान में नहीं लिखा है। यहाँ लिखा है कि आप किसी भी विषय पर अपनी जिज्ञासा रख सकते हैं। इस संविधान से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। जैसे –

Central Government Act: Article 51A in the Constitution of India 1949:

51A. *Fundamental duties*: It shall be the duty of every citizen of India (H) to develop the scientific temper, humanism and the spirit of inquiry and reform.

एम॰आई॰टी॰ के प्रोफेसर Jeremy England ने ऊर्जा किस प्रकार से प्रसारित होती है इसका समाधान बताया है –

A New Physics Theory of life: One essential difference between living things and inanimate clumps of carbon atoms; Living things tend to be much better at capturing energy from their environment and dissipanting that energy as heat.

At the heart of England's idea is the second law of thermodynamics.

वक्ता के एक मित्र इतिहास के प्रोफेसर Timothy D. Walker ने भारत की आयुर्वेदिक औषधियों पर विस्तृत शोध किया है, भारत से आयुर्वेदिक दवाईयाँ ले जाकर, अमेरिका में बेचकर बहुत धन कमाया है। 1985 में विश्व की तुलना में भारत की जी॰डी॰पी॰ लगभग 25 प्रतिशत थी। उस समय प्राकृतिक रहकर भी भारत की अर्थव्यवस्था अच्छी थी, क्योंकि तब प्रकृति से सब कुछ मिलता था । ऐसा बताया है –

- Protuguese colonials propularized Indian drugs and spread information about South Asian healing methods to European territories over four continents.
- Portuguese colonial agents (administrators, medical practitioners, maritime officers, merchants, and missionaries) undertook this activity consciously for commercial and scientific ends, as well as to further Portuguese imperial ambitions.
- Indian medicines thus played a significant role in the state-sponsored health-care institutions of the disparate global Portuguese colonies. Traditional Indian medicinal preparations and healing techniques in particular, became widely known in Portuguese-controlled enclaves in the Atlantic and Pacific oceans.

Adam Smith: The Wealth of Nations (1776)

- Adam Smith was a Scottish philosopher who published *The Wealth of Nations* (1776) to describe how the market economy functioned.
- The market economy is based on countless individual transactions.
- In every transaction, the buyer and seller consider only their self-interest, or their own personal gain.
- Self-interest is the motivating force in the free market.

वहाँ पर तो self-interest लगाते हैं, किन्तु हमारे यहाँ तो “परहित सरिस धर्म नहिं भाई” का अनुकरण करके दूसरों की सेवा की जाती है।

पाश्चात्य लोगों का मानना है कि प्राणियों में जीन्स स्वार्थी होते हैं, उसके बिना संसार का कोई व्यवहार नहीं चलता। अर्थव्यवस्था भी स्वार्थ से चलती है, विज्ञान भी स्वार्थ से चलता है, विकास भी स्वार्थ से चलता है। लेकिन भारतीय संस्कृति में ऐसा नहीं है। भारतीय सभ्यता-संस्कृति के आधार पर हमें इसे परिवर्तित करना पड़ेगा और निःस्वार्थ भाव से जीना होगा।

The Selfish Gene

- Dawkins says that his “purpose” in writing the selfish gene is “to examine the biology of selfishness and altrusim.
- Gene selfishness will usually give rise to selfishness in individual behaviour.
- A gene can achieve its own selfish goals best by fostering a limited form of altruism at the level of individual animals.
- Gene selection provides one explanation for kin selection and sociality, where organisms act altruistically, against their individual interests (in the sense of health, safety or personal reproduction).
- By helping related organisms reproduce, a gene succeeds in “helping” copies of themselves (or sequences with the same phenotypic effect) in other bodies to replicate.

The Role of Vibration

- Bing Bang Singularity = state before which everything was pure existence and pure consciousness, *anid avatam*, without vibration as described in the hymn of creation. – The Nāsadīya Sūktam
- There was nither non-existent nor existent.
- That on thing, breathless. Breathed by its own nature.

2024 में रसायन के प्रोटीन फोल्डिंग विषय में जिनको नॉबेल पुरस्कार मिला है, उनके आधार पर बहुत लोग अभी प्रोटीन फोल्डिंग के विषय पर काम कर रहे हैं ।

The Nobel Prize in Chemistry 2024

The Nobel Prize in Chemistry 2024 was awarded with one-half to David Baker “for computational protein design” and the other half jointly to Demis Hassabis and John Jumper for protein structure prediction.

Demis Hassabis and John Jumper have successfully utilized Artificial Intelligence to predict the structure of almost all known proteins. David Baker has learned how to master life's building blocks and create entirely new proteins.

They Cracked the Code for Proteins Amazing Structures

The Nobel Prize in Chemistry 2024 is about proteins, life's ingenious chemical tools. David Baker has succeeded with the almost impossible feat of building entirely new kinds of proteins. Demis Hassabis and John Jumper have developed an AI model to solve a 50-year old problem. Predicting proteins' complete structures. These discoveries hold enormous potential.

उन्होंने 40 साल से जिन विषयों पर अनुसन्धान किया है

The 2024 Chemistry Laurcales

Keypoints about this

Data source: The AI models were trained on large databases of known protein structures primarily determined using X-ray crystallography, which provided the crucial information about the 3D shapes of proteins.

Prediction Power

By analysing these known structures, the AI could then predict the 3D structure of new proteins based on their amino acid sequences, significantly advancing the field of protein structure prediction.

लेकिन उन लोगों का जो नवीन प्रकाशन था वह इस प्रकार है –

Botulinum Endopeptidase: SAXS experiments and MD simulations reveal extended solution structures that account for its biochemical properties.

इसमें 800 रोगों की दवाईयाँ हैं। भारत में जो दवाई बन रही हैं उनमें प्राकृतिक औषधियों को भी स्थान मिलना चाहिए। प्राचीन समय में गुरुकुल पद्धति से पढ़ाई-लिखाई प्राकृतिक स्थान में होती थी, वहाँ गुरु होते थे और हम प्रकृति से सब कुछ सीखते थे। जब से पुस्तकों का विकास हुआ है, तब से हम पुस्तकों के ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और इसी कारण कृत्रिमता आ जाती है। क्योंकि कोई भी कुछ भी लिखता है तो हम वही पढ़ते हैं।

मनुस्मृति में कहा गया है – जिस स्थान पर स्त्रियों की पूजा की जाती है और उनका सत्कार किया जाता है, उस स्थान पर देवता सदा निवास करते हैं और प्रसन्न रहते हैं, जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ सभी कर्म निष्फल होते हैं।[7] यह श्लोक उन व्यक्तियों के मध्य सापेक्ष श्रेष्ठता निर्धारित करता है जिनकी प्रशंसा की जानी है। गुरु, दस उप-गुरुओं से श्रेष्ठ है, पिता सौ

---

[7] यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। – *मनुस्मृतिः* 3.56

गुरुओं से श्रेष्ठ है, तथा माता हजार पिताओं से भी श्रेष्ठ है।[8] माताओं के अन्दर बुद्धि पाँच गुणा अधिक होती है। महिलाओं का मस्तिष्क प्राकृतिक रूप से बहुत शीघ्रता से कार्य करता है। इसलिए माताओं का हमारे यहाँ बहुत महत्त्व है। इस संसार में कोई देश नहीं है जो अपने देश को माता कहकर सम्बोधित करता है। केवल हमारा ही ऐसा देश है जो भारत देश को भारतमाता कहकर सम्बोधित करता है ।

According to a report published in *CBC News* (3 March 2016) quoting Dr Apostolos Georgopouls, The Director of the Brain Science Centre at the Minneapolis VA medical centre "what we have found is that women, in many different tasks, process information about five times faster than men. And use much less of their brain to do identical cognitive performance."

Scientists found women's brain is more resilient – "Woman are able to carry higher levels of genetic defects without getting brain development disorders such as autism, supporting the possibility of a 'female protective effect'" – according to the study as per a news in Australian Broadcasting News (28 February 2014).

इसी प्रकार हमें अपने जीवन में कृत्रिमता को पहचानना चाहिए और वास्तविकता में जीना चाहिए। तभी भारतीय मनीषा विश्व को ब्रह्मज्ञान प्रदान कर सकती है।

इतना कहकर उन्होंने अपनी वाणी को विराम दिया।

इसके पश्चात् प्रोफेसर रमेशकुमार पाण्डेय ने प्रोफेसर बलराम सिंह का धन्यवाद ज्ञापन किया और प्रोफेसर बृजकिशोर कुठियाला से अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए निवेदन किया। प्रोफेसर कुठियाला के अनुसार मानव के मन, बुद्धि, आत्मा में बुद्धि के विकास की चर्चा बहुत आती है। बुद्धि के विकास की कोई सीमा नहीं है। प्रकृति ने अधिक बुद्धि मनुष्य को ही प्रदान की है और मनुष्य उस बुद्धि का विकास करता है। उस बुद्धि के विकास के लिए जब हम कम्प्यूटर आदि का प्रयोग करते हैं तब हम उसको आर्टिफिशियल इण्टेलिजेंस (AI) कहते हैं, लेकिन उसे कृत्रिम (आर्टिफिशियल) बोलना चाहिए या नहीं यह विचारणीय विषय है, क्योंकि यदि इसे कृत्रिम बोलते हैं तो कार, पेन आदि सभी वस्तुओं को कृत्रिम बोलना पड़ेगा क्योंकि ये सभी वस्तु मनुष्य की बनाई हुई हैं। भारतीय संस्कृति में बुद्धि के विकास के पश्चात् पञ्चकोश में विज्ञानमय कोश के बाद आनन्दमय कोश है। उस आनन्दमय कोश की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। यदि भारतीय परम्पराओं के अनुसार देखें तो यह सह-अस्तित्व, सहयोग का सिद्धान्त विकास की प्रक्रिया में चलता है। हमारी संस्कृति में बुद्धि के विकास में नर से नारायण के निर्माण का मार्ग बताया गया है। Yuval Noah Harari ने अपनी पुस्तक *Homodeus* में कहा है – homosepiens का अग्रिम स्वरूप homodeus होता है। homodeus का हिन्दी रूपान्तरण होता है – देवता। यह मनुष्य से देवता (नर से नारायण) बनने की क्रान्ति है। जब ऐसा परिवर्तन होता है तो हम बुद्धि के विकास की सीमा के ऐसे पड़ाव पर पहुँचते हैं, जिसमें बुद्धि और मन एक हो जाते हैं। जहाँ पर आनन्द ही आनन्द होता है और सच्चिदानन्द की स्थिति प्राप्त होती है।

यदि शास्त्रों की बात न भी करें तो एक लोक आचरण में इस प्रकार का विश्वास रहता है कि हमें बुद्धि का विकास करना

---

[8] उपाध्यायान् दशाचार्य्य आचार्य्याणां शतं पिता । सहस्रस्तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।। – *मनुस्मृतिः* 2.145

है । बुद्धि का विकास करके आत्मा का विकास करना है। आत्मा का विकास करके, जिस एक परमात्मा ने हमको अनेक बनाया है, फिर उसी एक में समा जाना है। यही जीवन का उद्देश्य है। आर्टिफिशियल इण्टेलीजेंस (AI) जब भ्रष्टता की स्थिति में पहुँचती है तब बड़ी भयावह स्थिति बनती है। सम्पूर्ण मानव जाति इस विषय में चिन्तित है। जिन्होंने इण्टरनेट, कम्प्यूटर, (AI) बनाया वह भी इस बात से चिन्तित है कि इससे मानवता की हानि हो सकती है, किन्तु हमारे पास वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों का ज्ञान है। जिनमें हमें इस प्रकार के विकल्पों के लिए अवसर दिए गए हैं। उन विकल्पों को समझकर जीवन में उपयोग करना है। उपनिषदों को केवल पढ़ना नहीं है, उनको समझकर उनके व्यावहारिक पक्ष को अपने जीवन में आचरण में लाना है। जब हम बुद्धि (बुद्धिमत्ता) को अपने शास्त्रों के अनुसार विकसित करके पूरे समाज के समक्ष रखकर आगे चलते हैं तो समाज को एक नई दिशा देने का प्रयास करते हैं।

ए॰आई॰ (AI) के लिए जो सम्भावित आचार संहिता रखी है। उसमें प्रमुख रूप से ए॰आई॰ (AI) के विकास की दिशा में क्या करना चाहिए? क्या नहीं करना चाहिए? कम्प्यूटर के प्रयोग से मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए? क्या नहीं करना चाहिए? यह विषय आज के समय में बहुत आवश्यक है। आज ऐसी बहुत सी संस्थाएँ हैं जो इस विषय पर कार्य कर रही हैं। अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान का भी यह प्रयास है कि हम ए॰आई॰ (AI) की आधारभूत अवधारणा को समझकर, उसके व्यावहारिक पक्ष को समझते हुए उसकी सीमाओं को तय करें। सीमाओं को तय करते हुए उन्हें विश्व के समक्ष सुझाव के रूप में प्रस्तुत करें। भारतीय शास्त्रों और भारतीय लोक परम्पराओं के अनुसार बुद्धि का विकास कहाँ तक सम्भव है इस विषय पर हमारे आज के वक्ता का वक्तव्य मील का पत्थर सिद्ध होगा।

इसके पश्चात् प्रोफेसर रमेशकुमार पाण्डेय ने प्रोफेसर बृजकिशोर कुठियाला का आभार व्यक्त करते हुए कहा – बुद्धि को तीव्र करने के और भी उपाय हैं। हम गायत्री महामन्त्र[9] जपते हैं यह बुद्धि को प्रेरित करने वाला महामन्त्र है। बुद्धि के कारण ही विष्णुगुप्त, आचार्य चाणक्य कहते थे मेरी बुद्धि मेरे पास रहे और बाकी सारी वस्तुएं चली जाएं तो भी मैं फिर से उन सभी वस्तुओं का निर्माण कर सकता हूँ। हमें उपनिषदों के सिद्धान्तों को अपने जीवन में पुनः लाने की पद्धति को अपनाना है। उपनिषदों को व्यवहार में लाने की आवश्यकता है।

तदनन्तर प्रोफेसर रमेशकुमार पाण्डेय ने इस सभा के अध्यक्ष माननीय दिनेशचन्द्र को अध्यक्षीय वक्तव्य के लिए सादर आमन्त्रित किया। माननीय दिनेशचन्द्र ने आज के वक्ता बलराम सिंह का हृदय से आभार व्यक्त करते हुए कहा – प्रोफेसर बलराम सिंह ने वैदिक मूलभूत सिद्धान्तों को आज हमारे समक्ष रखा है। उसमें एक-एक बिन्दु को बहुत सरल-सहज रूप से समझाया। जो व्यक्ति अधिक साक्षर नहीं है वह भी यदि आज का वक्तव्य सुनता, उसे भी यह विषय बहुत सरलता से समझ में आ जाता। वे प्रोफेसर बलराम सिंह से निवेदन करते हुए कहते हैं कि वह भविष्य में भी अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान के साथ जुड़े रहें। उनके पास जो ज्ञान है उसे समाज में अवश्य पहुँचाए। अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान ने ऑनलाइन संगोष्ठी के माध्यम से यह प्रयास प्रारम्भ किया है। संस्थान द्वारा इन विषयों को इसी प्रकार विधिवत् रूप से आगे बढाते हुए, तीव्रगति से, समयबद्ध योजनापूर्वक आयोजन करते हुए समाज में जन-जन तक पहुँचाना है। मुख्य वक्ता ने अपने वक्तव्य में एक वाक्य प्रयोग किया कि – दुनिया में किसी भी विचार को मानने वाला, किसी भी धर्म संस्कृति के नाम पर कोई भी विचार रखने वाला व्यक्ति हो, वह निश्चित रूप से स्वयं भी और उनकी नई पीढ़ी भी यह विषय मानने को तैयार है कि हमें प्रकृति के अनुसार जीवन जीना चाहिए। इस विषय को शरीर, मन, बुद्धि से जब हम अपने जीवन में उतारेंगे तो इससे शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा को जो लाभ मिल रहे हैं उनकी अनुभूति अवश्य ही होगी। हमारे यहाँ जीव (आत्मा) को भी

---

[9] ॐ भूर्भुव: स्व:। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न: प्रचोदयात्। – *यजुर्वेद* 3.36

परमात्मा नाम दिया गया है। "एकोऽहम् बहु स्याम"[10] अनेक से फिर एक हो जाना अर्थात् मुक्ति की स्थिति में आ जाना। मोक्ष की इच्छा बनाए रखना यह भाव मनुष्य की प्रतिदिन की जीवनचर्या में बना रहना चाहिए। इसके लिए सहज रूप से प्रकृति के अनुसार अपना जीवन चलाना चाहिए। यदि दिनचर्या से लेकर जीवनचर्या पर्यन्त यह विषय रहता है तो निश्चित रूप से मानव, महामानव बनने की स्थिति में आ जाता है। उदाहरणार्थ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने वेद का अध्ययन करके, वेद के अनुसार अपना जीवन सुगम बनाया था। दामोदर-जी ने कहा था – यदि वेद सत्य हैं । मैं और मेरा परिवार वेदानुसार जीवन को व्यतीत कर रहा हूँ। मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैं 100 वर्ष स्वस्थ रहते हुए जीवन जीऊँगा। उन्होंने अपने जीवन को 101 वर्षपर्यन्त जीवन्त, चैतन्य, स्वस्थ रहते हुए पूर्ण किया। उनकी धर्मपत्नी ने भी 100 वर्ष का जीवन पूर्ण किया। कहने का तात्पर्य यह है कि अपौरुषेय वेदों के अनुसार (प्रकृति के अनुसार) ही जीना चाहिए।

आज धीरे-धीरे भारत की जितनी भी मेधा है उस मेधा से प्रभावित होकर सभी समाज के लोगों में भारत के मूल स्वभाव (प्रकृति) वेदादि ग्रन्थों के ज्ञान को समझने की प्रतिस्पर्धा पूरे विश्व में हो रही है। मूल विषय यही है कि हम भारत की वैदिक सनातन परम्परा के लोग (हिन्दू) स्वयं अपने जीवन को वैदिक सिद्धान्तों पर आचरण करके चलाएंगे तो दूसरों को हमारे जीवन से प्रेरणा मिलेगी। क्योंकि हमारे यहाँ एक परम्परा रही है गुरु–शिष्य परम्परा। जिसमें गुरु के आचरण को देखकर शिष्य स्वयं अपने आचरण को श्रेयस्कर बनाता था। भारतीय परम्परा के जो विद्वान् हैं वे पहले भी इस ज्ञान को संसार को देते थे और आगे भी देते रहेंगे। हमारी संस्कृति ही परोपकार की संस्कृति रही है। विश्व का कल्याण हमारे पूर्वजों ने करके दिखाया। इसीलिए हम उद्घोष भी करते हैं – "धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो। विश्व का कल्याण हो, प्राणियों में सद्भावना हो।" इसी कारण भारत विश्वगुरु भी बना था। हमारी संस्कृति प्राणीमात्र चराचर जगत् अखिल निखिल ब्रह्माण्ड में जो भी है, उन सबको प्रणाम करने की इच्छा रखती है। हिमालय की कन्दराओं में आज भी हज़ारों साधक साधना (तपस्या) कर रहे हैं। उनकी अनुभूति यहाँ बैठकर नहीं कर सकते।

जिस समय श्रीरामजन्मभूमि का जनजागरण (जन आन्दोलन) चल रहा था। उस समय श्रद्धेय अशोक सिंहल के द्वारा एक स्थान पर यह सुनने को मिला था कि – क्या केवल हमारे प्रयास से ही यह मस्जिद का ढाँचा गिरा दिया गया है? तब उन्होंने कहा था हिमालय की कन्दराओं में बैठे तपस्वी साधुओं की तपस्या की सात्त्विक शक्तियों से, भारतवर्ष के आध्यात्मिक जगत् में तपस्या कर रही सभी आत्माओं के आशीर्वाद से यह ढाँचा गिरा है। उन शक्तियों की अनुभूति समाज के और लोगों को भी करनी चाहिए।

श्री जसवन्त पाठक एक ऐसे कार्यक्रम का सञ्चालन कर रहे हैं। जिसमें विभिन्न प्रकार की संस्कृति को जीने वाले लोग आते हैं। अपने-अपने विचारों के अनुसार पूजा करते हैं। फिर उनको यह अनुभव कराते हैं कि हम सब एक ही हैं, अलग नहीं हैं। अन्तर इतना ही है कि उसमें भी हवन इत्यादि की प्रक्रिया होती है जो कि थोड़े से परिवर्तन के पश्चात् प्रायः एक जैसी ही हैं। इस प्रकार जो प्रयास विभिन्न प्रकार के संस्थान, आर॰एस॰एस॰,बी॰एच॰पी॰, या वेद से जुड़ी हुई संस्थाएँ कर रही हैं, उनका प्रयास विश्व भी देख रहा है। हमें इन सब प्रयासों का उत्तम प्रभाव निश्चित रूप से देखने को मिलेगा।

उन्होंने कहा महिला में बुद्धि पुरुष की तुलना में पाँच गुना तीक्ष्ण होती है। *ऋग्वेद* में वर्णन मिलता है कि महिला पुरुष से श्रेष्ठ प्रबन्धक होती है।

भारत में जितनी भी मेधा-शक्ति हैं, उन्हें यह प्रयास करना चाहिए कि हम प्रकृति के साथ जितना भी सामञ्जस्य बिठाकर

---

[10] *छान्दोग्योपनिषद्* 6.2.3

चलेंगे, प्रकृति के अनुसार खान-पान, पहनावा करेंगे उतना ही हमारा स्वास्थ्य, मन, बुद्धि और आत्मा स्वस्थ रहेंगे। हमें अपने परिवारों में संयुक्त परिवार-व्यवस्था पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। उनमें बच्चों का निर्माण श्रेष्ठ संस्कार के साथ होता है। स्वर्गाश्रम ऋषिकेश के आश्रम में एक संन्यासी थे। वह नित्य दिनचर्या में सबको प्रणाम करते थे। यह उनकी दिनचर्या का भाग था। हमारी संस्कृति सभी का सम्मान करती है। संयुक्त परिवारों में रहकर अपने बच्चों को अच्छे संस्कार अवश्य दें। जर्मन में मुनि भारद्वाज के विमानशास्त्र के आधार पर बहुत ही शीघ्रता से सौर ऊर्जा से विमान बनाने जैसे श्रेष्ठ विषयों पर कार्य चल रहा है। हमें भी अपने शास्त्रों की वैज्ञानिकता को समझने की आवश्यकता है।

इसके पश्चात् प्रोफेसर रमेशकुमार पाण्डेय ने कहा – परिवार को संयुक्त रूप से चलाने का दायित्व घर के ज्येष्ठ जनों का होता है। उन्होंने कहा –

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः, वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति, नैतत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥
–*गरुड पुराण*, आचारकाण्ड 1.115.52

अर्थात् वह सभा, सभा नहीं, जिसमें कोई वृद्ध न हो। वे वृद्ध, वृद्ध नहीं, जो धर्म की बात नहीं बोलते हों। वह धर्म, धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो। वह सत्य, सत्य नहीं जो कपटपूर्ण हो।

प्रोफेसर पाण्डेय ने दिनेश शास्त्री को धन्यवाद ज्ञापन के लिए आमन्त्रित किया। श्री दिनेश शास्त्री ने इस सभा के मुख्य वक्ता का धन्यवाद ज्ञापन करते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट की। उसके बाद सभा के अध्यक्ष दिनेशचन्द्र, प्रोफेसर बृजकिशोर कुठियाला एवं प्रोफेसर रमेशकुमार पाण्डेय का धन्यवाद ज्ञापन किया। साथ ही सभा में जुड़े हुए सभी श्रोताओं एवं शोधार्थियों का भी धन्यवाद व्यक्त किया। शोध सहायक शिवम शर्मा ने शान्तिमन्त्र का पाठ किया और इसी के साथ सभा विसर्जित हुई।

डॉ॰ ऋतिका, शोध सहायिका
डॉ॰ मन्टु कुमार जाना, शोध सहायक

अशोक सिंहल वैदिक शोध संस्थान

(बद्री भगत झण्डेवाला टेम्पल सोसायटी, नई दिल्ली द्वारा प्रायोजित)

हुडा मार्केट रोड, ब्लॉक-बी, सेक्टर-56

गुरुग्राम - 122011, हरियाणा, भारत

मोबाइल - +91-9311847118

ई-मेल – info@ashoksinghalvedicresearchinstitute.org.in

वेबसाइट – www.ashoksinghalvedicuniversity.org.in